अमृतमहोत्सवग्रन्थमाला-19

॥ धर्मचक्रप्रवर्तनम् ॥

(बुद्धस्य जीवनमधिकृत्य रचितं संस्कृत-नाटकम्)

प्रधानसम्पादकः

प्रो. श्रीनिवासः वरखेडी

कुलपतिः

नाट्य-रचयिता

वसन्तकुमार म. भट्ट

पूर्व-निदेशक, भाषा-साहित्य भवन,

गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद (भारत)

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

संसदः अधिनियमेन स्थापितः

नवदेहली-110058

पुस्तक के विषय में

"धर्मचक्र-प्रवर्तनम्"। पांच अंक की अभिनव संस्कृत नाट्यकृति है। इसमें भगवान् बुद्ध के महत्त्वपूर्ण जीवनप्रसंगों का नाट्यात्मक निरूपण किया है। सिद्धार्थ का जन्म, संवेग की उत्पत्ति, महाभिनिष्क्रमण, कठोर तपश्चर्या, मार-विजय, मध्यम मार्ग पर आगे बढते हुए बुद्धत्व की प्राप्ति, चार आर्य-सत्य और तृष्णाक्षय से निर्वाण की प्राप्ति पर्यन्त के दर्शन की उपलब्धि एवं ऋषिपत्तन (सारनाथ) में प्रथम धर्मोपदेश यानी धर्मचक्र-प्रवर्तन की केन्द्रवर्ती घटना का आलेखन किया गया है। तत्पश्चात् उसी धर्मचक्र-प्रवर्तन की प्रवृत्ति में अवरोधक तत्त्वों का निरूपण एवं उपेक्षा, मुदिता, मैत्री तथा करुणा के सद्धर्म का उपदेश, अन्त में पुत्र राहुल की प्रव्रज्या होने के बाद, धर्मशीला यशोधरा एवं माता महाप्रजापति के प्रयासों से भिक्षुणियों का संघ में प्रवेश तक की घटनाओं को निरूपित की गई हैं। बुद्ध पलायनवादी कहे जाय या नहीं? इस विषय में बौद्ध-आकर ग्रन्थ क्या कह रहे हैं? धर्मचक्र-प्रवर्तन में प्रतिनायक देवदत्त की अवरोधक प्रवृत्तियाँ के सामने बुद्ध की ओर से कैसे प्रतिकार किया गया? तथा उसी धर्मचक्र-प्रवर्तन में धर्मशीला राहुलमाता यशोधरा का कितना अवदान था? इन सभी बिन्दुओं का नाट्यात्मक निरूपण करने में त्रिपिटक तथा जातक-कथाओं का सीधा उपयोग किया गया है। इसमें आकर ग्रन्थों के पालि-वचनों का पदे पदे संनिवेश किया गया है। यहाँ ख्यातेतिवृत्त का नवीन दृष्टि से निरूपण करने के साथ, एक शान्त-रस प्रधान नाट्यकृति को साकार की गई है। भगवान् बुद्ध के जीवनचरित पर काव्य-रचना करने की प्राय: तिरोहित हुई साहित्य-प्रवृत्ति को इस नाट्यकृति के निमित्त से पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया गया है। बुद्ध के उदात्त चरित को प्रस्तुत करने वाली शायद यह प्रथम नाट्य रचना होगी।

अमृतमहोत्सवग्रन्थमाला-19

स्वतन्त्रतायाः अमृतमहोत्सवः

॥ धर्मचक्र-प्रवर्तनम् ॥

(बुद्धस्य जीवनमधिकृत्य रचितं संस्कृत-नाटकम्)

प्रधानसम्पादकः
श्रीनिवासः वरखेडी
कुलपतिः

नाट्य-रचयिता
वसन्तकुमार म. भट्ट
पूर्व-निदेशक, भाषा-साहित्य भवन,
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद (भारत)

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
संसदः अधिनियमेन स्थापितः
नवदेहली

प्रकाशक:
कुलसचिव:
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:
(संसद: अधिनियमेन स्थापित:)
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नवदेहली-110058
ईपीएबीएक्स : 28524993, 28521994, 28524995
ई मेल : res-pub@csu.co.in
वेबसाईट : www.sanskrit.nic.in

© केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:

संस्करणम् : 2023

ISBN : 978-93-85791-70-3

मूल्यम् : रु. 350.00

मुद्रक:
डी.वी. प्रिन्टर्स्
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007

चार आर्य सत्य गिनाते हुए भगवान् बुद्ध

समर्पण-पत्रिका

प्रॉफेसर डॉ. श्रीधर्मानन्द कोसम्बीजी के करकमलों में.......

पिटकानां त्रयाणां तु प्रत्यक्षीकरणाय ये।
शाक्यमुनिमुरीकृत्य देशदेशान्तरं गताः॥१॥

अनुभूतं महत्कष्टं सत्यस्यान्वेषणाय च।
पुण्यश्लोकाः सदा वन्द्या बोधिज्ञानाभिलाषिणः॥२॥

श्रीधर्मानन्दकोसम्बी-प्रबुद्धांस्तान् प्रणम्य च।
समर्प्यत इदं तेभ्यो "धर्मचक्र-प्रवर्तनम्"॥३॥

प्रकाशकीयनिवेदनम्

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयेन बहुकालात्पूर्वमेव "लोकप्रिय-संस्कृत-ग्रन्थमाले"ति नाम प्रकाशन-योजनायां नैके ग्रन्थाः प्रकाशिता वर्तन्ते। अनया योजनया प्रौढानां नवोदितानाञ्च संस्कृतकवीनां समवायेन यानि यानि काव्यानि नाटकानि च विरच्यन्ते, तेषां परीक्षणानन्तरं प्रकाशनं सोत्साहं क्रियते। येन संस्कृत-भाषासाहित्यं सदैव समृद्धतां प्राप्नोति। इतः पूर्वं श्रीधर्मानन्दकोसम्बीप्रणीतस्य 'बोधिसत्त्वे'ति मराठीनाटकस्य (डॉ. प्रफुल्ल गडपालकृतस्य) संस्कृतानुवादः राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानत (2014) एव प्रकाशितो वर्तते। पञ्चसप्ततितमाद् वर्षात् प्राक् भारतवर्षेण यद् बहुमूल्यं स्वातन्त्र्यं समधिगतं तत् संमानयितुं वर्षेऽस्मिन् योऽमृतमहोत्सवो वरीवर्तते। तमधिकृत्य केन्द्रीय-संस्कृत-विश्वविद्यालयेन नवीनैका "अमृतमहोत्सवग्रन्थमाला" समारब्धा। तस्यामेव ग्रन्थमालायामिदं "धर्मचक्र-प्रवर्तन" मिति संस्कृत-नाटकम् एकोनविंशतितमपुष्परूपेण संग्रथनाय प्रकाश्यते।

यद्यपि रामायण-महाभारतादीनामाख्यानोपाख्यानेभ्यः कथानकं गृहीत्वा नैकानि काव्यादीनि युगे युगे प्रणीयन्ते। भारते वर्षे ब्राह्मण-संस्कृत्या सहैव प्रादुर्भूता या श्रमण-संस्कृतिरस्ति, तस्याः धर्म-संस्थापकानां बुद्ध-महावीरादीनां जीवनचरितान्यपि प्रेरणाप्रदायिनो वर्तन्ते। एतादृशेषु ख्याततेतिवृत्तेषु यदा नवीनानां व्यङ्ग्यार्थानां व्यञ्जकानां च संनिवेशः क्रियते, तदा ते ख्यातेतिवृत्ता अपि, यथा मधुमासे प्राचीना द्रुमा अपि नवा इवाभान्तीति, तद्वद् बुद्धस्यापि जीवनचरितं पुराणप्रथितमपि सदैव नावीन्यं भजत इति निश्चप्रचम्। यद्यपि भगवतो बुद्धस्य धर्मोपदेशोऽत्र संस्कृतभाषा-निबद्धेन नाटकरूपेण प्रस्तूयते, तथापि तत्सर्वं पालित्रिपिटकादेव संगृहीतः। (बहु स्वल्पमेव कल्पनाजनितं वस्त्वत्र संनिविष्टं दृश्यते।) एवञ्च जिज्ञासूनां कृते मूलस्रोतरूपेण पालिवचसामपि नाटकेऽस्मिन् अत्र तत्र सर्वत्र साक्षात्कारो भविष्यत्येव।।

प्रबुद्धेन बुद्धेन मुदिता-मैत्री-करुणादीनां यो धर्मोपदेशः क्रियते स्म, तत्तु सार्वदेशिकः सार्वकालिकश्च वर्तते। मूलतो भारतीयोऽयं बुद्धधर्मो यदा निखिलेऽपि विश्वस्मिन् बहुभिरन्यैर्देशैरङ्गीकृतस्तदा नाट्यकलाया व्याजेन तस्य पुनरपि जयघोषः भारतादेव जायेतेति वयं कामयामहे। भारतात् तिरोहितप्रायोऽप्ययं धर्म भारतीयानां

मनस्सु विलसतितमामिति सिध्यत्यस्य नाटकस्य प्रणयनेनापि। आतंकवादानां विश्वयुद्धादीनां च या विभीषिका वर्तमाने जगति मनोवेदनां जनयति, तादृशे कराले काले प्रॉफेसर डॉ. वसन्तकमार म. भट्टेन विरचितस्यास्य नाटकस्य प्रकाशनमुपकाराय भवेदिति आशास्यते। केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः प्रो. वसन्तकुमारेभ्यो नैकान्यभि-नन्दनानि वितनोति।

(प्रो. श्रीनिवासवरखेड़ी)
कुलपतिः

प्ररोचना

एकचित्ततितिरद्वयवादिन्नत्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः॥

(–नैषधचरिते 21-87 नलकृता बुद्धस्तुतिः)

भगवान् बुद्ध का चरित भारतीय महानायकों में अनन्यसाधारण है। नास्तिक दर्शन के प्रणेता बुद्ध महाविष्णु के अवतार के रूप में पूजित हैं। यह भी उन के नानाविरुद्धधर्माश्रय ईश्वरत्व की एक विच्छित्ति है। राम, कृष्ण, परशुराम आदि अवतार धर्म की स्थापना के लिए आयुध धारण कर दुष्टदलन करते हैं तो बुद्ध अहिंसा और करुणा के मार्ग पर धर्मचक्र का प्रवर्तन कर, मारादि दुष्ट प्रवृत्तियों पर विजयपूर्वक, त्रिविध दुःखों के प्रशमन का उपदेश प्रदान करते हैं।

"रामादिवत् वर्तितव्यं, न रावणादिवत्" का कान्तासम्मित उपदेशक काव्य अपने श्रव्य एवं दृश्य दोनों रूपों में भारतीय नायकों की चरित-गाथा का आश्रय ले कर, आदिकाव्य के प्रणयन से ले कर आज तक निरन्तर प्रवर्तित हो रहा है। संस्कृत वाङ्मय में नानारससमन्विता रामकथा पर आधृत काव्य एवं नाट्यकृतियों की तुलना में अन्य अवतारपुरुषों के चरित पर आधारित रचनाओं की संख्या तुलनात्मक रूप से न्यून रही है और भगवान् बुद्ध के शान्तरसाश्रित चरित पर तो अङ्गुलिगण्य दृश्य-श्रव्य काव्य ही रचे गये हैं।

व्याकरणशास्त्र के अधीती विद्वान् आचार्य वसन्तकुमार भट्ट ने महात्मा बुद्ध के जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना को अपनी नाट्यकृति का आधार बना कर बुद्धचरित को प्रकाशित किया है। गर्भितार्थ-प्रकाशकता- न्याय से प्रकृत नाटक का अभिधान- "धर्मचक्र-प्रवर्तनम्" सर्वथा सुसंगत है। नाटक की कथावस्तु प्रख्यात है और इसकी प्रामाणिकता को समृद्ध बनाने के लिए उपलब्ध सभी प्रकार की सामग्री का सूक्ष्म विश्लेषण नाट्यकार ने किया है। डॉ. भट्ट पाण्डुलिपि-विज्ञान के अप्रतिम अध्येता हैं, अतः उनके लेखन में भगवान् बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों पर उपलब्ध ग्रन्थों के साथ ही ऐतिहासिक शिलालेख आदि के पाठानुसन्धान का तटस्थ वैज्ञानिक धरातल सहजतया स्वीकृत हुआ है। तिपिटक, जातक कथाओं तथा अन्य स्त्रोतों से बुद्धचरित और बुद्धवचन के सन्दर्भ नाटक की कथावस्तु में मात्र प्रतिबिम्बित ही नहीं होते हैं, अपितु, अनेकत्र संवादयोजना में उनका यथावत् समावेश डॉ. भट्ट के विन्यास-कौशल को

रेखाङ्कित करता है। कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि नाट्यकार ने बौद्ध वाङ्मय के विशाल साहित्य-सुधाम्बुधि में गम्भीर अवगाहन कर महात्मा बुद्ध का जीवनवृत्त, उनका महापुरुष-व्यक्तित्व और धर्मचक्र-प्रवर्तक के रूप में बुद्ध के लोककल्याण-कारी उपदेश- त्रिरत्न अपनी नाट्यकृति में खचित कर दिये हैं।

शान्तरस के मूर्तिमान् विग्रह भगवान् बुद्ध की कथा पर आश्रित नाट्यकृति "धर्मचक्र-प्रवर्तनम्" का अङ्गी रस स्वाभाविकतया शान्त रस है। शान्त की रस रूपता पर संस्कृत आलंकारिकों ने गम्भीर विवेचन किया है। सामान्यतः व्यभिचारिभावों में प्रथम स्थान पर निर्दिष्ट निर्वेद जब स्थायिभाव में परिणत हो जाता है, तो शान्तरस के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। प्रस्तुत नाटक के भरतवाक्य में प्रयुक्त "विहातुं तां तृष्णाम्" और इसके पूर्व-"तृष्णातुरो न कोऽपि स्याद्, बुद्धस्य शरणं गते।। (5-13) "में जिस तृष्णाक्षय की शुभाशंसा है, उसके सन्दर्भ में आचार्य आनन्दवर्द्धन का मत उद्धरणीय बन जाता है:-

"शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति, नैतावतासावलोकसामान्यमहानुभाव-चित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शक्यः।। (ध्वन्यालोकः, तृतीय उद्योत)

नाट्यकार ने अपनी कृति में शान्तरस के अङ्गी स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ ही अङ्ग रूप में अन्य रसों का यथास्थान विनिवेश किया है। विशेषतः हास्य, करुण और अद्भुत रस के प्रसङ्ग उल्लेखनीय हैं, जहाँ कवि का नाट्यकौशल नाटक की रसनीयता में वृद्धि करता है।

मेरा दृढ विश्वास है कि आचार्य वसन्तकुमार भट्ट की यह नाट्यकृति न केवल बुद्धचरित के जिज्ञासु जनों, अपि तु सामयिक विश्वशान्ति की सार्वजनीन मङ्गलकामना के स्वरों को मनस्तोष प्रदान करेगी।।

अक्षय तृतीया, | विद्वानों का वशंवद
विक्रमाब्द- 2080 | **बालकृष्ण शर्मा**

सेवानिवृत्त संस्कृत आचार्य,
पूर्व कुलपतिश्री, विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जयिनी

अस्मदीयं निवेदनम्

नालागिरिं गजवरं अतिमत्तभूतं
दावाग्गि चक्कमसनीव सुदारुणन्तं।
मेत्तम्बुसेक विधिना जितवा मुनिन्दो
तं तेजसा भवतु ते जयमंगलानि।। (जयमंगलानि-गाथा, ३)

आजादी के अमृत-वर्ष महोत्सव, 2022 वर्ष के उपलक्ष्य में इस धर्मचक्र-प्रवर्तन नाटक का प्रणयन होना सविशेष आनन्ददायी है। भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन आज से ढाई हजार वर्ष पहले किया था उनकी पावनकारी संस्मृति में हम भारतवासियों ने राष्ट्रध्वज में उनके धर्मचक्र का चिह्न अंकित किया है। उसी धर्मचक्र-प्रवर्तन की घटना को नाटक का प्रधान विषय बना कर, संस्कृत भाषा-निबद्ध यह नाटक लिखा गया है! जैसा कि इस नाट्यकृति के शीर्षक से सूचित होता है- इसमें बुद्ध के सद्धर्म का परिचय तो होगा ही होगा, लेकिन तदुपरान्त, भगवान् बुद्ध ने ऋषिपत्तन से शुरू किया धर्मचक्र-प्रवर्तन क्या केवल मार-विजय करने मात्र से ही सर्वथा साकार हुआ था? या फिर, इस धर्मचक्र का प्रवर्तन होने के बाद, अन्यान्य संकटों का भी अतिक्रमण करने के पश्चात् ही हांसिल किया गया था? और, इसी युग-प्रवर्तक घटना में राहुलमाता यशोधरा की भी कोई भूमिका रही होगी या नहीं? जैसे कौतुकों से प्रेरित सहृदय साहित्यरसिकों को मैं इस नाट्यकृति का रसास्वाद करने का अनुरोध करता हूँ।।

नाटक के प्रेक्षक एवं पाठक के मन में बौद्ध दर्शन एवं साहित्य से जुडे कतिपय बिन्दुओं पर विशेष जिज्ञासा जागृत होगी ही, जैसे कि- जातक-कथाएं, दश पारमिताएं, त्रिपिटक-साहित्य, हीनयान एवं महायान, निर्वाण का स्वरूप, मार का सूक्ष्म परिचय इत्यादि। उसके लिए परिशिष्ट-1 में ऐसे विषयों की आवश्यक प्राथमिक जानकारियाँ दी गई है। परिशिष्ट-2 में पालिभाषा-निबद्ध जातक-अट्ठकथाओं के आवश्यक कुछ अंश दिये हैं। तथा, भगवान् बुद्ध से जुडे ऐतिहासिक शिल्पांकन, जैसे कि-बोधिवृक्ष का शिल्प, स्तूप, धर्मचक्र का शिल्प, स्तम्भलेख, बुद्ध की बहुविध मूर्तियाँ, दो दो अंगुलियाँ उठा कर सिद्धार्थ के भावि-जीवन का फलादेश करने वाले ज्योतिर्विदों का शिल्प इत्यादि को भी परिशिष्ट-3 में दिये हैं, जो बौद्ध-संस्कृति के ऐतिहासिक स्मारक चिह्न हैं। नाटक के मूल पाठ के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों के मूल पालि पाठ यानी त्रिपिटकों के वचन, धम्मपद,

ललितविस्तर तथा बुद्धचरित महाकाव्य के शब्दों को ससन्दर्भ पादटिप्पणियों में अनेक स्थान पर उद्धृत किये हैं। तदुपरान्त, नाटक के साथसाथ बुद्ध के जीवनचरित से सम्बद्ध त्रिपिटकों के मूल वाक्यों का (पालि-पाठ) के साथ साक्षात् परिचय भी प्रेक्षक एवं पाठकवर्ग को मिलता रहेगा। इस नाटक के व्याज से भगवान् बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाएं एवं उनके द्वारा प्रवेदित "सद्धर्म" (मुदिता-मैत्री-करुणा-उपेक्षा) की महत्ता भी अवगत होगी। एवमेव, बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तनम् में यशोधरा का कैसे, क्या सूक्ष्म अवदान रहा है- उसकी ओर भी ध्यान आकृष्ट होगा।

इस अवसर पर मैं सब से पहले बौद्ध धर्म के मर्मज्ञ एवं विद्यानुरागी पुण्यश्लोक श्री धर्मानन्द कोसाम्बी जी को श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करता हूँ। मुझे उनके ग्रन्थों से बहुत उपयोगी सामग्री प्राप्त हुई है, तथा मेरी अनेक जिज्ञासाओं का शमन भी उन्हीं के ग्रन्थों से हुआ है। मैं यह नाटक-कृति उनके करकमलों में सादर समर्पित करता हूँ। तथा बौद्धधर्म के अनेक ग्रन्थों के अद्वितीय पाठोद्धारक एवं अनुवादक त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन जी को भी सादर नमस्कार करता हूँ।। गुरुकल्प प्रॉफेसर श्री राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने बौद्ध संस्कृति में विकसित हुए संस्कृत नाटक एवं नृत्यादि की नयनोन्मीलन करनेवाली चर्चाएँ अनेक बार की हैं, वे भी मेरे लिए प्रेरणादायिनी सिद्ध हुई हैं। मैं उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं आभारी हूँ- पूर्व-कुलपति श्री प्रो. श्रीबालकृष्ण शर्मा जी (विक्रम युनिवर्सिटी, उज्जयिनी) का, जो कालिदास-साहित्य एवं अलङ्कारशास्त्र के मर्मज्ञविद्वान् हैं। कहीं दशकों से वे मेरे स्पृहणीय शास्त्रसखा बने हुए हैं। उन्होंने इस नाटक को अधिक सुन्दर बनाने के लिए अनेक बार सूचन किये हैं तथा आत्मीयता पूर्वक इस नाटक की "प्ररोचना" लिख कर मेरी पहली मौलिक रचना का गौरव बढ़ाया है। तथा नाटक को समझने का समुचित परिप्रेक्ष्य उद्घाटित किया है। मैं उनके सुहृद्-कर्म का विनम्रतापूर्वक ऋण-स्वीकार करता हूँ। प्रो. सूर्यप्रकाश व्यास, उज्जयिनी का भी मैं आभारी हूँ। वे बौद्धधर्म के सूक्ष्म अध्येता एवं बौद्धानुरागी विद्वान् है। उन्होंने इस नाटक का सर्व प्रथम हिन्दी प्रारूप पढ़ कर, मुझे खूब प्रोत्साहित किया था एवं आवश्यक जानकारियाँ समय-समय पर देतें रहे हैं। उसी तरह से प्रॉफेसर श्री रमेश प्रसाद, जनरल सेक्रेटरी, पालि टेक्स्ट ओफ इन्डिया, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि., काशी ने भी त्रिपिटकों के विविध वाक्यों के सन्दर्भों की जानकारियाँ देकर लाभान्वित किया है। उनके प्रति मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। विविध सहयोग दे कर जिन्होंने मुझे उपकृत किया है

उनमें, मेरे धर्मपत्नी श्रीमती वृन्दा का भी अभिवादन करना आवश्यक है, मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। उनके अजस्र सहयोग से ही मेरा विद्या-व्यासंग सदैव अक्षुण्ण बना रहता है। मेरी पुत्री कृष्णा एवं पुत्र विश्वेश भी मेरे विद्याकार्यों में सोत्साह रुचि दिखाते हैं। मैं उन तीनों का भूरिशः साधुवाद करता हूँ।

श्रीधर्मानन्द कोसम्बी जी के मराठी "बोधिसत्त्व" नाटक का संस्कृतानुवाद करने वाले बुद्धानुरागी डॉ. श्री प्रफुल्ल गडपाल, श्रुतज्ञान के संवर्धक श्रीउमंगभाई शाह तथा विद्यानुरागी शेठश्री धीरेन भाई (सी.ए. गालियाकोटवाला प्रा.लि. कम्पनी,) मुंबई ने अनेक पुस्तक उपलब्ध करवा कर मित्रकर्म किया है। मैं उन सब को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। संगीत-नाट्यकला की उपासिका श्रीमती भूमिका त्रिवेदी, छन्दःशास्त्रवेत्ता डॉ. मनःसुख मोलिया, डॉ. कमलेशभाई चोक्सी, डॉ. साधुश्री रसिकविहारी स्वामी, ध्यानी डॉ. हसमुख ठाकर, डॉ. नरेन्द्र पण्ड्या, डॉ. अमृतलाल भोगायता, डॉ. उत्तमसिंह, डॉ. धर्मेन्द्र भट्ट, डॉ. कालिन्दी पाठक, डॉ. अंजना महेता इत्यादि अनेकों ने इस नाट्यलेखन की प्रक्रिया में निरन्तर उत्साहवर्धन किया है। मुखपृष्ठ का चित्र बनाने वाले ओट्टापलम्, पलक्कड, केराला के नवोदित चित्रकार टी.एस. सानु (देव क्रियेशन) भी धन्यवाद के पात्र है। इस आधुनिक नाट्यकृति के प्रकाशन कार्य में केन्द्रीय संस्कृत युनिवर्सिटी, दिल्ली के परम संमान्य विद्वज्जनानुरागी यशस्वी कुलपतिवर्य प्रॉफेसर डॉ. श्रीनिवास वरखेडी जी को भी सादर धन्यवादपूर्वक नमस्कार ज्ञापित करता हूँ। उन्होंने इस नाटक के प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त करके उपकार किया है। आज, इस नाटक के प्रकाशन के अवसर पर एक अभ्यर्थना व्यक्त करता हूँ- संस्कृत साहित्य में बुद्धविषयक काव्य-साहित्य रचना करने की प्रवृत्ति, जो महाकवि अश्वघोष के बाद, प्रायः तिरोहित सी हुई दिखती है, वह पुनरुज्जीवित हो। इसी अभ्यर्थना के साथ इस "धर्मचक्र-प्रवर्तनम्" नाटक को मैं सहृदय दर्शकवृन्द के सामने विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत करता हूँ।।

05, मई, 2023 — वसन्तकुमार म. भट्ट
2567 वीं त्रिरत्न-प्रदायिनी बौद्ध पूर्णिमा — v.k.bhatt53@gmail.com
A-2, सुरभि एपार्ट; सभाष सोसाइटी,
नवरंगपुरा, अहमदाबाद-380009

अनुक्रमणिका

समर्पण *iii*

(क) प्रकाशकीय निवेदन *v*

(ख) प्ररोचना -प्रो. बालकृष्ण शर्मा जी, उज्जयिनी *vii*

(ग) अस्मदीयं निवेदनम् -वसन्तकुमार म. भट्ट *ix*

1. प्रस्तावना। पृ. 1-63

भूमिका, (1) गौतम बुद्ध के जीवन की कुछ आवश्यक जानकारियाँ, पृ. 3, (2) प्रस्तुत नाटक के कथानक का परिचय, पृ. 7, (3) प्रस्तुत नाट्यकृति की रचना के प्रेरक-बिन्दु, पृ.38, (4), धर्मचक्र-प्रवर्तन का नाटक के रूप में परिचय, पृ. 38, (5) बुद्ध विषयक नाट्य कृतियों का सिंहावलोकन, पृ. 47, (6) नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त एवं प्रस्तुत नाट्यकृति का शान्तरस, पृ. 56, (7) बुद्ध के जीवन को नाट्य में रूपान्तरित करने के लिए किन बिन्दु पर ध्यान रखना था? -57-63.

2. नाट्यकृतिः। पृ. 64-133

नान्दी पद्यम्-प्रस्तावना, विष्कम्भकः पृ. 64-68

प्रथमोऽङ्कः-भाविकथनं नाम प्रथमोऽङ्कः पृ. 68-76

द्वितीयोऽङ्कः-महाभिनिष्क्रमणं नाम द्वितीयोऽङ्कः पृ. 77-90

तृतीयोऽङ्कः-धर्मचक्र-प्रवर्तनं नाम तृतीयोऽङ्कः पृ. 91-108

चतुर्थोऽङ्कः-सद्-धर्मोपदेशः नाम चतुर्थोऽङ्कः पृ. 109-119

पञ्चमोऽङ्कः-भिक्षुणीनां संघे प्रवेशो नाम पञ्चमोऽङ्कः पृ. 120-133

3. परिशिष्ट-

(1) त्रिपिटकादि में बुद्ध का जीवन एवं दर्शन पृ. 134-201

(1) सिद्धार्थ से बुद्ध बनाने वाली विचारधारा एवं उग्र तपश्चर्या, पृ. 134, (2) मार-विजय का स्वरूप पृ. 142, (3) पिटकों में वर्णित धर्मचक्र-प्रवर्तन का प्रसंग, पृ. 146, (4) प्रतिनायक के रूप में देवदत्त की प्रवृत्तियाँ, पृ. 151, (5) बुद्ध के कतिपय निर्णयों से संलग्न विवाद, पृ. 156, (6)

बोधि एवं निर्वाण का स्वरूप, पृ. 164, (7) मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा-नाम के चार ब्रह्म-विहार का स्वरूप, पृ.167, (8) पञ्चशील के सिद्धान्तों का पाठ, पृ. 172, (9) बौद्धदर्शन के त्रिपिटक, पृ. 173, (10) बौद्ध जातक-कथाएँ, पृ. 174, (11) महायान एवं हीनयान, पृ. 177, (12) दश पारमिताएँ, पृ. 182, (13) त्रिपिटकों की पाठ-सुरक्षा के लिए चार संगीतियाँ, पृ.185, (14) सिद्धार्थ नाम की ऐतिहासिकता एवं बुद्ध के लिए नामान्तर, पृ. 191, (15) बुद्ध के प्रधान शिष्यओं का परिचय, पृ. 193-201.

परिशिष्ट-(2) जातकट्ठकथा के कुछ अंश। पृ.-202-211

परिशिष्ट-(3) चित्रशाला:- पृ.-212-223

(1) लुम्बिनीकाशिलालेख, (2) बोधिसत्त्व को जन्म दे रही महामाया का शिल्प एवं चित्र, (3) ज्योतिषियों के द्वारा दो दो अंगुलियाँ उठाना, शिल्प, (4) धर्मचक्र का शिल्प, (5) बोधिवृक्ष का शिल्प, (6) स्तूपों के चित्र, शिल्प, सारनाथ एवं सांची, (7) त्रिरत्न का शिल्पांकन, (8) अमिताभ बुद्ध, (9) 24 पूर्व बुद्धों की शृङ्खला, (10) अवलोकितेश्वर बुद्ध, (11) चार आर्य सत्य की हस्तमुद्रा में बुद्ध (12) पद्मपाणि (अजन्ता की गुफा), (12) सारिपुत्त का चित्र, (13) गिरनार पर्वतस्थित अशोक का शिलालेख।

परिशिष्ट-(4) बौद्ध साहित्य एवं प्राचीन भारत के राजवंश पृ. 224-233

5. सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूचि पृ. 234-237

॥ पात्रसृष्टि:॥

1. सूत्रधार:-नाटकस्य स्थापक:। (बोधिसत्त्व: शशपण्डित:)
2. पारिपार्श्वक:-सूत्रधारस्य सहायक: (उदबिडाल:)
3. विदूषक:-नाम्ना "विवेचक:", (कपिमुख:)।
4. इन्द्र:-देवराज:। (शशपण्डितस्य परीक्षक:, ब्राह्मणवेशधारी)
5. सिद्धार्थो गौतम:-नायक:, राज्ञ: शुद्धोदनस्य पुत्र:। (गौतम बुद्ध:, शास्ता, तथागत:)
6. यशोधरा-सिद्धार्थस्य धर्मपत्नी, पुत्रस्य राहुलस्य च जननी।
7. राहुल:-सिद्धार्थ-यशोधरयो: पुत्र:।
8. शुद्धोदन:-कपिलवस्तु-नगरस्य गणनायको राजा।

9. महामाया-राज्ञः शुद्धोदनस्य प्रथमा पत्नी, यस्यां च सिद्धार्थो जातः।

10. महाप्रजापतिः-शुद्धोदनस्य द्वितीया पत्नी, (महामायाया कनिष्ठा भगिनी), नन्दस्य जननी। सिद्धार्थस्य च धात्री माता।

11. देवदत्तः-सिद्धार्थस्य द्वेषी प्रतिनायकः।

12. असितः-ऋषिः, आर्षद्रष्टा (नालकस्य मातुलः)

13. उदायी-राज्ञः शुद्धोदनस्यामात्यः।

14. छन्नकः-सिद्धार्थस्य रथस्य सारथिः।, कंथकः-सिद्धार्थस्य अश्वः।

15. ज्योतिर्विदः-अष्टौ संख्यकाः।

16. कौण्डिन्यः-ज्योतिर्विदामन्यतमः। येन भणितम्-सिद्धार्थः परिव्राजक एव भविष्यति।

17. माण्डव्यः-ज्योतिर्विदामन्यतमः। येन भणितम्-सिद्धार्थश्चक्रवर्ती सम्राडेव भविष्यतीति।

18. विश्वामित्रः-लिपिशालाया अध्यापकः, (अपर नाम-सर्वमित्रः)

19. विनीता, सुनीता च-राजप्रासादस्य चेटीद्वयम्।

20. पंचवर्गीयाः भिक्षवः-गौतम-बुद्धस्य प्रथमे धर्मोपदेशग्रहीतारः।1. कौण्डिन्यः, 2. महानामः, 3. अश्वजितः, 4. भद्रिकः, 5. बाष्पश्च।

21. शारिपुत्रश्च, मौद्गल्यायन आनन्दश्च-गौतमबुद्धस्य त्रयः शिष्याः।

22. सुजाता-कापि सुकन्या, यया सिद्धार्थाय पायसं प्रदत्तम्।

23. पूर्णा-तस्याः सुजातायाः दासी

24. बिम्बिसारः-मित्रत्वेन समागतो राजगृहस्य राजा।

25. द्वौ च नगरपरीक्षकौ। (बिम्बिसारस्य राजगृहे)

26. विश्वजित्-गौतमबुद्धाद् उपदेशं ग्रहीतुं समागतो राजा।

27. मातलिः, इन्द्रस्य सारथिः

28. दानवगणः। (इन्द्रेण सह योधनाय समागतः)

29. मारः (मारकः)-सिद्धार्थगौतमस्य तपश्चर्यायां विघ्नकर्ता (अ-लौकिकः प्रतिनायकः)

30. भूतगणः, नर्तक्यः, मारसेना।

31. ब्रह्मदेवः-मैत्री-मुदिता-करुणा-उपेक्षानां देवीकृतं स्वरूपम्।

32. पूर्णः-गौतमबुद्धस्य शिष्यः, मैत्रीप्रसारयितुं संनद्धो भवति।

33. चन्द्र-किन्नरयुगलम्।

34. राजा (कश्चिद् अज्ञात नाम, रूपान्तरेण देवदत्तः)-चन्द्र-किन्नरस्य हन्ता।

----000----

॥ "धर्मचक्र-प्रवर्तन" नाटक की प्रस्तावना॥

भूमिकाः- भगवान् बुद्ध अद्वितीय भारतरत्न है। उनका प्रादुर्भाव दुनिया के इतिहास में विरलतम घटना होने के साथ साथ, मनुष्य-प्रजा को हमेशा के लिए मिला एक अमोघ आशीर्वाद है। ईसा पूर्व 563 में, कपिलवस्तु नगर में, शाक्यवंश के क्षत्रिय राजा शुद्धोदन के घर राजकुमार सिद्धार्थ का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने समग्र संसार को जरा, रोग एवं मरण के अ-निवार्य दुःख में फंसा हुआ पाया। अतः उन्होंने गृहत्याग किया। दुःख का कारण खोजने के लिए एवं उससे सदा काल के लिए मुक्ति पाने का उपाय खोजने के लिए उन्होंने घोर तपश्चर्या की। जीव को (=विज्ञान की धारा को, पंचस्कन्ध रूप जीव को) शरीर के बन्धन में डालने वाला तत्त्व क्या है?-इसका गहराई के साथ चिन्तन किया और "तृष्णा" को पहचान लिया। यह तृष्णा ही मूल में "गृहकारक" है, अर्थात् जीव मात्र को शरीर रूप पिंजर में बंधक बनाती है। इस तृष्णा का हमेशा के लिए विच्छेद करना ही दुःखमुक्ति का उपाय है ऐसा बोधिज्ञान प्रकट हुआ और वे सिद्धार्थ से "सम्यक् संबुद्ध" बने। उन्होंने मनुष्य-प्रजा को इसका उपदेश गाँव गाँव में निरंतर घूम कर किया। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी अनन्त तृष्णा से प्रेरित होकर, एक-दूसरे का द्वेष करता है, और दुष्कृत्य करने से भी बाज नहीं आता है। परिणामतः ईर्ष्या, वैर, क्रोध से प्रेरित होकर, प्रजा हिंसाचार में भी पड़ती है। इन सब का उन्मूलन करवाने के लिए उन्होंने मैत्री, मुदिता, करुणा (=तज्जन्य अहिंसा), उपेक्षा आदि षट् भावनाओं को विकसित करने को कहा। बहुजनसुखाय, बहुजनहिताय ऐसे सद्धर्म का प्राकट्य कदाचित्, कथंचित्, कर्हिचित्, कुत्रचित् ही होता है। भारत में पैदा हुआ यह"सद्धर्म" विश्व-समस्त के मनुष्यों के लिए सदैव स्मरणीय है, संकीर्तनीय है।

भगवान् बुद्ध ने लम्बे समय तक अपने जीवन में जो सब से महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की है वह है-"धर्मचक्र-प्रवर्तन" की, उसीको लक्षित करके प्रस्तुत नाटक की रचना की गई है। इसमें उनके जन्म से लेकर, देवदत्त के द्वारा शरविद्ध हुए पक्षी का संरक्षण, कदाचित् नगरचर्या पर निकलने पर जरा, व्याधि और मरण से सीधा साक्षात्कार होना, परिणामतः संवेग की उत्पत्ति और गृहत्याग अर्थात् महाभिनिष्क्रमण करना, ततः बोधि-प्राप्ति के लिए तपश्चर्या, मारविजय, बुद्धत्व की प्राप्ति, तदनन्तर ऋषिपत्तन (सारनाथ) में प्रथम धर्मोपदेश, जिसको

"धर्मचक्र-प्रवर्तन" कहा गया है। इस धर्मचक्र-प्रवर्तन की घटना की पूर्व भूमिका में संवेग, गृहत्याग, तपश्चर्यादि रहें हैं। किन्तु धर्मचक्र-प्रवर्तन का जो कार्य उन्होंने 45 वर्षों तक किया, वह सर्वथा निरवरोध भी नहीं था। देवदत्त जैसा प्रतिनायक बहुत लम्बे समय तक, बहुविध प्रयासों से उस जनकल्याण के महनीय कार्य में निरंतर बाधा पहुँचाता रहा था। इन सब प्रसंगों को ध्यान में लेते हुए इस नाटक का केन्द्रीभूत विषय धर्मचक्र-प्रवर्तन निर्धारित किया गया है। बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद, उसी समय प्रथम पंच वर्गीय भिक्षुओं के संघ की रचना, तत्पश्चात् अनेक स्थानों पर विचरण करते हुए मैत्री, करुणा, मुदितादि का उपदेश, तदन्तर्गत कपिलवस्तु में आ कर पुत्र राहुल की प्रव्रज्या एवं माता गौतमी प्रजापति तथा पत्नी यशोधरा को प्रव्रजित होने की अनुमति देना। इससे बौद्ध संघ में भिक्षुणियों का प्रवेश शुरू हुआ और उसीसे बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन का चरमोत्कर्ष सिद्ध हुआ।

भगवान् बुद्ध ने समग्र संसार को दुःखों में डूबा हुआ देखा और उन्होंने गृहत्याग, घोर तपश्चर्या, मार के साथ मनोयातनापूर्ण सूक्ष्म युद्ध करके बुद्धत्व प्राप्त किया। यह सिद्धि अनितरसाधारण थी एवं उनके द्वारा किये गये "धर्मचक्र-प्रवर्तन" का कार्य बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत रूप से मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर लेना एक वैयक्तिक सिद्धि तक सीमित रहेगी। किन्तु बुद्धत्व की प्राप्ति होने के बाद, सद्धर्म का प्रवर्तन करना ही बहुजन हिताय परमोपकारक हो सकता था। बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन की अपूर्व एवं अद्वितीय ऐतिहासिक घटना में चार बाधक तत्त्व प्राधान्येन दृष्टिसमक्ष आ रहे हैं:-(क) पारलौकिक दृष्टि से मार के साथ हुआ युद्ध, (ख) बुद्ध की हत्या करने और करवाने के देवदत्त के हिंसक प्रयास, (ग) उसकी कूटनीति से बौद्ध-संघ में फुट पडा कर, शिष्यों को ले जाना और (घ) बुद्ध के समकाल में स्त्रियों की सुरक्षा के विषय में प्रवर्तमान सामाजिक स्थिति को देखते हुए, संघ में नारियों को प्रवेश की अनुमति देने से पहले उनके मन में रही हिचकिचाट। कालक्रम से इन अवरोधों का क्रमशः विगलन होता चला, जिससे धर्मचक्र-प्रवर्तन का महान् कार्य अन्ततो गत्वा सम्पन्न होता है। बस, इन्हींको प्रस्तुत नाटक का मुख्य विषय बनाया गया है।।

प्रस्तुत नाटक का इतिवृत्त "ख्यात" है। कथानायक के चरित में कालचक्र के घूमने के साथ तत्सम्बद्ध इतिहास के अलावा अनेक चमत्कारिक एवं मिथकीय घटनाएँ भी जुडती चली हैं। इतिहास-पुरुष का जीवन दिव्यताओं से भर देने का उपक्रम भी अनेक शताब्दिओं के विस्तृत फलक पर फैला हुआ है। इससे बुद्ध का जो जीवन प्रसिद्धि में आया है उससे हमारे सामने एक "इतिहास-प्रसिद्ध

करुणाशील बुद्ध", दूसरे (बोधिसत्त्व के रूप में रहे) "मिथकीय बुद्ध", तीसरे "तर्क-प्रिय, चिन्तनशील बुद्ध", चौथे "चमत्कारिक बुद्ध" और पाँचवें "उपदेशक-बुद्ध" (जिसको "शास्ता" नाम दिया गया है), ये पांच स्वरूप प्रस्तुत होते हैं। अतः नाटक के कथापट में कहाँ पर इतिहास है, कहाँ मिथकीय अंश है, कहाँ पर उनकी तर्कप्रियता प्रतिबिम्बित होती है, कहाँ शास्ता का स्वरूप तथा कहाँ चमत्कारिक स्वरूप प्रकट होता है? यह समझने के लिए, प्रारम्भ में उनके जीवनचरित का आवश्यक परिचय प्राप्त कर लेना उपकारक होगा। विद्यमान बौद्ध साहित्य में त्रिपिटकों से प्राप्त होने वाली जानकारियाँ को प्राधान्य देते हुए, और गौण रूप से पुराणशैली वाला ललितविस्तर, जातक-अट्ठकथाएँ तथा महाकवि अश्वघोष द्वारा प्रणीत बुद्धचरित महाकाव्य को इस नाटक की आधार-सामग्री बनाई गई हैं। इस परम्परागत बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने वाले प्रत्येक साहित्य-रसिक के सामने भगवान् बुद्ध का स्वरूप यथामति-यथासंस्कार प्रकट होता है। एवमेव, सभी कालखण्डों में प्रत्येक भावक के मन में कुछ नये विचार, नयी अपेक्षाएं (जिसको "कवि-न्याय" का नाम दिया गया है, वह) भी आकारित होती रहती हैं। जो कदाचित् नवीन काव्य एवं नाट्यकृति रचने की प्रेरणा देती है। इति दिक्।।

[1]

गौतम बुद्ध के जीवन से जुडी कुछ परम्परागत जानकारियाँ:-

(563 ईसा पूर्व से 483 ईसा पूर्व = 80 वर्ष की आयु)

संस्कृत एवं पालि साहित्य में, अश्वघोष का बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द दो महाकाव्य, तथा लुप्त-प्रायः खण्डित शारिपुत्र-प्रकरणम्[1] नाटक उपलब्ध हैं तथा ललितविस्तर नामका संस्कृत[2] ग्रन्थ एवं पालि जातक-कथाएँ हैं, जो बुद्ध के जीवन पर आधारित हैं। इनमें बुद्ध के व्यक्तित्व का निरूपण दिव्यता से भरा पडा

---

1. इस नाटक के अलावा, समग्र संस्कृत नाट्य-साहित्य में देखा जाय तो बुद्ध के जीवन का निरूपण करने वाला एक भी नाटक कदाचित् नहीं है। राजा बिम्बिसार ने बुद्ध के जीवन पर आधारित नाटक का अभिनय करवाया था, जिसमें कुवलया नामकी नटी के अभिनय से अनेक भिक्षुओं मुग्ध हो गये थे-ऐसा श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी जी ने भारतीय नाट्य स्वरूप और परंपरा (पृ.85) में कहा है। लेकिन ऐसी तत्कालीन नाट्यकृतियाँ कालग्रस्त हो चुकी हैं। श्रीहर्ष का नागानन्द नाटक जातक कथा पर आधारित है, किन्तु उसमें सीधे सीधे बुद्ध के जीवन की कोई बात वर्णित नहीं है।
2. ललितविस्तर की संस्कृत-भाषा पालि-मिश्रित है, जिसको एडजर्टन ने "हाईब्रीड-संस्कृत" कहा है।

है। यूँ कहें कि इनमें ऐतिहासिक बुद्ध कम है, चमत्कारिक बुद्ध ज्यादा है। प्रॉफे. सेनार नामके फ्रेंच विद्वान् ने यह भी कह दिया था कि भगवान् बुद्ध की पूजा सूर्योपासना से विकसित हुई है, यानी बुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है! कालक्रम से जब पुरातत्त्वविदों ने नेपाल की तराई में लुम्बिनी नामके स्थल के पास खुदाई की तो, वहाँ से, सम्राट् अशोक द्वारा उत्कीर्ण करवाया एक स्तम्भलेख प्राप्त हुआ। जिसमें, पालि भाषा में निम्नोक्त वाक्य लिखे गये हैं:-देवान पियेन पियदसिन वीसति वसाभिसितेन अंतन आगाच महीयिते हिध बुद्धे जाते सक्यमुनीति सिला बिगडाभिचा कालापितसिलाथंबे च उसपापिते हिध भगवं जातेति लुंमिनि-गामे उबालिके कते अथ-(अर्थ)भागिये च। [द्रष्टव्य है:-परिशिष्ट-3, चित्रशाला (1) में दिया फोटोग्राफ।]

अर्थात्- "देवों के प्रिय प्रियदर्शी (सम्राट् अशोक) राजा ने अपने अभिषेक के बीस वर्ष हो जाने पर, इस स्थान पर शाक्यमुनि बुद्ध ने जन्म लिया था, इस लिये उन्होंने स्वयं यहाँ आ कर पूजा-अर्चना करके, चारों ओर शिलास्तम्भों की दीवार बनवा कर यह शिला-स्तम्भ गाड़ा है। इस स्थान पर भगवान् ने जन्म लिया था इस लिए लुम्बिनी गाम को शुल्क-मुक्त कर दिया है और (इस जगह पूजन-दीपादि के आवर्तित खर्च को निभाने के लिए) कुछ द्रव्य भी भेजने का प्रबन्ध किया है।" इस शिलालेख की प्राप्ति हो जाने पर, भगवान् बुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हुए थे या नहीं हुए थे-ऐसा संदेह अब निरस्त हो गया है।।

हिमालय की उपत्यकाओं में, नेपाल-स्थित कपिलवस्तु नामक नगर के गणराज्य में राजा शुद्धोदन अधिनायक थे। वे गौतम गोत्रीय शाक्यकुल के क्षत्रिय थे। राजा शुद्धोदन की दो रानियाँ थीं, पहली का नाम महामाया और दूसरी का नाम महाप्रजापति था। (वे दोनों छोटी-बडी बहनें ही थी)। उनके वहाँ ईसा पूर्व 563 में प्रथम पत्नी महामाया से एक पुत्र ने जन्म लिया। महामाया जब अपने संतान की प्रसूति के लिए नैहर देवदह जा रही थी, तब मार्ग में ही, लुम्बिनी नामके उपवन में उसने खड़े खड़े ही (परिशिष्ट-3, चित्र-2), सालवृक्ष की शाखा को पकड़ कर पुत्र को जन्म दिया था। बाद, पाँचवें दिन पर उसका नामकरण किया गया और उसका नाम "सिद्धार्थ" रखा गया। (द्रष्टव्य-परिशिष्ट-2, जातकट्ठकथा के गद्यखण्ड-3 एवं 5) लेकिन उस पुत्र के जन्म के सात दिनों के पश्चात् ही माता महामाया की मृत्यु हो गई। और उस पुत्र को मौसी महा-प्रजापति गौतमी, जो शुद्धोदन की दूसरी पत्नी थी उसने उसको लालन-पालन के साथ बड़ा किया। (उस दूसरी रानी को भी एक पुत्र हुआ था, जिसका नाम सुन्दरनन्द या नन्द रखा गया था।) शुद्धोदन की बहन के घर भी एक पुत्र हुआ था, जिसका नाम देवदत्त था।

कहा जाता है कि पिता शुद्धोदन द्वारा नवजात पुत्र के नामकरण एवं फलादेश के लिए बुलाये ज्योतिषिओं ने पुत्रका नाम सिद्धार्थ रखा एवं उसका भाविकथन करते हुए कहा कि यह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा अथवा परिव्राजक बनेगा। अतः पिता शुद्धोदन ने उसकी शैशवावस्था में अनेक पाबन्दियाँ लगाई थी, और भारी सावधानी के साथ बड़ा किया था। जिसके कारण उसने बचपन में कभी किसी पीडाकारी घटना या दृश्य को देखा ही नहीं। क्योंकि उसको राजमहल से बाहर तक नहीं जाने दिया। तथा पूरी सुख-सुविधाओं के साथ प्रासाद में ही संवर्धित किया। वह पुत्र भोग-विलास में ही निमग्न रहे उसके लिए सारी योजनाएँ सोची गईं और सोलह वर्ष कि आयु में उसका विवाह भी करवा दिया गया। सिद्धार्थ की पत्नी का नाम गोपा, भद्रकात्यायना अथवा यशोधरा था। (तीसरा नाम ज्यादा प्रचलित रहा है।) यशोधरा के पिता का नाम दण्डपाणि था। सिद्धार्थ ने तेरह वर्षों का दाम्पत्य-जीवन व्यतीत किया और वे एक पुत्र के पिता भी बने। अब, पिता शुद्धोदन ने सोचा कि मेरा राजकुमार विवाहित हो कर, एक पुत्र का पिता भी बन गया है तो, उसके परिव्राजक बनने की सम्भावना कम हो गई है। अतः उसको नगरचर्या की अनुमति देने में कोई भय नहीं है। इस समय उसकी वय उनतीस वर्ष की थी। (विनय-पिटक के महावग्ग में सिद्धार्थ के विवाह की बात का निर्देश नहीं है। लेकिन जब गृहत्याग किया तब उनको राहुल नामका पुत्र था-यह बात विनयपिटक से मालूम होती है।) सर्वसाधारण जानकारी के अनुसार, नगरचर्या के दौरान सिद्धार्थ ने मार्ग से गुजर रहे चार दृश्य देखें। जिनमें एक वृद्ध व्यक्ति, एक रोगी व्यक्ति[1], एक मृतक की शव-यात्रा शामिल थी। तदुपरान्त, चौथा व्यक्ति एक संन्यासी था। सिद्धार्थ ने जिन्दगी में पहली बार वार्धक्य क्या होता है, रोग क्या होता है, मरण-मृतशरीर-क्या होता है? यह देखा, जाना। अचानक से उसने जाना कि जगत् अनेक दुःखों से भरा है। जीवन "सर्वम् दुःखम्, सर्वं क्षणिकम्, सर्वं शून्यम्-है ऐसा साक्षात्कार किया। (अद्रिं भित्त्वा पतनबहुलं रोधनं नैकरूपम्। लीयन्ते ता मधुरसलिलाः क्षारभूते समुद्रे।।-का साक्षात्कार हुआ।) परिणामतः उसके मन में असाधारण संवेग उत्पन्न होता है। उसकी जिज्ञासा तीव्रतम बन गई कि दुःख का क्या कारण है, दुःखमुक्ति का क्या उपाय हो सकता है? इस लिए सिद्धार्थ वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन गृहत्याग करता है। महाभिनिष्क्रमण के समय उसकी आयुः 29 वर्षों की थी। तत्पश्चात् छह वर्ष और

1. ललितविस्तर में इसका वर्णन करनेवाले श्लोक 545 से 559 में दिये हैं। जिनमें से एक को देखते हैं-एषो हि देव पुरुषो जरयाभिभूतः, क्षीणेन्द्रियः सुदुःखितो बलवीर्यहीनः। बन्धुजनेन परिभूत अनाथभूतः, कार्यासमर्थ अपविद्धु वनेव दारुः।। 546।। (ललितविस्तर की भाषा पालि-मिश्रित संस्कृत है।)

दो महीनों की अतिकठिन तपश्चर्या करने के बाद, 35 वर्ष की आयु में वे बोधि ज्ञान को प्राप्त करते हैं और सिद्धार्थ से "गौतम बुद्ध" बनते हैं। उन्होंने इस बोधिज्ञान का पहला उपदेश वाराणसी के पास आये ऋषिपत्तन के मृगदव में पाँच भिक्षुओं को, जो पहले उनके साथ तपश्चर्या कर रहे थे, उनको दिया। इसी को धर्मचक्र-प्रवर्तन कहते हैं। बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश का यह स्थल आज वाराणसी के पास "सारनाथ" नाम से जाना जाता है। तथा उन पाँच भिक्षुओं के समूह से ही प्रथम "बौद्ध-संघ"आकारित होता है।

बुद्ध धर्मोपदेश करने के लिए जेतवन, वेणुवन, कोशम्बी, श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, उरुवेला, बोधगया आदि अनेक स्थानों में परिभ्रमण करते रहें। उन्होंने 45 वर्षों तक यानी 80 साल की उम्र तक मुख्य रूप से (क) चार आर्य-सत्य, (ख) मुदिता, उपेक्षा, मैत्री, करुणादि षट् भावनाएं तथा (ग) पंचशील का उपदेश दिया, जिसको "सद्धर्म" कहते हैं। इसके दौरान उन्होंने अपने अगणित शिष्यसमूह को प्रश्नोत्तरी के माध्यम से लाभान्वित किया। साथ साथ में तत्कालीन अन्यान्य राजाओं, धनाढ्य व्यापारियों से लेकर चोर, डाकू एवं वेश्यादि अनेक पतित जीवों को भी वे उपदेश देते रहें। अनाथपिंडक नाम के श्रेष्ठी ने बुद्ध को अपने भिक्खुओं के साथ रहने के लिए एक पूरा जेतवन विहार भेंट किया था। धर्मोपदेश के प्रसंगों पर उनके साथ रहने वाले तीन मुख्य शिष्य बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। शारिपुत्र (धर्मसेनापति), मौद्गल्यायन एवं आनन्द। उनमें से केवल आनन्द नामका शिष्य ही, वे जब महापरिनिर्वाण प्राप्त करते हैं, तब जीवित रहा था। "अर्हत्" पद को प्राप्त करने वाले अन्य दो शिष्य बुद्ध के निर्वाण से पहले ही, शरीर से मुक्त हो गये थे। तत्पश्चात् गौतम बुद्ध ने अस्सी वर्ष की आयु में, गोरखपुर के पास आये कुशीनारा नगर में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।।

आश्चर्यजनक बात है कि गौतम बुद्ध के जन्म का दिन, उनके गृहत्याग (महाभिनिष्क्रमण) का दिन तथा बोधिज्ञान प्राप्त करने का दिन एक ही था और वह था वैशाख मास की पूर्णिमा का दिन! इसको काकतालीय-न्याय से बना एक संयोग ही माना जाय, या फिर शश-पण्डित जातक कथा में वर्णित मिथक के सर्जन की प्रेरणा देने वाला संयोग कहा जाय?-यह कहना मुश्किल है! तथापि इसी शश-पण्डित जातक-कथा में जो बात प्रस्तुत हुई है उससे ही एक तर्क ऐसा दिया जा सकता है कि-गौतम बुद्ध ने अपने पूर्वावतारों में "बोधिसत्त्व" के नाम से क्रमशः दश पारमिताओं को बारी बारी पर हासिल की थी। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा में जैसे क्रमशः एक एक कला विकसित होती चली जाती हैं और अन्त में पूर्णिमा के दिन वह एक अखण्ड एवं परिपूर्ण स्वरूप में आकारित होता है, वैसे ही ऐतिहासिक गौतम बुद्ध ने अपने पूर्वावतारों में पहले दान, शील, करुणादि

की पराकाष्ठाओं को प्राप्त की थी, तब वे अन्त में बुद्धत्व को प्राप्त करते हैं। अत एव कहा जाता है कि बुद्ध का जन्म, गृहत्याग का दिन और उनको मिले बोधिज्ञान का दिवस एक ही था, वह था वैशाखी पूर्णिमा का शुभदिन! एवञ्च, क्यूं वैशाख मास की पूर्णिमा को ही ऐसा गौरव दिया गया?-तो, बारह मासों की अलग अलग पूर्णिमाओं में से वैशाख मास की पूर्णिमा ही ऐसी है जो पूर्णतया निरभ्र आकाश में प्रकाशित होती है! इति दिक्।। (धर्मचक्र-प्रवर्तन अषाढी पूर्णिमा के दिवस किया गया था।)

[2]

प्रस्तुत नाटक का कथानक

धर्मचक्र-प्रवर्तनम्ः- भगवान् बुद्ध के जीवन के पूर्वार्ध में घटित हुई घटनाओं को दो चरणों में बांटा जा सकता हैः-(क) जगत् के जरा-रोग-मरण जैसे दुःखों को देख कर, सिद्धार्थ के मन में संवेग की उत्पत्ति, गृहत्याग, उग्र तपश्चर्या, मार और उसकी सेना के साथ युद्ध, एवं अन्ततो गत्वा बुद्धत्व की प्राप्ति। (ख) तदनन्तर, ऋषिपत्तन में पहली बार धर्मचक्र-प्रवर्तन करना। उन पंचवर्गीय भिक्षुओं से पहला बौद्ध-संघ बनना। उस प्रथम संघ में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होना। किन्तु श्रेयांसि बहुविघ्नानि-न्याय से उस द्वितीय चरण की प्रवृत्ति में पैदा हुए अनेक अवरोधों को भी इस नाटक का विषय बनाया गया है। देवदत्त के द्वारा बुद्ध का वध करने का प्रयास, उसमें विफलता मिलने पर भिक्षुसंघ में फुट पडवाना इत्यादि अवरोधों से मुक्ति प्राप्त करके, संघ में भिक्षुणियों का प्रवेश मान्य किया जाता है।इस तरह से धर्मचक्र-प्रवर्तन की प्रवृत्ति को पराकाष्ठा तक पहुँचाना-यह नाटक का निरूप्यमाण विषय है।।

संस्कृत नाटकों की परिपाटी के अनुसार प्रारम्भ में नान्दी-पद्य सहित की प्रस्तावना रखी गई है। मंगलात्मक नान्दी-पद्य में बोधिज्ञान सहित के शाक्यवंशीय सिद्धार्थ को वन्दन किये हैं। बुद्ध ने दुनिया के सभी जीवों के दुःखों का कारण खोजने के लिए सर्वसुखों का त्याग करके, जो अद्वितीय तपश्चर्या की थी उसका यहाँ निरूपण होगा-यह सूचित किया गया है। वर्तमान (ऐतिहासिक) बुद्ध के साथ साथ चौबीस बुद्धों की शृङ्खला में जिनका सब से पहला स्थान है उन दीपंकर बुद्ध को भी प्रणाम निवेदित किये हैं, क्योंकि उन्होंने ही पहले सद्धर्म का रथचक्र प्रवर्तित किया था। किन्तु तपश्चर्या से सफलता हासिल करना, सम्बोधि प्राप्त करना वह पर्याप्त नहीं है। उस तपो-अर्जित ज्ञान का उपदेश देना, उसके लिए धर्मचक्र को "बहुजनहिताय" प्रवर्तित करना वही सब से महत्त्वपूर्ण घटना है। इस पद्य में, तीसरा वन्दन किया है उस वैशाखी पूर्णिमा को, जिस दिन भगवान् बुद्ध

का जन्म हुआ था, उनको बोधिज्ञान मिला था और उनका महापरिनिर्वाण हुआ था।।

सूत्रधार ने रंगमंच पर आकर, यह नाट्य-प्रयोग बुद्ध के जीवन-चरित को निरूपित करने वाला है-ऐसा प्रतिज्ञावाक्य बोला। जिसको सुनते ही नटी के मन में दहशत पैदा होती है कि तभी तो यह नाटक नटीशून्य ही होना चाहिए। सूत्रधार पूछता है कि ऐसी आशंका क्यूं जता रही है? तो नटी ने स्पष्टीकरण किया कि भगवान् बुद्ध ने तो नारियों को संघ में प्रवेश करवाने का निषेध किया है! अतः स्वाभाविक है कि इस नाटक में एक भी नटी की, स्त्रीपात्र की आवश्यकता नहीं रहेगी। जिन नाटकों में कैशिकीवृत्ति प्रदर्शित की ज़ाती है उनमें ही स्त्री-पात्र की आवश्यकता रहती है। तब सूत्रधार बताता है कि नहीं, नहीं, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। क्योंकि किसी भी रथ को चलाने के लिए दो पहियों की अनिवार्य आवश्यकता रहती ही है, जैसे संसारचक्र को चलाने के लिए भी दम्पती (पति-पत्नी के युग्म) की आवश्यकता रहती है। इसीसे व्यंजित होता है कि यह नाटक वैराग्य-प्रधान होते हुए भी नटीशून्य नहीं है। बल्कि धर्मचक्र-प्रवर्तन में उन नारियों का होना भी अनिवार्य था-ऐसा प्रकाशित करने का लक्ष्य ले कर सूत्रधार प्रवृत्त हो रहा है। इतने संवादों के दौरान ही नेपथ्य से किसी रथचक्र के घूमने की आवाज आती है। सूत्रधार तुरंत समझ लेता है कि राजा शुद्धोदन अपनी पत्नी देवी महामाया एवं नवजात पुत्र को घर ले आने के लिए, लुम्बिनी उपवन से निकल कर कपिलवस्तु की ओर चल पड़ा है,उस रथ के पहिये घूमने की यह आवाज आ रही है। इतनी बातचीत से ही प्रेक्षकों को अवगत कराया जाता है कि शुद्धोदन के घर एक पुत्र का जन्म हुआ है, जो इस नाटक का प्रधान नायक है। यह सुनते ही, नटी भी कहती है कि पुत्रजन्म के अवसर पर वहाँ रत्नवृष्टि होती होगी। अतः वहाँ जाने के लिए वह उत्सुक हो जाती है। वस्तुतः बुद्ध के जीवन का परिचय करने वाले प्रेक्षकों को भी त्रिरत्न (=बुद्ध, उनका सद्धर्म एवं संघ) की प्राप्ति होगी-यह सूचित करते हुए दोनों रंगमंच से निवृत्त होते हैं।।

नान्दी एवं प्रस्तावना के बाद, एक विष्कम्भक रखा गया है। बुद्ध अपने पूर्वावतारों में जब बोधिसत्त्व के रूप में विभिन्न योनियों में जन्म लेते थे, तब किसी एक जन्म में वे शश-पण्डित (खरगोश) के रूप में किसी जंगल में पैदा हुए थे। उस जन्म में उन्होंने बुभुक्षित इन्द्र के लिए स्वशरीर-त्याग करने की तत्परता दिखाई थी, जिसको बौद्ध-साहित्य में (जातक-कथाओं में) "दान-पारमिता" का उदाहरण माना गया है।

परेषां तु क्षुधाशान्त्यै निर्ममो वह्निमाश्रितः।
देहत्यागाय संनद्धो बोधिसत्त्वः सुदुर्लभः।। १-५।।

ऐतिहासिक बुद्ध के जीवन को समझने के लिए उनके पूर्वावतारों से पाठक को पहले अवगत होना जरूरी है। क्योंकि बौद्धों की मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति किसी एक जन्म के पुरुषार्थ से बुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकता है। अनेक जन्मों के पुरुषार्थ के बाद ही वे गौतम सिद्धार्थ से गौतम बुद्ध बने थे-इसको विशद करने के लिए तथा नाटक के अनुगामी अंकों में प्रस्तुत होने वाले बुद्ध के करुणामय जीवन को समझने के लिए आवश्यक पूर्वभूमिका के रूप में यह विष्कम्भक है। यहाँ, शश-पण्डित जातक-कथा का ही नाट्य-रूपान्तरण किया गया है।

तत्पश्चात् शुरू होती है **"भाविकथन"** नाम वाले **प्रथमांक** की दृश्यावली। प्रथम दृश्य में, हिमालयस्थित ऋषि असित नभोमण्डल में प्रकट हो रहे शुभ शकुनों को देखते हैं और वे अपने भागिनेय नालक के साथ संवाद करते हैं। उन्होंने बताया कि राजा शुद्धोदन के घर पुत्र रूप में बोधिसत्त्व का जन्म हुआ है[1], जो दिव्य पुत्र है। अतः वे उनका दर्शन करने के लिए कपिलवस्तु जाना चाहते हैं।[2] वे दोनों चल कर राजा के प्रासाद में पहुँचते हैं। शुद्धोदन ने नवजात पुत्र का दर्शन करवाया। ऋषि असित ने पुत्र के दिव्यत्व को कहने वाले (सामुद्रिक शास्त्रानुसार) चिह्न देख कर उनका वर्णन किया:-

भ्राजिष्णोरमिता च भा विकसिते भाले यदा राजते
विश्वं पश्यति रत्नभासुरमुखे नेत्रद्वयं मङ्गलम्।

वर्तेते जयघोषयुक्तचरणे शङ्खाङ्किते सुन्दरे
राहुर्लिम्पति नैव तारकमिमं, वैराग्यसंघं तदा।। १-७।।

इस तरह के दिव्य पुत्र का दर्शन करते ही ऋषि के नेत्रों से अश्रुजल निकलता है। शुद्धोदन ने रोने का कारण जानना चाहा। तब उन्हों ने बताया कि यह दिव्यपुत्र भविष्य में जगत् का उद्धारक बनने वाला है। लेकिन अभी वे स्वयं

---

1. सो बोधसत्तो रतनवरो अतुल्यो मनुस्सलोके हितसुखाय जातो। सक्यानं गामे जनपदे लुम्बिनेय्ये तेन म्हतुट्ठा अतिरिव कल्यरूपा।। सुत्तपिटकस्य महावग्गे नाळकसुत्त, गाथा-683
2. बौद्ध-साहित्य में प्राप्त हो रही यह मिथकीय घटना का उपयोग (बुद्धोत्तर काल में) ईशु ख्रिस्त के जन्म-प्रसंग वर्णन में भी किया गया है। जैसे कि-बाईबल में लिखा है:- "Now when Jesus was born in Beth-lee-hem of Judaea in the days of Herod, the king, behold; there came wise man from the east to Jerusalem. Saying, where is he that born king of the Jews? For we have seen his star in the east and are come to worship him"- St. Matthew, ch. 2.

तो अस्सी साल के बूढे हो चुके हैं, अतः वे इस बालक को बुद्धत्व प्राप्त किया हुआ नहीं देख पायेंगे और उसके मुख से निकले धर्मोपदेश को नहीं सुन पायेंगे, जो भारी दुःख का विषय है। अतः ऋषि असित रो रहे थे। इस बात को सुन कर पिता शुद्धोदन ने भी अपने पुत्र को प्रथम वन्दन किया। जब ऋषि ने कहा कि तुम्हारा यह दिव्य पुत्र जगत् समस्त के दुःखों को दूर करने के लिए समग्र जगत् में घूमेगा, तब पिता के मुख से निकलता है कि मैं भी आशा करता हूँ कि मेरा पुत्र चक्रव्रती सम्राट् बन कर सर्वत्र घूमे। राजा ने ऋषि का वस्त्रदानादि से सम्मान किया, किन्तु उन्हों ने उस दिव्य पुत्र के चरणों में ही सब कुछ उपाहृत कर दिया।।

दूसरा दृश्य शुरू होता है। जिसमें द्वारपाल एवं विनीता की बातचीत के माध्यम से प्रेक्षकों को सूचित किया जाता है कि आज राजप्रासाद में पुत्र के नामकरण-विधि का प्रसंग आयोजित किया गया। जिसमें ब्राह्मणों का समूह एवं अष्ट ज्योतिर्विदों को निमन्त्रित किये गये हैं। राजा ने इन सभी का पहले सत्कार किया, उसके बाद, अपने पुत्र का कोई सुयोग्य नाम बताने तथा उनके जीवन का भविष्यकथन करने की प्रार्थना की। तब छः ज्योतिर्विदों ने दो दो अंगुलियाँ उठा कर द्विधाजनक कथन किया-यह पुत्र संन्यासी बनेगा अथवा चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। (द्रष्टव्यः-परिशिष्ट-3, चित्र क्रमांक-3) इसके प्रतिपक्ष में एक ज्योतिर्विद्, जिसका नाम कौण्डिन्य था, उसने कहा कि यह पुत्र अवश्य संन्यासी ही बनेगा। तब जो आठवाँ माण्डव्य नामका ज्योतिर्विद् था उसने कहा कि यह पुत्र सम्राट् चक्रवर्ती बनने के साथ साथ विवाहित भी होगा तथा एक पुत्र का पिता भी बनेगा। इस तरह के द्विधा पैदा करने वाले भविष्यकथन से राजा शुद्धोदन की मनोयातना शुरू होती है। तब अमात्य उदायी ने ज्योतिर्विदों के भविष्य-कथन को अन्धहस्ती-दर्शन का नाम दिया और उन सभी वचनों को नजर अंदाज करने की सलाह दी। सभी निमन्त्रितों की विदाई होती है।

अब राजा और अमात्य दोनों इस पुत्र की शिक्षा पर ध्यान देने का सोचते हैं। बालक की जैसी शिक्षा होगी वैसा ही उसका जीवन बनेगा और राजनीति तो वंशानुगता होने से अपने आप बालक में प्रकट हो ही जायेगी ऐसी आशा व्यक्त की जाती है। इतने में नेपथ्य से सूचना मिलती है कि महामायादेवी ने शीघ्रातिशीघ्र महाप्रजापति (जो महामाया की भगिनी होने के साथ साथ राजा शुद्धोदन की दूसरी रानी भी है) को बुलाई है। राजा इस बात को सुन कर पुत्र की माता महामाया के पास जल्दी से पहुँचता है। नेपथ्य से (आक्षेपिकी ध्रुवा के गान से) दूसरी सूचना मिलती है कि-

दत्त्वैव प्रभृतं ज्योतिः सौदामिनी तिरोहिता।
गता मायेव माया सा जनयित्वा प्रबोधकम्।। १-९।।

माता ने अपना अन्त काल आ गया है ऐसा जानकर, महाप्रजापति को अपना पुत्र सोंप दिया तथा कहा कि अब तू ही इस बालक की माता बन, और उसे (अपने पुत्र नन्द के साथ) संवर्धित कर।

तृतीय दृश्य में, राजा और अमात्य उदायी किशोरावस्था में पहुँचे सिद्धार्थ को शिक्षान्वित करने के लिए लिपिशाला में ले चलते हैं। जहाँ प्रधानाचार्य के रूप में आचार्य विश्वामित्र थे। पिता शुद्धोदन ने आचार्य को विज्ञप्ति की कि मेरे पुत्र को शिक्षान्वित कीजिएगा। तब सिद्धार्थ ने ही आचार्य को पहले पूछ लिया कि भो गुरो! आप मुझे कौन सी लिपि सिखायेंगे? आप मुझे ब्राह्मीलिपि, खरोष्ठी लिपि, अंग लिपि, पुष्करसारी लिपि, बंगलिपि, किरातलिपि, शकारिलिपि... इत्यादि 64 लिपियों में से कौन सी लिपि सिखायेंगे? इसको सुनते ही लिपिशाला के आचार्य विश्वामित्र ने अपनी हार स्वीकार ली कि मैं तो केवल ब्राह्मीलिपि ही जानता हूँ। इस किशोर राजकुमार ने जितनी लिपियों के नामों का परिगणन किया है, उनको तो मैं ने पहले सुना भी नहीं हैं। ऐसे सर्वज्ञ कुमार को मैं क्या सिखाऊँगा?। तब राजा और अमात्य उदायी सिद्धार्थ को युद्धविद्या को सिखाने के लिए क्षान्तिदेव नामके आचार्य के पास ले जाना चाहते हैं। किन्तु उन दोनों के मन में वही दहशत थी कि जो घटना विश्वामित्र के सामने घटित हुई, उसका ही पुनरावर्तन क्षान्तिदेव के वहाँ भी हो गया तो क्या करेंगे?, सारांशतः इस बालक सिद्धार्थ का जीवन किस मोड पर जायेगा?-वह प्रेक्षकों के मन में कौतुक का विषय बनता है। इस अंक के घटनाचक्र का उपसंहार करने वाली-"*उदायी शाक्येशो विलुलितधियौ द्वौ नरवरौ। अपारे कालाब्धौ जलचरगती तावतटिनौ*"। (1-12) नैष्क्रामिकी ध्रुवा के गान से अंक समाप्त होता है।। यहाँ ऋषि असित के वचनों से एवं लिपिशाला की घटना से राजकुमार का चमत्कारिक व्यक्तित्व प्रेक्षकों के सामने प्रकट होता है।।

तत्पश्चात्, **"महाभिनिष्क्रमण"** नाम का **द्वितीय अंक** शुरू होता है। प्रारम्भ में रखे प्रवेशक के द्वारा प्रेक्षकों को वृत्त एवं वर्तिष्यमाण घटनाओं का सूचन किया जाता है। जैसे कि-यहाँ विवेचक नाम का विदूषक माण्डव्य के साथ बातचीत करता है और बताता है कि पिता शुद्धोदन ने युवराज सिद्धार्थ का परिणय हो जाय ऐसी आज्ञा दी थी। अतः सिद्धार्थ ने भी बताया था कि उसको केवल धर्मशीला कन्या की ही अपेक्षा है, अमुक कुलविशेष में उनका कोई अभिनिवेश नहीं है। तदनुसार दण्डपाणि की धर्मशीला कन्या यशोधरा के साथ उनका

विवाह-विधि सम्पन्न हो गया। (यहाँ, प्रेक्षकों को यह भी सूचित किया गया है कि-ज्योतिषीओं के द्विधाजनक भाविकथन के कारण नाराज हुए अमात्य उदायी ने राजप्रासाद की गतिविधि को बहुत सीमित लोगों को ही जान सके ऐसी व्यवस्था की थी। अतः सिद्धार्थ के विवाह-प्रसंग का वृत्तान्त सार्वजनिक रूप से नहीं मनाया गया था। तथा पिता की आज्ञा से ही पुत्र सिद्धार्थ ने विवाह किया था।) माण्डव्य सिद्धार्थ के विवाह की बात को सुनते ही हर्ष का अनुभव करता है, क्योंकि उसका भविष्यकथन सत्य हो रहा है। इस खूशी के बाद तुरंत उसके मन में कौण्डिन्य को मिलने की भारी उत्कण्ठा है, क्योंकि अब उसका भाविकथन विफल सिद्ध हो गया है। वे दोनों सामने से आ रही एक चेटिका को पूछते हैं कि-उसने कहीं कौण्डिन्य को देखा?। तो चेटिका बताती है कि-हाँ जी, वो दीनवदन उसके पीछे ही आ रहा है। माण्डव्य कौण्डिन्य की अवमानना करने को तैयार खडा है। देर से रंगमंच पर प्रविष्ट हुए कौण्डिन्य ने कहा कि-कन्या के पिता ने यह नहीं देखा कि वे जिस युवक के साथ वे अपनी कन्या का विवाह करवाया हैं, वह एक उदासी, अन्तर्मुख एवं मृदुल व्यक्ति है।

अन्तर्मुखो युवोदासी मृदुलो न चिकित्सितः।
पिता भाग्यवशाल् लुब्धो, युवराजपदेन किम्॥

कौण्डिन्य पक्का मानता है कि कन्या का पिता दण्डपाणि सिद्धार्थ के पास युवराज-पद है, उसको देख कर ही लुब्ध हुआ होगा। उसने सोचा होगा कि उसकी पुत्री यशोधरा एक दिन रानी बनेगी। इसी लालच में पिता ने ऐसे अन्तर्मुखी, उदासी, मृदुल कुमार के साथ विवाह करवाया होगा। अन्यथा उसका शास्त्रचक्षु तो अभी भी यही कह रहा है कि सिद्धार्थ परिव्राजक बन कर ही रहेगा। तत्पश्चात् मार्ग में पुष्पाच्छादन कर रही चेटिका से इन लोगों को ज्ञात होता है कि-कोई राजपुरुष आज राजोद्यान में पधारने वाला है। अतः तुरंत इन ज्योतिर्विदों के जमावडे को दूर हो जाने की आज्ञा की जाती है। तब विदूषक एवं माण्डव्य राजप्रासाद की ओर जाने का इरादा बताते हैं, यदि राजप्रासाद में प्रवेश मिल जाय तो, वे सिद्धार्थ के विवाह-निमित्त कदाचित् दूसरी बार कोई दक्षिणा प्राप्त कर सकें। यद्यपि वे कौण्डिन्य को महा अभागी बताते हैं, क्योंकि उसको अब राजगृह से कोई दक्षिणा मिलने की सम्भावना नहीं बची है। यहाँ प्रवेशक समाप्त होता है। किन्तु अनुगामी प्रथम दृश्य में राजोद्यान में कोई राजपुरुष, सम्भवतः युवराज सिद्धार्थ ही आने वाले है-ऐसा निर्दिष्ट किया जाता है। प्रवेशक समाप्त होता है।।

प्रथम दृश्य में--सिद्धार्थ प्रातः-काल में उद्यान में विहार के लिए आया है और समग्र निसर्ग में पवन, बादल, नदियाँ, सूर्य, पक्षी, भ्रमरादि सभी के मुक्त,

निर्बाध एवं स्वैरविहार को साश्चर्य देखता रहता है। बस उसी क्षण उसके सामने आकाश से शरविद्ध हुआ एक राजहंस नीचे आ गिरता है। उस पक्षीराज के शरीर से रक्तपात हो रहा है-ऐसा देखते ही उसका मुग्धभाव नष्ट होता है। उसने जाना कि-इस सृष्टि में जीवजन्तुओं की स्वाधीनता निर्बाध नहीं हैं। मनुष्यों की हिंसकवृत्ति से पक्षियाँ भी बाधित होते हैं। सिद्धार्थ तुरंत राजहंस को उठा लेता है और उसके शरीर से बाण को बाहर निकाल लेता है। शुश्रूषा करके उसको एक वस्त्र में लपेट देता है। तब उस पक्षी पर बाण चलाने वाला देवदत्त वहाँ दौड़ता हुआ आता है, वह अपने शिकार की तलाश में आया है। जब उद्यान में कहीं से शरविद्ध राजहंस नहीं मिलता है, तो वह सिद्धार्थ को पूछता है यदि उसने इसको देखा हो तो। सिद्धार्थ ने कहा हाँ, वह पक्षी मेरे पास है। मैंने उसको बाण से मुक्त करके सुरक्षित कर लिया है। देवदत्त कहता है कि वह मैंने मारा है,वह मेरा शिकार है,इस लिये तुम उसको मुझे दे दो। लेकिन सिद्धार्थ ने उसका प्रतिकार करते हुए कहा:-

हतखगपतेः स्वामित्वं नोऽधिगच्छतु मानुषः
स इह कथितः स्वामी पाता विहायस एव यः।

प्रखरकिरणैर्दग्धासूनां प्रभुः सरिता सदा
सदयहृदयः क्षात्रो धर्मः स एव विराजते।। २-२।।

सिद्धार्थ ने कहा कि जो व्यक्ति पक्षी का शिकार करता है, वह उसका स्वामी नहीं हो सकता है। किन्तु जिसने उस पक्षी का संरक्षण किया है और जब तक पूर्ण रूप से स्व-स्थ नहीं होता है तब तक (ही) वह उसका स्वामी होता है। मैं तुम्हें इस घायल राजहंस को नहीं दूँगा। यहाँ "किसको क्षत्रिय कहा जाय?" इस विषय को लेकर, दोनों में विवाद होता है। अन्त में देवदत्त सिद्धार्थ के साथ उसका स्थायी वैमनस्य रहेगा इतना कहता हुआ रंगमंच से चला जाता है। यहाँ पर सिद्धार्थ का चित्त आजन्म दयार्द्र है-यह प्रकट होता है।

प्रथम दृश्य का अनुसन्धान करने वाली प्रावेशिकी ध्रुवा से द्वितीय दृश्य का प्रारम्भ होता है। सिद्धार्थ और यशोधरा ने एक पुत्र को जन्म दिया है। अर्थात् राजा शुद्धोदन की वंशवृद्धि हो चुकी है। परन्तु सिद्धार्थ देवदत्तकृत पक्षीवेध को बहुत लम्बे समय तक भूल नहीं पा रहा है-यह देख कर, शुद्धोदन के मन में "मेरा पुत्र कहीं परिव्राजक तो नहीं हो जायेगा" यह भीति बनी रहती है। वह अमात्य को नयी नयी आज्ञाएँ दे रहा है कि कुमार को मृगयादि के लिए प्रेरित करो एवं गीत-नृत्यादि का आयोजन करते रहो। अतः द्वितीय दृश्य में, राजहितैषी अमात्य उदायी ने नृत्यांगनाओं को बुला कर नृत्य का आयोजन किया है। यह नृत्य

सिद्धार्थ और यशोधरा के सामने प्रस्तुत होता है। रति का उद्दीपन करने वाले शब्दों के साथ इसकी प्रस्तुति होती है, जिसमें नायिका यशोधरा तो भावाविष्ट होती नजर आती है, किन्तु कुमार ने जैसे ही गीत के उत्तरार्ध को सुना कि-

रविं तं काङ्क्षन्ती शतदलमुखी दण्डतनया।
अतिक्रान्तं द्रष्टुं भुवि विजयिनं त्वां हतरिपुम्॥ २-१०॥

अर्थात्-"दण्डपाणि की यह कमलवदना पुत्री (यशोधरा) सिद्धार्थ को शत्रुओं को मारने वाला, एक अतिक्रान्ता विश्वविजयी सूर्य के रूप में देखना चाहती है"-[ऐसा अमात्य उदायी नृत्यांगनाओं के मुख से कहलाता है] तो उस नृत्य से सिद्धार्थ का मन उठ जाता है। उसको किसी की हिंसा पसंद नहीं है। (जैसा ज्योतिषी कौण्डिन्य ने उसको "मृदुल" कहा था-यह स्वरूप दूसरी बार प्रकट होता है।) इस तरह, उसको "हतरिपुम्" शब्द को सुनते ही नृत्य में तनिक भी रस रहा नहीं। सिद्धार्थ के अन्तःकरण को कोई समझ नहीं पा रहा है। अमात्य अपनी कर्तव्यता का परिपालन करता हुआ सिद्धार्थ से निवेदन करता है कि यशोधरा के पिता ने आपको ये सारी नृत्यांगनाएँ भेट की हैं। आप उनके शिल्प का बार बार आनन्द लीजिएगा। बस, इसी क्षण सिद्धार्थ अपनी मनोवेदना को मुखरित करता है कि मेरे पिता ने भी मेरे सुख के लिए अलग अलग तीन ऋतुओं के अलग अलग (आगार) महल बनवाये हैं। लेकिन गिरिकन्दारओं में घूमने में रुचि रखने वाले गजराज को क्या चित्राङ्कित भित्तिओं में निवास करवाने से सुख मिल सकता है? क्या पक्षिराज गरुड को समुद्रोल्लंघन से वंचित करके, एक सुवर्णपिञ्जर में रखने से सुख का अनुभव दिया जा सकता है?। इसको सुनते ही चतुर अमात्य भी पलट वार करता हुआ बता देता है कि हाँ, गजराज हो या युवराज वे दोनों ही पर्वत से एवं शत्रुसैन्य से टकराने का अभिलाष रखते हैं। और, ऐसा सुयोग्य अवसर आ ही गया है! कपिलवस्तु के नगरजनों के लिए रोहिणी नदी का जल सर्वाधिक मात्रा में प्राप्त करना आवश्यक है। तथा इस सन्दर्भ में, कपिलवस्तु के पड़ोसी राज्य में स्थित कोलियों के साथ युद्ध होने के सम्भावना बनी हुई है। (भूत-काल में भी शाक्यों एवं कोलियों के बीच में ऐसा युद्ध कई बार होता रहा है।) तो राजा शुद्धोदन ने उस युद्ध का नेतृत्व आपको देने का संकल्प किया है। यानी आपको अपना क्षत्रियोचित शौर्य दिखाने का अवसर प्राप्त होने ही वाला है।

सिद्धार्थ को युद्ध करके रोहिणी नदी का जलप्राप्त कर लेने का विचार उचित नहीं लगता है। वह चाहता है कि परस्पर संवाद करके, समझौता किया जाना चाहिए। किसी भी बात को लेकर युद्ध अनिवार्य नहीं हो सकता है। सर्वत्र मैत्री-सम्बन्ध ही गरीयान् है। किन्तु अमात्य बताते हैं कि क्षत्रिय के लिए युद्ध ही

कल्याणकारी है। स्वराज्य की रक्षा का प्रश्न हो या अपनी प्रजा के लिए नदियों के जल-बटवारे का प्रश्न हो, उसमें युद्ध अ-निवार्य ही है। सिद्धार्थ मन में सोचता है कि मुक्त आकाश में उड़नेवाले पक्षियों का शिकार करने वाले देवदत्त और मुक्तगति से बहती नदियों का जल रोकने वाले इस अमात्य में कोई भेद नहीं हैं। दोनों में हिंसक वृत्ति समान है। सिद्धार्थ ने इस मामले को परामर्श से सुलझाने का जब सुझाव दिया तो अमात्य ऐसे युवराज से निराशा व्यक्त करता है। सिद्धार्थ को पलायनवादी समझ बैठता है। सिद्धार्थ अमात्य की आंगिक चेष्टा का मर्म समझ गया। उसने अपना आर्ष दर्शन सुनाया कि-"*न हि वैरेण वैराणि इह शाम्यन्ति*" इत्यादि। उस क्षण यशोधरा ने भी अपने पति सिद्धार्थ का पक्ष समर्थित करते हुए पुछा कि-कोलियों के रक्त से मिश्रित हुआ रोहिणी नदी का जल शाक्य-प्रजा को कब तक सुख चैन से जीने देगा? और कहा कि-"*धरातले तु प्रवहन्ति नद्यः सर्वेषां कृते*"=इस धरातल पर बह रही सारी नदियाँ तो सब के लिए बहती हैं, उन पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार हो ही नहीं सकता है। अमात्य निरुत्तर हो गया। किन्तु इस प्रसंग से सिद्धार्थ ने यह भी जान लिया कि उनकी पत्नी यशोधरा सही रूप में धर्मशीला नारी है। उपर्युक्त विवाद के दौरान सिद्धार्थ ने अमात्य को यह भी कह दिया कि पिता जी को कहना कि मुझे कोई भी जिम्मेवारी सौंपने से पहले, मुझे नगरचर्या के लिए बाहर भेजने का प्रबन्ध भी करवाइए।

अब, तृतीय दृश्य शुरू होता है। पिता जी ने राजकुमार की नगरचर्या पर जाने की इच्छा को जान कर उसका प्रबन्ध करवा दिया। सारथि छन्नक रथ लेकर उपस्थित होता है। सिद्धार्थ रथारूढ हो कर नगरचर्या के लिए प्रस्थान करता है। अमात्य उदायी ने भी पुत्र के मार्ग में कोई दुःखदायी दृश्य सामने न आ जाय इस लिए, परिजन वर्ग को पहले से नगर में भेज दिया। उन लोगों ने गरीब, दुःखी व्यक्तियों की उत्सारणा शुरू कर दी थी। परन्तु अगोचर विश्व के देवताओं ने सिद्धार्थ के रूप में जन्मे बोधिसत्त्व को जगाने का यह काल आ गया है ऐसा माना और वे सक्रिय हो गये। उन देवताओं ने सिद्धार्थ के मार्ग में क्रमशः जराग्रस्त, रोगपीडित एवं मृतशरीर की शवयात्रा के दृश्य प्रकट किये। अन्त में एक विरक्त संन्यासी भी दिखा दिया। क्रमशः इनको देखते ही, सिद्धार्थ ने सारथि से पूछा कि यह क्या है? वह क्या है? तो मालूम हुआ कि दुनिया में पैदा हुए सभी जीवों के लिए यह अवश्यंभावी वृद्धावस्था है, वह रुग्णावस्था है और अन्त में वो मृत्यु भी है, जिनको टाला नहीं जा सकता है। सिद्धार्थ ने अपने जीवन में पहली बार इन अ-निवार्य दुःखों का साक्षात्कार किया। उनके मन में असाधारण संवेग उत्पन्न हुआ।

धिग् यौवनं तत्.... जरया समभिद्रुतं यत्,
स्वास्थ्यं च धिग्.... विविधरोग-पराहतं यत्।
धिग् जीवितं च विदुषो ... न चिरं स्थितं यत्
धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसंगान्॥ २-१४॥

अब सिद्धार्थ ने गृहत्याग का (महाभिनिष्क्रमण) का मानसिक संकल्प कर लिया। लेकिन गृहत्याग करने से पहले पिताजी की अनुमति लेना भी आवश्यक था। पिताजी जब ऐसी अनुमति नहीं दे रहे थे, तो सिद्धार्थ ने कहा कि-पिता जी, क्या मुझे कभी वार्धक्य नहीं आयेगा, रोगपीडा नहीं होगी या मुझे कभी मृत्यु नहीं आयेगी, तथा यह सारा राजवैभव कभी विनष्ट नहीं होगा-इन सब की आप जिम्मेवारी ले सकते हो? तो पिता जी को अवशतया यह स्वीकारना पडा कि वे इनमें से किसी एक की भी जिम्मेवारी नहीं ले सकते हैं। इसको सुन कर सिद्धार्थ निश्चिंत हो जाता है कि अब वह गृहत्याग कर सकता है। यहाँ पर सिद्धार्थ ने यह भी सोचा कि- बाल्यकाल में या विवाद से पहले ऐसी नगरचर्या करने का मौका न मिला वह भी ठीक ही हुआ। अन्यथा वह जीवन की अनित्यता से उतना क्षुब्ध न हुआ होता। शायद वह भी अन्य पामर जीवों की तरह, वार्धक्यादि के प्रति इतना संवेदनशील न बना होता।

चतुर्थ दृश्य में, सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण निरूपित किया गया है। वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि में सिद्धार्थ गृहत्याग करने से पहले, पत्नी यशोधरा और सोये हुए पुत्र राहुल को अन्तिम बार देखने के लिए उनके कक्ष में जाते हैं। जीवन की यह कठिनतम क्षण थी कि वे अपनी पत्नी को और पुत्र को छोड़ रहे थे। प्रश्न ऐसा किया जाता है कि सिद्धार्थ ने (एक ओर रोहिणी नदी के जल को लेकर युद्ध करने की तत्परता नहीं दिखाई, और बाद में उन्होंने) पत्नी और पुत्र को भी छोड़ दिया-वह क्या पलायन नहीं है?, क्या पिता के रूप में वे अपनी जिम्मेवारी से भाग निकले-ऐसा नहीं कहा जायेगा?-इस सन्दर्भ में, ऐसा विचार प्रस्तुत किया गया है कि जिस धर्मशीला पत्नी यशोधरा ने "नदियों का जल सब के लिए बह रहा है" कहा था, उसकी इस महाभिनिष्क्रमण में अनुमति होगी ही,ऐसी मूकसम्मति वे मान लेते हैं। रही बात पुत्र को छोडने की। तो सिद्धार्थ ने ऐसा सोचा है कि राहुल के पास कम से कम उसकी माता तो है ही, (मेरे भाग्य में तो वह भी नहीं था) इस विचार से वे पुत्र को भी छोड पाते हैं। तत्पश्चात्, वे छन्नक के घर जा कर, कंथक नाम के अश्व को ले आने को कहते हैं। छन्नक पूछता है कि-इस मध्यरात्रि के समय में, आप मेरे घर क्यूं आये?, तो सिद्धार्थ ने बताया:--

वार्धक्यं रुग्णता वा श्वसनविधिरयं दुःखसंवेदनायै
दुस्तर्पा या क्षुधा सा परिभवति वयः किं न पश्येद् बुधोऽपि।
आकाशेऽयं पतङ्गः परिचलति सदा मस्तके कालचक्रं
बद्धः पाशेन मृत्योस्तदपि विचलितो ना भवेयं कथं वै॥ २-१२।

छन्नक अश्व कंथक को लेकर आता तो है, परन्तु उसके मन में भी भयपूर्ण आशंका रहती है कि कल अमात्य मुझे क्या करेंगे? एवमेव, देवी यशोधरा भी क्या कहेगी? तीसरी ओर देखें तो, कंथक को ले आने की आज्ञा देनेवाला युवराज है। उसका मानसिक तनाव बढ जाता है। सारथि बोलता है:-एकाधिका प्रभुता व्याहन्ति परिजनम्। अगतिकतया वह अश्व को ले आता है। वह सिद्धार्थ को लेकर चल पडता है। दूसरी ओर, सिद्धार्थ भी प्रतिज्ञा वचन उच्चारता है कि जब तक दुःख का कारण एवं मुक्ति का उपाय ढूँढ नहीं पाउँगा तब तक मैं कपिलवस्तु में वापस नहीं लौटूँगा। तत्पश्चात् नेपथ्य से नैष्क्रामिकी ध्रुवा का गान होता है:-

युक्त्या संग्रस्यते व्यालो, वाजी वल्गासु गृह्यते।
आलाने बध्यते हस्ती, संवेगो नैव रुध्यते॥ २-१३॥

अर्थात्-विषधर नाग को युक्ति से पकड़ा जा सकता है, घोड़े को लगाम से संयमित किया जा सकता है, गजराज को बड़े स्तम्भ के साथ बांधा जा सकता है, किन्तु किसी विरक्त संवेगवान् को कोई रोक नहीं सकता है। यहाँ द्वितीय अंक सम्पन्न होता है।।

"धर्मचक्र-प्रवर्तन" नामक **तीसरे अंक** का आरम्भ होता है:-आरम्भ में "प्रवेशक" आता है। रंगभूमि पर आया विदूषक उस माण्डव्य को खोज रहा है कि जिसने एक अंगुलि उठा कर कहा था कि राजकुमार चक्रवर्ती बनेगा। क्योंकि आज तो राजकुमार का *"अदर्शनं लोपः"* हो गया है! सिद्धार्थ के द्वारा किये गये गृह-त्याग से राजभवन में सन्नाटा छा गया है। अमात्य उदायी ने सभी ज्योतिर्विदों को नगर से बाहर चले जाने को आदेश दिया है। इस राजाज्ञा के अनुसन्धान में नगर को छोडते हुए कौण्डिन्य कहता है कि कपिलवस्तु में अब उसकी आजीविका समाप्त हो गई है। फिर भी उसका मन इस बात पर आश्वस्त है कि अन्त में बुद्ध ही सब के लिए अनुसरणीय बनने वाले हैं।।

प्रथम दृश्य में सिद्धार्थ और राजा बिम्बिसार का वार्तालाप प्रस्तुत होता है। सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु का त्याग करके, राजगृह के पास आयी पाण्डव पहाडियों में कुटिर बना कर तपश्चर्या का आरम्भ किया है। इस वृत्तान्त को सुन कर, बिम्बिसार वहाँ आता है और सिद्धार्थ को घर वापस लौट जाने को समझाता है।

यौवने भोगरताः स्युः युद्धचर्या यशस्विनी।
भुक्तभोगाय वृद्धाय विश्रान्तिस्तु सुशोभते॥ ३-३॥
यौवने शोभते नित्यं बाणवर्षा निरन्तरा।
यौवने न श्रुता दृष्टा तपश्चर्या कुतश्चन॥ ३-४॥

क्षत्रियोचित जीवन होना चाहिए, यज्ञ-यागादि से पारमार्थिक कल्याण को साधना चाहिए, पिता शुद्धोदन से यदि कोई विरोध, अनबनी हो तो ऐसी स्थिति में वह अपने राज्य का आधा हिस्सा भी सिद्धार्थ को देनी की तत्परता दिखता है। सिद्धार्थ ने बिम्बिसार की साहाय्य करने की तत्परता की सराहना की। तथापि उनकी किसी भी तरह की साहाय्य लेने की बिलकुल इच्छा नहीं है-ऐसा बड़ी विनम्रता के साथ कहा। सिद्धार्थ ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि-

मुक्ताकाशे विहगहननात् प्राप्यते नैव सौख्यम्
युद्धं कृत्वा सकलजगतां रोहिणीं वा न कांक्षे।
व्यर्थो यत्नो यजनविधिना, गम्यते किं द्युलोकं
दुःखं ज्ञातुं कथमभिमुखो ना भवेयं सुतप्तः॥ ३-६॥

उनको पक्षियों के शिकार करने में, युद्ध करके रोहिणी नदी का जल छिन लेने में, या यजनादि विधियाँ करके द्युलोक में पहुँचने का कोई उत्साह मेरे मन में नहीं है। सारांशतः, सिद्धार्थ को तथाकथित सुखों में सुख दिखता ही नहीं है। क्योंकि सुख-प्राप्ति के लिए किया गया कोई भी पुरुषार्थ अन्ततो गत्वा दुःख को निमन्त्रण देता ही है। ऐसी वास्तविकता में वह *दुःखं ज्ञातुं कथमभिमुखो ना भवेयं सुतप्तः।* (3-6) दुःख का कारण एवं उसके उन्मूलन का उपाय खोजने को ही प्राथम्य देना चाहता है। यह सुन कर, बिम्बिसार निरुत्तर बनता है, वापस लौट जाता है।

इसी दृश्य के उत्तरार्ध में, सिद्धार्थ के साथ तपश्चर्या करने वाले पंच वर्गीय तपस्वियों का वार्तालाप होता है (जिससे प्रेक्षकों को मालूम होता है) कि सिद्धार्थ ने भारी अनशन का व्रत करके, अपनी काया को यहाँ तक कृश कर दी थी कि वे अपनी नाभि के भाग से मेरुदण्ड की हड्डी को स्पर्श कर सकते थे। इस वार्तालाप के दौरान प्रेक्षकों को यह जानने को मिलता है कि-माण्डव्य कपिलवस्तु से निकल कर, जहाँ सिद्धार्थ तपश्चर्या कर रहा था वहाँ पहुँचा था और उसने कौण्डिन्य को यह कहा कि अब तो रोहिणी नदी का विवाद शान्त हो गया है, युद्ध टल गया है। अतः सिद्धार्थ चाहे तो घर-वापसी कर सकता है! एक कुटिलमति ज्योतिर्विद् अपनी भविष्यवाणी सही ठहराने के लिए इस हद तक भी पहुँचा था। लेकिन सिद्धार्थ तो फिर से घोषित करते हैं कि-वे शत्रुओं की सेना के साथ नहीं, बल्कि दुःखों की सेना के साथ ही युद्ध करने के लिए कृतसंकल्प

है, दृढसंकल्प है:-

संवेगाद् बहिरायातो, युद्धान्न च पलायितः।
गृहं नैव गमिष्यामि, योत्स्येऽहं दुःखसेनया।। ३-७।।

इसको सुनते ही पंच वर्गीय भिक्षु आश्वस्त होते हैं। वे सोचते हैं कि तभी तो सिद्धार्थ के साथ रह कर हम अनशनपूर्वक तपश्चर्या को आगे बढ़ायेंगे। किन्तु दूसरी ओर, वे जब यह जानते हैं कि सिद्धार्थ ने अभी अभी अपना निर्णय बदला है। क्योंकि उन्होंने अनुभव से जाना है कि-ऐसे घोर अनशन से ध्यान सिद्ध नहीं होगा। मध्यम-मार्ग पर चलने से ही चित्त की एकाग्रता सुकर होगी। अतःउन्होंने अन्नग्रहण करना शुरू किया है तो वे हताश भी होते हैं। परिणामतः वे पाँचों सिद्धार्थ को छोड कर, वाराणसी के पास आये ऋषिपत्तन में चले जाते हैं। अब सिद्धार्थ अकेला ही अपने साधना-मार्ग पर चलने का आरम्भ करता है।

सिद्धार्थ ने भी जब से अन्न-ग्रहण करना शुरू किया है तब से उसकी स्वप्नावस्था में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं कि इसी मार्ग पर चलते हुए उसको सफलता मिलेगी। जब वैशाखी मास की पूर्णिमा थी और सिद्धार्थ अश्वत्थ वृक्ष के नीचे आसन लगा कर बैठ जाते हैं।

अब, दूसरा दृश्य शुरू होता है। जिसके आरम्भ में, सुजाता नाम की कन्या सुवर्णपात्र में पायस ले आती है तथा सिद्धार्थ को भिक्षान्न के रूप में समर्पित करती है। इस पायस को ग्रहण करके, सिद्धार्थ फिर से ध्यानमग्न हो जाते हैं। तत्पश्चात् बौद्ध साहित्य में सुविदित "मार-विजय" का प्रसंग निरूपित किया गया है। रंगमंच पर मार का प्रवेश अपटीक्षेपेण होता है। यहाँ पर पहले, अन्यापदेश से भरी एक आक्षेपिकी ध्रुवा का गान होता है, जिससे प्रेक्षकों को सूचित किया जाता है कि-सिद्धार्थ की तपश्चर्या में कोई भारी विघ्न आ रहा है:-

कमलनिकरे त्वाकृष्टो यः करी विगताङ्कुशः
विहगवसतौ संक्रान्तो यः करालभुजङ्गमः।
अभिमुखगतो हन्तुं वन्यं योऽयं युवशार्दुलः
सकलभुवनं भेत्तुं स्थितो, नान्योऽन्तक एव सः।। ३-११।।

श्रेयांसि बहुविघ्नानीति न्याय से,जो व्यक्ति किसी पारमार्थिक उत्कृष्ट कार्य करने को उद्यत होता है तो उसके जीवन में काम-पुरुषार्थ एवं अर्थ-पुरुषार्थ के प्रेरक बल स्वरूप रति, अरति (=ईर्ष्या), द्वेष, तृष्णा, अधर्म, लोभ, क्षुधा, भय, आलस्य आदि अनेक विघ्नकारिणी मनोवृत्तियाँ सक्रिय हो जाती हैं। इनको ही मार की सेना माना गया है। मार न केवल कामदेव का स्वरूप है, बल्कि वह तो उपर्युक्त नकारात्मक मनोवृत्तियों का स्वामी भी है, जो तपश्चर्या कर रहे सिद्धार्थ के मार्ग में भारी मानसिक संघर्ष पैदा करता है। मार एवं उसकी पूर्वोक्त

रूपकात्मक सेना के द्वारा किये गये आक्रमण का नाट्यात्मक मंचन प्रस्तुत किया गया है। मार कहता है कि-

विस्मृत्या जनयामि रागसहितां सद्धर्महानिं सदा
संस्मृत्या[1] वितनोमि सौख्यशतकं प्रासादकक्षे स्थितम्।
स्वप्ने दृष्टयशोधरं मुनिवरं संजातपीडान्वितं
गर्विष्ठोऽस्मि मदीयसैन्यसहितो मथ्नामि वैरागिणम्॥ ३-९॥

सिद्धार्थ तो मार के भयानक आक्रमण के सामने अक्षोभ्य रहता है, परन्तु स्वर्गलोक के देवता प्रार्थना करने लगते हैं कि-हे मार! तुम्हारा यह कार्य अनुचित है। जगत्कल्याण के लिए संवर्धित हो रहे इस ज्ञानद्रुम को छिन्न-भिन्न करना ठीक नहीं है, भविष्य में यह व्यक्ति जंगम कल्पवृक्ष सिद्ध होने वाला है। दुनिया का यह महाभिषक् है, जो दुनिया के लिए ज्ञानौषधि खोजने निकला है।

सर्वाश्रयं विकसितं प्रथमैकवारं
ज्ञानद्रुमं परिणतं नवधर्मयुक्तम्।
पुष्टिं प्रयातु सकलेषु धरातलेषु
हे मार, नार्हसि कदापि छलेन छेत्तुम्॥ ३-१२॥

धीर-प्रशान्त सिद्धार्थ इस आक्रमण के दौरान मार के सामने अविचल खडे रहते हैं, मार हताश हो कर निवृत्त होता है। अन्त में, सिद्धार्थ दुःखकारिका तृष्णा को पहचान लेते हैं। तथा घोषित करते हैं कि हे तृष्णे! अब मैंने तुम्हें गृहकारिका के रूप में पहचान लिया है। तू अब कदापि मेरे सामने सफल नहीं हो पायेगी यह निश्चित है। तब वे सिद्धार्थ से "सम्यक् सम्बुद्ध" बनते हैं।

बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाने के बाद तृतीय दृश्य में, बुद्ध के सामने ब्रह्मदेव प्रकट होते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि-आप विश्व-कल्याण के लिए धर्मोपदेश करने से विमुख न हो जायँ। संसार को अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकालो। तत्पश्चात् बुद्ध अपने पुराने साथी तपस्वियों को खोजते हुए ऋषिपत्तन पहुँचते हैं। वहाँ पहले तो, उन पंच वर्गीय भिक्षुओं ने बुद्ध का स्वागत-सत्कार नहीं करना है ऐसा निश्चय किया था। किन्तु क्रमशः वे बुद्ध के प्रभाव में खड़े हो ही जाते हैं और सत्कार भी करते हैं। वे पाँचों भिक्षुओं बुद्ध के मुख से पहले मध्यम-मार्ग का सार रूप से श्रवण करते हैं। बुद्ध ने बताया कि-

रोग इन्द्रियभोगेन, योगो नानशनेन वै।
अतिद्वयं सदा त्याज्यं, मार्गोऽयं खलु मध्यमः॥ ३-२३॥

---

1. द्रष्टव्यः-विषस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तम् अन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि॥-मणिचूडावदानम्॥

तत्पश्चात् बुद्ध चार आर्य सत्य एवं अष्टांगिक मार्ग इत्यादि का उपदेश भी सुनाते हैं:-इदं खो भिक्खवे! दुक्खं अरिय सच्चं, जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, व्याधि पि दुक्खो, मरणमपि दुक्खं।। (विनय पिटक, महावग्ग पाळी, महाक्खन्धको, गद्यखण्ड-14)। सूत्रात्मक रूप से बौद्ध-दर्शन को यूं कहा जाता है:-"सर्वं दुःखम्। सर्वं क्षणिकम्। सर्वं शून्यम्।" अपने प्रथम धर्मोपदेश में इसका उपन्यास करते हुए बुद्ध ने कहा है कि-अप्पियेहि संप्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तमपि दुक्खं। संखितेन, पञ्चुपादान क्खन्धा दुक्खा।। (विनयपिटक, तत्रैव)। इसका संस्कृत में रूपान्तर इन शब्दों में श्लोकबद्ध किया गया है:-

दुःखकृदप्रियं भाति, प्रियस्यापि वियोजनम्।
अप्राप्तिरीप्सितस्य या, प्राप्तिर्भवेदवाञ्छिता।। ३-२४।।

आदौ सुखं प्रतीयेत, तद् दुःखेनानुगम्यते।
सर्वं दुःखान्वितं मन्ये, गतदुःखं न विद्यते।। ३-२५।।

"सर्वं दुःखम्" का उपदेश देने के बाद, बुद्ध ने वैचारिक स्वातन्त्र्य देते हुए यह भी कहा कि मेरे विचारों का केवल श्रद्धा या भक्ति से ही स्वीकार नहीं करना। मेरी बात की कठिन परीक्षा करके, यदि आपकी बुद्धि से भी वह उचित लगे तो उसका स्वीकार करना। "आत्मदीपो भव" व्यक्ति स्वयं अपना दीपक बनें यही सम्यक् दर्शन हो सकता है।। तत्पश्चात् उन्होंने वर्जनीय पंचशीलों का उपदेश दिया। जैसा कि-यो खो ब्राह्मण, पसन्नचित्तो सिक्खापदानि समादियति। पानातिपाता वेरमणिं, अदिन्नादाना वेरमणिं, कामेसु मिच्छाचारा वेरमणिं, सुरा-मेरय-मज्ज-पमादात्थाना वेरमणिं। (दीग्घनिकाये महावग्गो) इन पंचशीलों का अनुवाद इन शब्दों में किया है:-

अहिंसामुत्कृष्टां प्रथयतु मुदा स्वं त्यजतु वा
नदत्तं न ग्राह्यं, भवतु मरणं दैन्यसहितम्।
स कामोऽसंतोष्यो, विरमतु सदैव व्यभिचरात्
न पेया वाच्यं वाऽमधुरमदिरा वाऽनृतवचः।। ३-२८।।

उसके बाद वे दो सूचनाएं देते हैं:-1. उन पंचवर्गीय भिक्षुओं को भिन्न भिन्न दिशा में जा कर बुद्धोपदेश शुरू करना हैं तथा जो प्रव्रज्या लेना चाहे उसको बुद्ध के पास ले आना। बुद्ध उसको उपसम्पदा (संन्यास) देते थे। 2. जो अश्वजित नामका पंचवर्गीय भिक्षु था, उसको उन्होंने वाराणसी में जाने की सूचना दी। यहाँ एक नैष्क्रामिकी ध्रुवा रखी है, जिसमें घोषित होता है कि-*समारब्धे च बुद्धेन धर्मचक्र-प्रवर्तने। पञ्चवर्गीय-भिक्षूणां संघरत्नं प्रकाशितम्।सदा संघे भवेच्छक्तिर्ज्ञानं*

देष्टुं सुबोधिजम्। तृतीयं कान्तिमद्रत्नं शरण्यं सततं तथा।। (3-26) बौद्ध-धर्म के प्रथम संघ की रचना होने से बौद्ध धर्म में जिसकी तीसरे रत्न के रूप में गिनती होती है वह "संघ" की रचना का कार्य सम्पन्न होता है। भगवान् बुद्ध के द्वारा ऋषिपत्तन (वर्तमान सारनाथ, वाराणसी) में किये गये इस प्रथम उपदेश को "धर्मचक्र-प्रवर्तन" नाम दिया गया है। अत: इस अंक का नाम भी वही है।।

उग्रातिउग्र तपश्चर्या से बुद्धत्व की जो प्राप्ति हुई, उसके लिए मार के साथ सूक्ष्म लड़ाई लड़नी पड़ी-वह बुद्ध के जीवन की पहली अप्रतीम सिद्धि है। उस सिद्धि के बाद, उन्होंने जो बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय धर्मचक्र-प्रवर्तन किया, वहाँ से बुद्ध के जीवन का दूसरा चरण शुरू होता है। बुद्ध केवल वैयक्तिक निर्वाण से न रुके, बल्कि जिस उत्साह के साथ वे जनकल्याण के लिए सद्धर्म का उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुए और उस लोकसंग्रह के कार्य में भी जो बाधाएं आयी हैं वह उल्लेखनीय है। उनका निरूपण किये बिना इस नाटक का शीर्षक (धर्मचक्र-प्रवर्तन) चरितार्थ नहीं हो सकता है। बुद्ध के जीवन के इस द्वितीय चरण का आलेखन अन्तिम दो अंकों (चतुर्थ एवं पंचम)में किया गया है:-

"सद्-धर्मोपदेश" (=उपेक्षा-मुदिता, मैत्री, करुणा का उपदेश) नामक चतुर्थ अंक के आरम्भ में "प्रवेशक" है। विदूषक आश्चर्य व्यक्त करता है कि बुद्ध का यान ही एकमात्र यान माना जा रहा है! सभी लोग बौद्धधर्म की दीक्षा ले कर, प्रव्रजित हो रहे हैं। अत: विदूषक वाराणसी से वापस लौटे भिक्षु अश्वजित को इस विषय की पृच्छा करता है। वह बताता है कि वाराणसी के धनाढ्यों के कुलपुत्र यश ने पहले प्रव्रज्या ली, उसका अनुसरण करके अन्य चार मित्रों ने भी प्रव्रज्या ली। उसके पीछे पचास जानपद, तीस भद्रवर्गीय गृहस्थियों ने प्रव्रज्या ले ली। उसके बाद, शारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने गुरु संजय को छोड कर बुद्ध से (तथा संजय के अन्य 250 शिष्यों ने भी) प्रव्रज्या ले ली। (यही शारिपुत्र और मौद्गल्यायन आगे चल कर बुद्ध के दो प्रधान शिष्य घोषित हुए।) जाते जाते भिक्षु अश्वजित बताता है कि न्यग्रोधाराम में, मध्याह्न में बुद्ध का प्रवचन होता है। यदि कोई जिज्ञासा है, तो वहाँ कभी आ जाना। अब विदूषक का मन सोचने लगता है कि-बौद्धसंघ में भिक्षुओं की दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धि हो रही है, तो लौकिक दृष्टि से ईर्ष्याग्रस्त इस संसार में क्या क्या हो सकता है?। सिद्धार्थ का बचपन का दुश्मन देवदत्त अब क्या करेगा? दूसरी ओर, ज्योतिर्विद् माण्डव्य कुछ रहस्य की जानकारी ले कर "अपटीक्षेपेण" प्रवेश करता है। माण्डव्य के अपटीक्षेप-प्रवेश के पीछे रही व्यंजना को वाचा देने के लिए नेपथ्य से एक अन्यापदेश से भरी "आक्षेपिकी ध्रुवा" का गान होता है:-

व्याधो जाले ग्रसति हरिणं, मोचनं नो भवेद्वा
पूर्णश्चन्द्रो नभसि सुगतो ग्रासमुक्तो न जातः।
भूयः सिक्त्वा मधुरसलिलं जीवनं वाहयन्त्यो
दिव्या नद्यस्तदपि पतनं रोधनं दुःसहन्ते।। ४-२।।

जो आशंका विदूषक के मन में सहजतया स्फुटित हुई थी कि बाल्यावस्था में, जिस देवदत्त ने सिद्धार्थ के साथ आमरणान्त वैर रखने की प्रतिज्ञा की थी वह बुद्ध के शिष्य-समूह में हो रही अभिवृद्धि को सुन कर शान्त नहीं बैठा रहेगा। वही बात लेकर माण्डव्य आया है कि उसको रास्ते में देवदत्त मिल गया था, जो राजगृह की ओर जा रहा था। उसने बुद्ध के पास जा कर, कहा है-अब तुम बूढ़े हो गये हो। अतः बौद्ध भिक्षुओं का संघ मुझे दे दो। मैं आपके संघ का नेतृत्व करुँगा। मैं संघ का अधिपति बनना चाहता हूँ। किन्तु बुद्ध ने ऐसा करने से मना कर दिया। अतः वह विशेष रूप से नाराज है। देवदत्त, क्योंकि बुद्ध के संघ की महन्ताई करना चाहता था, परन्तु उसमें विफलता मिलने पर वह बौद्ध-संघ में भेद पैदा करने वाला है। लेकिन ज्योतिषी को तो उसमें भी अपने अभीष्ट परिणाम की सिद्धि दिख रही है। यदि बौद्धसंघ छिन्न-भिन्न हो जायेगा तो सिद्धार्थ फिर से घर-वापसी कर लेगा और उसका भाविकथन सही ठहरेगा। अब, विदूषक सोचता है कि एक ओर ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार ग्रहनक्षत्रादि ही संसारचक्र को चलाने वाले हैं, तो दूसरी ओर दार्शनिक लोग कहते हैं कि-काम-क्रोधादि जो षड् रिपु हैं वही संसारचक्र को घूमाते हैं। अतः देखना यही है कि संसारचक्र को घूमानेवाले इन तत्त्वों के सामने भगवान् बुद्ध कौन से नये विचार रखते हैं?। तो काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर की भावनाओं से जो नये दुःख पैदा होते हैं, (जो जरा, रोग, मरण जैसे अनादिसिद्ध दुःखों से भिन्न हैं) उनका नियमन किन भावनाओं से किया जा सकता है?। बुद्ध ने इस विषय में, उपेक्षा, मुदिता, मैत्री और करुणादि की छह भावनाओं का परिपोषण करने का उपदेश दिया है। ग्रहनक्षत्रों से सब कुछ होता है, या फिर बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट नये मार्ग से क्या हो सकता है?-वह जानने के लिए विदूषक कहता है कि वे दोनों मध्याह्न प्रवचन को सुनने के लिए, कभी जायेंगे। यहाँ "प्रवेशक" पूर्ण होता है। इस प्रवेशक से दो भावि प्रसंगों का ईशारा मिलता है:-1. देवदत्त ने ईर्ष्याग्रस्त हो कर क्या किया होगा? तथा 2. बुद्ध के द्वारा आचरित मैत्री-मुदितादि की भावनाओं का परिणाम क्या आ सकता है?।

बुद्ध का धर्मचक्र-प्रवर्तन इस नाटक का केन्द्रीकृत विषय है। लेकिन बुद्ध के जीवन में, द्वितीय चरण में हुई उस धर्मचक्र की घटना में भी अनेक अवरोध आये थे-उनका निरूपण किये बिना नाटक के शीर्षक का चारितार्थ्य नहीं हो

सकता था। इस लिए इन अवरोधों को चतुर्थांक का विषय बनाया गया है। जैसे कि--बाल्यावस्था के विरोधी (प्रतिनायक) देवदत्त ने 1. राजा अजातशत्रु की साहाय्य से बुद्ध की हत्या करवाने का षड्यन्त्र रचा, 2. उसमें विफल हो जाने पर, उसने स्वयं गृध्रकूट पर्वत से बडी शिला बुद्ध पर गिरा कर, उनको मारने का प्रयास किया। लेकिन बुद्ध भाग्यवशात् बच गये। 3. देवदत्त ने भिक्षुओं के संघ में फुट पडाई और कतिपय भिक्षुओं को लेकर, उसने नया संघ बना लिया। अपनी अलग महन्ताई शुरू कर दी। तो अपने नादान शिष्यों को सम्यक् ज्ञान दे कर, वापस बौद्धसंघ में ले आने का कार्य भी करना पडा[1] था।

अब चतुर्थांक के प्रथम दृश्य में-न्यग्रोधाराम में बुद्धसभा चल रही है। भगवान् बुद्ध उपेक्षा-मुदिता-मैत्री-करुणा-अशुभ और अनित्यता की ६ भावनाओं का परिपोषण करने की देशना दे रहे हैं। यह एक तरह का धर्मवाद ही है, जिसमें शिष्य शारिपुत्र ने प्रश्न उठाया और बुद्ध उसका समाधान दे रहे थे। किन्तु यह केवल वाद ही न रह कर, बुद्धोपदिष्ट भावनाओं से विपरीत असूयादि की भावनाओं से देवदत्त के द्वारा संघ को क्या नुकसान हो रहा है?-उसकी व्यावहारिक चर्चा में परिणत हो जाती है। देवदत्त ने किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा बुद्ध का वध करवाने की योजना बनाई थी, जिसमें वह निष्फल होता है। उसके बाद स्वयं भी प्रयास करता है। जिसको सुन कर, शिष्य आनन्द और मौद्गल्यायन ने बुद्ध की रक्षा करने की एक योजना बनाई। किन्तु बुद्ध ने इसकी मनाई की,तथा देवदत्त की उपेक्षा ही करने को कहा। तत्पश्चात् उन्हों ने जब शारिपुत्र के मुख से यह जाना कि देवदत्त कतिपय बौद्धभिक्षुओं को संमोहित करके, बौद्धसंघ में से उठा कर पलायन कर गया है। तब ऐसे प्रमाद को सुन कर बुद्ध व्यथित भी होते हैं। और शारिपुत्र को आज्ञा करते हैं कि किसी भी तरह का कौशल दिखा कर, उन भिक्षुओं की संघ वापसी करवाई जाय। अन्यथा, वे भोले भिक्षु, जो निर्वाण की अभिलाषा से हमारे साथ जुडे थे, वे पुनरपि भोगविलास में डूब कर विनष्ट होंगे। उन पर दया करने की तात्कालिक आवश्यकता है। शारिपुत्र भी सम्मति बताता है कि त्रिरत्न की परिरक्षा करना हमारा प्रथम कर्तव्य है। एक ओर शारिपुत्र देवदत्त के निवास की ओर प्रस्थान करता है, तो दूसरी ओर भगवान् बुद्ध पिण्डाचार की वेला होने से, भिक्षा मांगने के लिए चल देते हैं।

---

1. 4. नालागिरि नामके उन्मत्त हाथी के द्वारा भी बुद्ध को मरवा डालने का प्रयास किया गया। परन्तु बुद्ध ने मैत्रीजल का अभिषेक करके, उस हाथी को वशीभूत कर लिया। 5. देवदत्त ने सिद्धार्थ के गृहत्याग के बाद, यशोधरा से पुनर्विवाह का प्रस्ताव भी भेजा था। यानी वह निरन्तर बुद्ध के जीवन को अस्त-व्यस्त करने में ही लगा रहा था। इन दो प्रसंगों का निर्देश पंचमांक में किया गया है।

द्वितीय दृश्य में, बुद्ध एवं पूर्ण नामके भिक्षु के बीच में संवाद होता है। इसमें मैत्री-भावना का एवं धर्मोपदेश के लिए आवश्यक सहिष्णुता का निदर्श प्रस्तुत किया है। (सन्दर्भः-मज्झिमनिकाय) विशेष में, बुद्ध ने उपदेश दिया कि हमें पृथिवी से उपेक्षा सीखनी चाहिए और जल से मैत्री सीखनी चाहिएः-

भ्रष्टीकर्तुं क्षिपति मलिनं मानुषो हा धरित्र्यां
मौनं धृत्वा तदपि सहते धन्यधन्या तितिक्षा।

निन्द्यः पापी पिबति सलिलं पुण्यशाली यथैव
पानाच्छोधाद् भुवनसरिता वार्यते नैव कश्चित्।। ४-६।।

तृतीय दृश्य के आरम्भ में, राजा विश्वजित बुद्ध के उपदेश वचनों को सुनने के लिए आया है। बुद्ध उनके सांनिध्य में जो भी आता था उसको पहले ब्रह्मचर्य का पालन करने का उपदेश ही देते थे। जो बात उन्होंने विश्वजित को भी इन शब्दों में कहीः-*भीमा करोति वासं न व्याघ्री संदीपिते वने। शुभकारिणी प्रज्ञापि न पुरुषेषु कामिषु।। ४-८।।* तत्पश्चात् विश्वजित यह जानना चाहता है कि-एक राजा के लिए करुणा का आश्रय कैसे सम्भव है? क्योंकि उसने तो अपने गुरुओं से यही सुना था कि-दण्डनीति ही सर्वार्थ-साधिका है। तब भगवान् बुद्ध ने करुणा का महिमा प्रदर्शित करने के लिए अपनी अलौकिक योगसिद्धि से अतीत का दर्शन करवाया। उसमें देवराज इन्द्र बने बोधिसत्त्व ने दानवों के हाथ से मृत्यु हो जाय तो वह भी स्वीकार्य है, लेकिन किसी भी हाल में वृक्षों की शाखाओं में बने पक्षियों के घोंसले में रहे पक्षी-शावकों की मौत नहीं होनी चाहिए ऐसा कहते हुए अपनी करुणा का उत्कृष्ट उदाहरण पेश कियाः-

दृश्यन्ते तृणनीडपूर्णतरवो गच्छेद्रथो मे कथं
भक्ष्यान्वेषणबुद्धयः खगमना आशान्विता सन्ततौ।

सायंकालसमागमे हतशिशून् दृष्ट्वा मरिष्यन्ति ते
मृत्युः कोटरपक्षिणां न तु वरं, स्यान्मामकीनो वधः।। ४-१०।।

इस तरह से प्राणत्याग की तत्परता दिखानेवाली करुणा के प्रभाव से चमत्कार होता है। "इन्द्र को शायद कोई नयी शक्ति मिल गई है, तभी वह वापस आया होगा"-ऐसे भ्रान्तिग्रस्त हुआ दानवगण रणसंग्राम को छोड़ कर भाग जाता है और देवराज इन्द्र की जित होती है! बुद्ध का उपदेश केवल बातचीत के स्वरूप का न रह जाय, उसके कोई ठोस उदाहरण भी दिखाना चाहिए। इस लिए यहाँ शक्र-जातक कथा का विनियोग किया गया है। इस तरह से, करुणा की भावना का उपदेश ज्यादा प्रतीतिकर सिद्ध हो सकता है।

प्रतिनायक देवदत्त की ईर्ष्या(=अरति)जनित अनिष्टकारिणी प्रवृत्तिओं के साथ साथ, उसके प्रतिपक्ष में भगवान् बुद्ध ने उपेक्षा, मुदिता, मैत्री, करुणा, अशुभ एवं अनित्यता की षड्विध भावनाओं का उपदेश दिया है। किन्तु इनमें से पहली चार भावनाओं के उदाहरणों को ही चतुर्थांक का विषय बनाया है। अन्त में, इस अंक में सम्पन्न हुए कार्य का उपसंहार–*उपेक्षा मुदिता मैत्री करुणा चैव भूतले। प्रसारिता प्रबुद्धेन, तं नुमो विश्वनायकम्।।* (4-12) इस नैष्क्रामिकी ध्रुवा से किया है। यहाँ अंक की समाप्ति होती है।।

"नारी (भिक्षुणी) का संघ में प्रवेश" नामक **पञ्चम अंक** के आरम्भ में एक प्रवेशक है, जिसमें विदूषक एवं माण्डव्य के बीच संवाद होता है। इससे प्रेक्षकों को मालूम होता है कि–1. शारिपुत्र उन विपथगामी भिक्षुओं को देवदत्त की चुंगाल से छुडवा कर, बौद्धसंघ में वापस ले आया है। तथा 2. बुद्ध को मार डालने के लिए देवदत्त ने फिर से बुद्ध के सामने एक चण्ड नालागिरि हस्ती को भेजा था। लेकिन बुद्ध ने मैत्रीजल से उसको अभिषिक्त किया, उससे उन्मत्त हस्ती भी विनम्र हो कर वापस हस्तिशाला में चला गया था। इन प्रसंगों के कारण बुद्ध का जयघोष सर्वत्र सुनाई रहा है। तथापि माण्डव्य तो वही अपनी पुरानी जल्पना से रुकने का नाम नहीं लेता है। माण्डव्य का कहना है कि ग्रहों के प्रभाव से बुद्ध घरवापसी करेंगे और पुत्र राहुल के मोह में फंस जायेगे। *(ग्रसिष्यन्ति प्रबुद्धं तं राहुरिव राहुलः।)* विदूषक पूछता है कि–यदि ऐसा नहीं हुआ तो तुम क्या करोंगे?–उसका पहले निश्चय करो। तब माण्डव्य कहता है कि यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह भी बौद्ध भिक्षुओं के संघ में संमीलित हो जायेगा। यहाँ प्रवेशक समाप्त होता है।

प्रथम दृश्य में, एक प्रावेशिकी ध्रुवा रखी है:-

व्याप्तं वैरं सकलभुवनाद्यो निराकर्तुकामः
आयातः सः कपिलनगरं दुःखबीजं मथित्वा।
दर्शं दर्शं सुकृतसकलं सम्मुखे भासमानं
का सा, कान्या विचलितमना त्यक्तुकामा समग्रम्।।

(इससे सूचित किया जाता है कि कौन है वो, क्या कोई दूसरी नारी है जो यशोधरा के बराबर हो?–अर्थात् इस अंक में, यशोधरा का (पुत्र रूप) सर्वस्व का त्याग एवं अपने जीवन को भी बौद्धधर्म के प्रचार में लगाने की तत्परता निरूपित होनेवाली है।) द्वारपाल ने आकर, सूचना दी कि आज कपिलवस्तु में बुद्ध भिक्षाचार के लिए प्रवेश करने वाले हैं। इसको सुनते ही रानी महाप्रजापति विलाप करना शुरू करती है कि जिन आंखों से युवराज को देखा है, क्या उन्हीं आंखों

से उसको भिक्षुक के रूप में देखना है? वह राजा को सलाह देती है कि भाग्यवशात् दूसरा मौका मिल रहा है कि हम उसको फिर से राजगृह में रहने को विवश कर दे। प्रतिपक्ष में शुद्धोदन अपनी रानी को याद दिलाने की कोशिश करते हैं कि पुत्र सिद्धार्थ ने कैसे उनको परवश करके, गृहत्याग कर लिया था। वह अब "बुद्ध" बना है-इस हकीकत को स्वीकार कर लो। लेकिन मातृ-हृदय इसको कैसे स्वीकार करें?, साथ में वह यह भी कहती है कि सिद्धार्थ की पत्नी भी चिरकाल से उसकी प्रतीक्षा कर रही है। बस, इसी क्षण काषायवस्त्रधारिणी यशोधरा (अपने पुत्र राहुल के साथ) वहाँ आती है। वह भी बताती है कि छोटे बालक ने गवाक्ष से देख लिया है कि कोई भिक्षु अपने शिष्यों के साथ घर घर में जा कर भिक्षाटन कर रहा है। और वह भिक्षु और कोई नहीं, बल्कि वह सिद्धार्थ ही है। यशोधरा मानती है कि उन्होंने लोकहित के लिए गृहत्याग किया है, तथापि वह अपनी आँखों के सामने हो रही भिक्षावृत्ति को देख नहीं सकती है। यह उससे सहा नहीं जा रहा है। वह राजा शुद्धोदन को विज्ञप्ति करती हैं कि-आप तुरंत जा कर उसको भिक्षा मांगने से रोको। शुद्धोदन जाते भी है और बुद्ध को सशिष्य राजप्रासाद में भिक्षा के लिए निमन्त्रित करके, बुला ले आते हैं।

बुद्ध जैसे ही उस कक्ष में प्रवेश करते हैं, यशोधरा उनके चरणों में गिर पडती है, बहुत देर तक निहारती रहती है। वह विलाप करती हुई बताती है कि-"देव!,.. कुत्र गतवान्?। अहमपि सहैव गन्तुं समर्थाऽऽसम्, अधुनापि .. समुत्सुका।" इसके प्रतिभाव में बुद्ध तो निश्चल, निर्लिप्त खडे रहते हैं। तब शुद्धोदन उनको बिठाने को कहते हैं। अब, शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन के मध्य में बुद्ध आसन ग्रहण करते हैं। दो शिष्य श्लोकगान करते हुए बताते हैं कि-बुद्ध यहाँ धर्मदेशना देने के लिए आये हैं, कोई राज्यधुरा धारण करने को नहीं आये हैं। यहाँ पर महाप्रजापति ने यशोधरा की पतिपरायणता को उजागर करते हुए कहा कि सिद्धार्थ, तुम जब से गृहत्याग करके गये हो, तब से यशोधरा ने भी काषाय धारण कर लिए है और उसने भी भूमिशयन ही किया है। दूसरी ओर, पिता शुद्धोदन भी बताते हैं कि-आप जब से गृहत्याग करके निकल गये थे, तब से यशोधरा एकपतिव्रता नारी बन कर जीवन-यापन कर रही है। बुद्ध ने उसका त्याग किया, लेकिन उसने आपका मन से भी, कभी त्याग नहीं किया है। उस प्रतिनायक देवदत्त ने (सिद्धार्थ के गृहत्याग करने के बाद) यशोधरा को संदेश भेजा था कि वह यशोधरा के साथ पुनर्विवाह करने को तैयार है। फिर भी यशोधरा ने उसका तिरस्कार करते हुए उस प्रस्ताव को नकारा था। इस बात को सुनते ही बुद्ध ने (जिनको अब, बुद्धत्व प्राप्ति होने के बाद, जन्म-जन्मान्तर का ज्ञान हो चुका है) बताया कि वे दोनों पूर्वभव में चन्द्र-किन्नर युगल के रूप में जी रहे थे तब भी

ऐसी ही घटना हिमालय की उपत्यकाओं में घटित हुई थी। बुद्ध ने अपनी चमत्कारिक दिव्य दृष्टि से उस विगतजन्म का प्रसंग रंगमंच पर साकार करके प्रकट किया, जिसको "गर्भाङ्क" के रूप में रखा गया है। इससे सिद्धार्थ एवं यशोधरा का दाम्पत्य जीवन कैसा अ-द्वैतमय था वह दिखाया है। उसकी ही निरन्तरता इस जन्म में भी बनी रही है। इससे प्रेक्षकों को यह साक्षात् होता है कि "यथा" पूर्वभव में वे चन्द्र-किन्नर युगल थे वे ही, "तथैव" इस जन्म में भी पति-पत्नी बन कर आये हैं। इस तरह से बुद्ध का तथागतत्व सिद्ध किया गया है। एवमेव, यह भी व्यंजित किया है कि गृहत्याग करने से पहले सिद्धार्थ ने अपनी धर्मशीला पत्नी की जो मूक सम्मति मान ली थी उसका रहस्य यहाँ तक जुडा है। और देवदत्त का प्रतिनायकत्व भी पूर्वभव से चला आ रहा है। इससे बुद्ध पलायनवादी है या नहीं?- जैसा विवाद भी, परम्परागत बौद्ध मान्यता के अनुसार, सर्वथा अप्रस्तुत हो जाता है। इति दिक्।

उसके बाद, यशोधरा पुत्र राहुल से कहती है कि जाओ, अपने पिता से दाय भाग मांगो। पुत्र राहुल माता के कहने से बुद्ध के पास जाकर, सद्धर्म की दीक्षा मांगता है। बुद्ध राहुल के हाथ में अपना भिक्षापात्र रख देते हैं और उसको अपने साथ ले चलते हैं। राहुल भी किसी अपूर्व शीतलता का अनुभव करता है। (बुद्ध राहुल को भी साथ ले चलते हैं, तब माता यशोधरा उसको देखते देखते मूर्च्छित हो जाती है।) बुद्ध राहुल को उद्यान में ले जाकर अपने शिष्य शारिपुत्र को आदेश देते हैं कि राहुल को प्रव्रजित करो। शैशवावस्था में रहे पुत्र को प्रव्रज्या देने का तर्क देते हुए बुद्ध कहते हैं कि-

गह्वरे पतितोऽन्धोऽपि ध्वनिनान्यं निवारयेत्।
जानन्नपि च दुःखं को धीमान् अन्यं प्रवर्तयेत्॥ ५-१३॥

गड्ढे में गिरा एक अन्ध भी, आवाज दे दे कर, दूसरों को उस गड्ढे में गिरने से बचाता है, तो हम जान बुझ कर, संसार के दुःखों से अनभिज्ञ इस बालक को क्यों उसी चक्कर में डालें? इत्यादि।

अन्तिम द्वितीय दृश्य में, माता महाप्रजापति एवं पत्नी यशोधरा को भी प्रव्रज्या लेने की इच्छा हुई है ऐसा निवेदन करने के लिए अमात्य उदायी आ पहुँचा है। इस प्रस्ताव को सुन कर शिष्य शारिपुत्र और मौद्गल्यायन तुरंत बताते हैं कि बुद्ध ने नारियों का संघ में प्रवेश करवाने की अनुमति नहीं दी है, प्रत्युत उसको निषिद्ध भी किया है। इसी क्षण बुद्ध का तीसरा शिष्य आनन्द बीच में आता है। उसने सोचा कि प्रव्रज्या की मांग करने वाली ओर कोई नहीं है, यह तो बुद्ध की मौसी-महाप्रजापति है-जिसने बुद्ध को (उनकी माता मायादेवी के मर

जाने के बाद) स्तनपान करवाया था। अतः मातृगौरव का विचार करके, वह बुद्ध से इस बिन्दु का निवेदन करता है। बुद्ध भी आनन्द की विचारणा को अस्वीकार्य नहीं कर सकते हैं। प्रत्युत माता के प्रति वे कृतघ्न नहीं बन सकते हैं-ऐसा कह कर, माता की प्रव्रज्या की मान्यता देते हैं। बुद्ध ने मातृत्व का गौरव करते हुए कहा है कि-

माता मह्यां सदयहृदया जीवनालम्बनं वै
बाल्ये काले न विरमति या क्षीरदानात्कदाचित्।
मातुर्वाचा भवति सकला बोधगम्या धरित्री
विस्मर्तव्या कथमपि न सा, नो कृतघ्नो भवेयम्।। ५-११।।

किन्तु अमात्य उदायी की समस्या का आधा ही समाधान हुआ। क्योंकि देवी यशोधरा ने भी प्रव्रज्या की इच्छा व्यक्त की थी। यशोधरा ने तो भूतकाल के एक प्रसंग का स्मरण करवाते हुए कहलवाया था कि-*धरातले तु प्रवहन्ति नद्यः सर्वेषां कृते।* (नदियाँ तो सब के लिए बहती है।) तो बुद्ध की करुणा भी सब के लिए (नारियों के लिए भी) होनी चाहिए। इसको सुन कर, बुद्ध भी निखालसता से इस बात का स्वीकार करते हैं कि-हाँ, मैं ने धर्मशीला यशोधरा के इसी वचन के आधार पर, गृहत्याग के लिए उसकी सम्मति होगी ऐसा मान कर, घर छोडा था। अतः बुद्ध ने यशोधरा के निमित्त से संसार में जो अन्य धर्मानुरागिणी स्त्रियाँ हैं उनके लिए भी तथागत-प्रवेदित सद्धर्म में प्रव्रज्या की अनुमति दे दी।

यहाँ मौद्गल्यायन ने मन में सोचा कि बुद्ध ने पहले मध्यम मार्ग का जो उपदेश दिया है उसके अनुसार भी संघ में स्त्रियों को प्रविष्ट ही नहीं करनी है-वह भी एक प्रकार की अति (आत्यन्तिकता) ही है। अतः बुद्ध ने नारियों के लिए प्रव्रज्या की मंजुरी दी होगी। उसी तरह से, शारिपुत्र ने भी मन में सोचा कि-जैसे बुद्ध ने सुजाता के पायस को ग्रहण किया है और मध्यम-मार्ग को चुना है तो नारियों का संघ में प्रवेश करवाने में भी कोई दोष नहीं है। प्रत्युत ऐसा करने से ऋषिपत्तन से शुरू किया धर्मचक्र-प्रवर्तन परिपूर्णता को प्राप्त करेगा। रंगमंच पर, अब बुद्ध के सामने माता गौतमी, यशोधरा इत्यादि सहित सब पात्र उपस्थित होते हैं, और बुद्ध पुछते हैं कि हे माता! बताइए, और अधिक किस की अपेक्षा है?, तब निम्नोक्त भरत-वाक्य से नाटक सम्पन्न होता है:-

त्रयाणां दुःखानामवतरतु भूमिं प्रशमनः
विहातुं तां तृष्णाम् उपदिशतु नो मारविजयम्।

सुशास्ता शीलानां वितरतु निर्वाणपदवीम्
प्रबुद्धोऽयं नित्यं भ्रमतु च रथो धर्मवचसाम्।। ५-१६।।

---00---

इस नाटक में निरूपित उपर्युक्त कथानक के मूल स्रोतों में यानी प्राचीनतम त्रिपिटकादि में बुद्ध के वचनों का स्वरूप कैसा है?, बौद्ध दर्शन में हीनयान एवं महायान जैसे दो विचारधाराएं कैसी हैं?, तथा त्रिपिटक एवं जातक-कथाओं में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली इत्यादि को ठीक तरह से समझने के लिए कुछ आवश्यक जानकारियाँ देना भी जरूरी है, जो परिशिष्ट-1 के परिच्छेदों (1 से 14) में दी गई हैं, उन्हें वहाँ पर देखने का साग्रह अनुरोध है।।

[3]

प्रस्तुत नाट्यकृति की रचना के प्रेरक-बिन्दु

प्रस्तुत नाट्य-कृति की रचना के प्रेरक बिन्दु एकाधिक हैं:--(क) भगवान् बुद्ध के प्रति मेरे मन में चिरकाल से संगोपित रहा प्रेम एक आद्य प्रेरक बिन्दु है। तदुपरान्त,(ख) बुद्ध के जीवन को लेकर सामान्य प्रजा के मानस में बिना सोची समझी ऐसी मान्यता फैली हुई है कि बुद्ध पलायनवादी थे। बुद्ध ने अपनी सोती हुई पत्नी और पुत्र का त्याग किया-इतना सुनते ही ऐसा निष्कर्ष निकाला जाता है कि वे अपनी जिम्मेवारी से विमुख हो गये थे। ऐसी घटना आधुनिक युग के विचारकों को उद्विग्न करनेवाली भी बनती है।[1] तथा इसी बिन्दु को लेकर आधुनिक प्रजा बुद्ध को कदाचित् कोसती भी है। लेकिन ऐसी विचारधारा तब तक टीक सकती है, जब तक हमने बौद्धों के आकर ग्रन्थों का साक्षात् अध्ययन नहीं किया है। मुझे लगता है कि बौद्ध साहित्य के त्रिपिटक, जातक-कथाएं एवं ललितविस्तर आदि आकर ग्रन्थों का अध्ययन करने से, इस विषय का एक श्रद्धेय निरूपण किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए कोई विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की अपेक्षा से यदि नाट्यकला का आश्रयण

---

1. बौद्ध पालि-साहित्य का गहन अध्ययन करने वाले स्वनामधन्य प्रॉफे. धर्मानन्द कोसम्बी जी ने भी इस विषय का दो बार समाधान प्रस्तुत किया है:-1914 में उन्होंने "बुद्धलीलासारसंग्रह" (मराठी में। जिसका गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद से, गुजराती में अनुवाद "बुद्धलीला" नाम से प्रकाशित हुआ है। उसके पृ.92 में) दिया था। तत्पश्चात् 1942 में "बोधिसत्त्व" शीर्षक से मराठी नाटक लिख कर, दूसरा ही समाधान दिया।

लिया जाय तो वह ज्यादा प्रभावक सिद्ध हो सकता है-यह सर्वानुभवसिद्ध हकीकत है। अतः प्राचीन बौद्ध आकर ग्रन्थों के विभिन्न सन्दर्भों को ही लेकर, बुद्ध के जीवन का आलेखन करने वाला एक संस्कृत नाटक लिखने का संकल्प किया हूँ। तथा (ग) तीसरा बिन्दु है कि-सामान्यतः ऐसी जानकारी प्रचलन में है कि पिता शुद्धोदन ने ज्योतिर्विदों का भाविकथन सुन कर, सिद्धार्थ को केवल सुख ही सुख का अनुभव करवाया गया था। किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं था। सिद्धार्थ की मुग्धता को तोडने वाले प्रसंग (देवदत्त के द्वारा पक्षीवेधादि) जीवन में आकारित हुए थे। तथा उसके करुणापूर्ण हृदय का परिचय राजा और अमात्य को मिलने लगा था, तथा उसके प्रतिकार के लिए वे दोनों प्रयत्नशील भी थे। इसको भी कथानक में दिखाना आवश्यक माना गया है। (घ) ऐसा नाटक केवल इतिहासालेखन का विषय न रहें, बल्कि मनुष्यों के दुःखोन्मूलन के उपाय स्वरूप बुद्ध के मौलिक दर्शन का भी नाट्यात्मक निरूपण करने वाला यह नाटक बनें-यह आवश्यक था। अतः, बुद्धचरित का निरूपण करने वाली इस नाट्यकृति में बुद्धत्व प्राप्ति के तुरंत बाद उनके मुख से निकले वचनों का परिचय एवं तत्पश्चात् धर्मचक्र-प्रवर्तन के समय दिये गये प्रथमोपदेश का साक्षात् परिचय करवाने के साथ, उपेक्षा-मैत्री-मुदिता-करुणा का यानी उनके सद्धर्म का भी नाट्यात्मक निरूपण करने का लक्ष्य रखा गया है। एवमेव,जातक-कथाओं में निहित नाटकीयता का भी विनियोग करके इस नाटक की रचना करने की इच्छा से मैं प्रेरित हूँ। अन्त में, (ङ) यह भी ध्यातव्य था कि-भगवान् बुद्ध ने जो धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था, उसके महिमागान में उपमाता गौतमी महाप्रजापति एवं धर्मशीला पत्नी यशोधरा का जो अवदान है, वह शायद जनमानस के सामने, अभी तक उभर कर बाहर नहीं आया है। उसको इस नाटक में विशेष रूप से साकार करना।

[हाँ, पुरोगामी साहित्यकारों ने "काव्य की उपेक्षिता" के रूप में यशोधरा के त्याग का महिमामंडन करने के लिए, अथवा एक दयनीय पात्र के रूप में अथवा पुरुषों के प्रति आक्रोश व्यक्त करने वाली नारी के रूप में उनका चरित्रचित्रण किया है। उदाहरण के रूप में-हिन्दी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी (1933) ने "यशोधरा" काव्य में यशोधरा से कहलाया है कि--

"नाथ तुम, हमें बिना अपराध अचानक छोड कहाँ जाओगे?,
नाथ तुम, अपना कर सम्पूर्ण सृष्टि को मुझे न अपना पाओगे?,
नाथ तुम, उसमें मेरा भी कुछ होगा, जो कुछ तुम पाओगे।"

श्रीधर्मानन्द कोसम्बी जी ने "बुद्ध कैसे अपने पुत्र एवं पत्नी का त्याग कर पाये?"-इस विषय का समाधान देते हुए 1914 में "बुद्धलीलासारसंग्रह" में लिखा था। वह भी पठनीय है, जिसका अनुवाद ऐसा है:-सिद्धार्थ ने विचार किया-" मुझे

जन्म-जरादि दुःख से छुटकारा पाने का मार्ग मिल ही जायेगा, और तभी तो मेरे पुत्र का तथा मेरी पत्नी का कल्याण मेरे से हो सकेगा। किन्तु यशोधरा को अभी जगाउँगा तो उसके एवं पुत्र के मोह की जाल में फस जाउँगा और मोक्षमार्ग की खोज अवशिष्ट रह जायेगी। पुत्रमुख का दर्शन तो कुछ वर्षों के बाद भी हो सकता है। यशोधरा की सांत्वना आगे चल कर, कभी हो सकेगी। किन्तु मोक्ष मार्ग की खोज में निकल पडने की ऐसी तक फिर नहीं आयेगी। क्योंकि तपश्चर्या के तीव्र क्लेश सहन करने का सामर्थ्य आज मेरे शरीर में है। परन्तु इस यौवन के दिवस बीत जाने के बाद धर्मसाधना के लिए आवश्यक उत्साह एवं उद्यम मेरे में नहीं बचेगा। अतः यशोधरा को निद्रासुख में छोड कर ही, यहाँ से निकल जाउँ वही श्रेयस्कर होगा।" ऐसा विचार करके, मन में ही सिद्धार्थ बोला-"यशोधरा, मैं तुम्हें अनजान रख कर ही, अरण्यवास को स्वीकारता हूँ। इसी कारण से ऐसा नहीं मानना कि मेरे मन में तेरे लिए प्रेम नहीं है। लेकिन प्राणीमात्र के दुःखों से मेरा हृदय कल्पांत कर रहा है। तो फिर जिसके साहचर्य में मैं ने इतने वर्षों को व्यतीत किये हैं उसके प्रति कुछ लगाव ही न हो यह कैसे हो सकता है?।

हे मेरे आप्तजन! आप भले ही मेरे पर क्रूरता का आरोप लगाये, किन्तु मैं निश्चितता पूर्वक कह सकता हूँ कि मेरा मन पहले से कहीं अधिक मृदु हुआ है। पहले तो मेरे मन में केवल मेरे दुःखों की कल्पना से ही दुःख होता था, किन्तु अब तो सकल जगत् के दुःखों से मेरा मन दुःख का अनुभव कर रहा है। पहले ऐसा लगता था कि सभी ज्ञातिबन्धुओं मेरे सुख के लिए है, किन्तु अब तो जगत् के कल्याण के लिए ही जीवन जीना है-ऐसा मेरा संकल्प हो चुका है।

मेरे सम्बन्ध में दुनिया के लोग जो भी मन माने खयाल बना लें, किन्तु मेरा गृहत्याग करने का हेतु केवल मेरे आत्मा का मोक्ष ही नहीं हैं, मुझे तो अनेक दुःखों से पीडित हो रही समग्र मनुष्यप्रजा को सुख की प्राप्ति होगी कि नहीं?- मैं वह खोजना चाहता हूँ। परन्तु इस कार्य में मेरे आप्तजनों की ओर से जबरदस्त विघ्न आने की संभावना है, इस लिए मैं उनकी अनुज्ञा लिये बिना ही आज मैं चल पडता हूँ"।।-बुद्धलीला, गुजराती अनुवाद, प्रकाशक-गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, 1923, पंचमावृत्ति-2017, पृ. 92-93. श्रीधर्मानन्द जी ने 1914 में दिये इस पहले समाधान के बाद, फिर से 1945 में दूसरा समाधान, "बोधिसत्त्व" नाटक लिख कर प्रस्तुत किया है। जिसका परिचय यहाँ अन्यत्र दिया है।]

इस सन्दर्भ में, यदि बौद्धों के त्रिपिटकादि ग्रन्थों की ही सामग्री को लेकर, उसको प्रस्तुत की जायेगी तो स्पष्ट दिखाई देगा कि-1. बुद्ध पलायनवादी नहीं थे, 2. बुद्ध के गृहत्याग के पीछे यशोधरा की परोक्ष सम्मति भी थी! तथा 3.

धर्मचक्र-प्रवर्तन की ही अंगभूत कहने योग्य एक घटना, जैसी कि-नारियों को भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दिलवाने में शिष्य आनन्द के साथ साथ माता महाप्रजापति एवं धर्मशीला यशोधरा का स्पष्ट योगदान रहा ही है-इसको नाट्यकृति में प्रकट करना अतीव आवश्यक था।। इन सारे बिन्दुओं से प्रेरित हो कर यह "धर्मचक्र-प्रवर्तनम्" नाटक लिखने का उपक्रम किया गया है[1]॥

उपर्युक्तअन्तिम बिन्दु के सन्दर्भ में, बौद्ध आकर ग्रन्थों के निम्नोक्त चार आधार बिन्दुओं को अग्रे सारित किये जा रहे हैं:--

(क) ललितविस्तर ग्रन्थ में सिद्धार्थ के विवाह के लिए दण्डपाणि की कन्या यशोधरा का वरण होता है-उस स्थान पर कहा गया है कि शुद्धोदन ने अपने पुत्र सिद्धार्थ के लिए जो कन्या गुणवती हो, धर्मशीला हो, सत्यशीला हो ऐसी कन्या बताना (-ऐसा पहले घोषित किया था)। क्योंकि मेरे पुत्र का मन उच्च कुल या गोत्र से विस्मित होने वाला नहीं है।

ब्राह्मणीं क्षत्रियां कन्यां वैश्यां शूद्रीं तथैव च।
यस्या एते गुणा सन्ति तां मे कन्यां प्रवेदय।। श्लो०-351
न कुलेन न गोत्रेण कुमारो मम विस्मितः।
गुणे सत्ये च धर्मे च तत्रास्य रमते मनः।। श्लो०-352।।

बौद्ध-विचार परम्परा के अनुसार बोधिसत्त्व ने जब सिद्धार्थ के रूप में जन्म लिया है तो उसका विवाह कोई साधारण स्त्री से होने वाला नहीं था। सिद्धार्थ आजन्म सत्य एवं धर्म में ही रममाण चित्त वाले थे। अतः उनकी पत्नी के रूप में दण्डपाणि की जो कन्या यशोधरा विवाहित होती है, वह धर्मशीला हो, सत्यशीला हो-यह पूर्वापेक्षित बिन्दु है। ललितविस्तर के इस बिन्दु को ध्यान में लेते हुए प्रस्तुत नाट्यकृति में नायिका यशोधरा को धर्मशीला के रूप में ही निरूपित करना अपेक्षित बन जाता है[2]॥

---

1. इस सन्दर्भ में, बिना विलम्ब किये यह बताना परम आवश्यक है कि ई.स.1945 में आचार्य श्री धर्मानन्द कोसम्बी जी ने "बोधिसत्त्व" शीर्षक से मराठी में एक अनुसन्धानात्मक नाटक लिखा था। उसमें भी उपर्युक्त समस्याभूत बिन्दुओं पर नवीन प्रकाश डाला गया है। उस नाटक में उन्हों ने त्रिपिटकों के पालि-वचनों के आधार पर ही अनुमान-जनित कथानक रचा है, जिसका परिचय इसी "प्रस्तावना" के अनुगामी पृष्ठों में दिया गया है। मैं ने रोहिणी नदी के जलविवाद का बिन्दु श्रीधर्मानन्द जी के नाटक से ही स्वीकारा है। उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। यद्यपि मैं ने उसको मेरी दृष्टि से उपयोग में लिया है।।
2. धर्मशीला यशोधरा के मुख में पुरुषों के प्रति आक्रोश व्यक्त करनेवाले नारीवादीविचार रखना अनुचित है

(ख) यशोधरा = भद्दा कच्चान (भद्रा कात्यायनी) के मुख से निकली कुछ गाथाएं श्रीधर्मानन्द कोसम्बी ने *थेरी अपदान* से उद्धृत की हैं, वह भी ध्यातव्य है:-यशोधरा अहं वीर, अगारे ते पजापति। साकियम्हि कुले जाता, इत्थि अंके पतिट्ठिता।।१।। (अनुवाद-हे वीर, शाक्यकुल में मैं ने जन्म लिया था और मैं गृहस्थाश्रम में तुम्हारी पत्नी =यशोधरा रही हूँ।), सुखप्पत्तानुमोदायि न च दुक्खेसु दुम्मना। सव्वत्थ तुसिता होमि, तुम्हत्थाय महामुनि।।२।। (अनुवाद-हे महामुनि, (अनेक जन्मों में आपके सहवास में) मैं ने सुखप्राप्त किये हैं, जिसका मैं ने अभिनन्दन किया है। परन्तु दुःख में मैं ने धैर्य का त्याग नहीं किया है। आपके लिए तो मैं सभी प्रसंगों में संतुष्ट रहनेवाली हूँ।), वुत्तं हेतं भगवता रञ्ञो अन्ते पुरे तदा। खत्तियानं पुरे वीरे, उपकारञ्च निद्दिसि।।३।। उपकारा च या नारी, या च नारी सुखे दुक्खे। अत्थक्खायी च या नारी, या नारी चानुकम्पिका।।४।। (अनुवाद-हे वीर, उस समय आपने राजभवन में सभी क्षत्रियों की उपस्थिति में मेरा उपकार माना था। मैं आपके उपकार की सम्पादिका हूँ, आपके सुखदुःख में साथ रहनेवाली हूँ, मैं आपकी हितरक्षिका हूँ एवं अनुकम्पा रखने वाली मैं ही हूँ।), अगार विजहित्वान पब्बजिं अनगारियं। अड्ढमासे असंपत्ते चतुसच्चं अपापुणिं।।५।। (अनुवाद-मैं गृह का त्याग करके, अनागारिक होने वाली हूँ अर्थात् प्रव्रज्या लेने तैयार हूँ। मैं ने एक आधे महिने में ही चार आर्य सत्य जान लिये हैं।।)

ये गाथाएं भी कह रही हैं कि यशोधरा ने सिद्धार्थ गौतम को शुरू से ही उनके जीवन के हर मोड पर सहकार दिया था।। [इन्हीं गाथाओं का निष्कर्ष लिखते हुए, श्रीधर्मानन्द जी ने अन्यत्र यह भी लिखा है कि-"उपकार करने वाली, सुखदुःख में समान रहनेवाली, सद्-अर्थ दिखानेवाली एवं अनुकम्पाशील स्त्री ही सही स्त्री होती है-ऐसा कह कर आपने जिसकी स्तुति की है, वह मैं आपकी पूर्वाश्रम की पत्नी हूँ।" (बौद्धसंघनो परिचय, गूजरात विद्यापीठ, पृ. 244)]

(ग) श्रीधर्मानन्द कोसम्बी जी ने थेरी अपदान की उपर्युक्त गाथाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, वैसे हम चन्द्र-किन्नर जातक की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं:-बुद्धघोषाचार्य विरचित जातकट्ठकथा में एक "चन्द-किन्नरजातक" नाम की कथा (क्रमांक-285) आती है। तदनुसार बुद्ध के पूर्वावतारों में बोधिसत्त्व कदाचित् किन्नर योनि में पैदा हुए थे। तब उनका नाम चन्द्र था और उनकी पत्नी का नाम चन्द्रा था। वे दोनों

जब हिमालय की उपत्यकाओं में विहार करते थे तब एकदा एक अज्ञात नाम राजा ने शिकारी के रूप में वृक्ष के पीछे छीप कर, चन्द्र-किन्नर का वध किया था। तत्पश्चात् वह राजा चन्द्रा किन्नरी के पास प्रकट हो कर, उससे विवाह कर लेने का प्रस्ताव रखता है। जिसको किन्नरी नकार देती है। इस अतीत कथा का मेल बिठाते हुए बोधिसत्त्व ने कहा है कि-गतजन्म की जो चन्द्रा-किन्नरी है वही इस जन्म में सिद्धार्थ के साथ यशोधरा के रूप में विवाहित हुई है। तथा चन्द्र किन्नर तो बोधिसत्त्व ही थे। एवं अज्ञात नामवाला शिकारी राजा ही इस जन्म में देवदत्त के रूप में जन्म ले कर जी रहा है और बुद्ध के जीवन में हत्यारे की भूमिका में बार बार प्रकट होता है।। इस जातक-कथा का मूल-स्रोत भी सुत्तपिटक के खुद्दकनिकायान्तर्गत पकिण्णनिपात-485 की निम्नोक्त गाथा में ही पडा है:-मा त्वं चन्दे रोदि, मा सोचि वनतिमिरत्तक्खि। मम त्वं हेहिसि भरिया, राजकुले पूजिता नारीभि।। (गाथा-27-28) इससे यह सिद्ध होता है कि-जातक-कथा जैसे बौद्ध आकर ग्रन्थ के अनुसार भी भगवान् बुद्ध एवं यशोधरा का अद्वैतमय युगल पूर्वजन्म से ही साथ साथ जी रहा है।।

इन प्राचीन से प्राचीनतर, तथा प्राचीनतर से प्राचीनतम सन्दर्भों को ध्यान में लेकर यदि सोचा जाय तो, संवेगोत्पत्ति होने के कारण सिद्धार्थ ने गृहत्याग का जब निर्णय लिया तब उसके मन में धर्मशीला पत्नी की सम्मति होगी ही ऐसा मानना अस्वाभाविक नहीं था। अतः, इस जन्म में भी पति के विचारों के साथ यशोधरा का पूरा साम्मनस्यम् था वह दिखाना आवश्यक था, जिसको द्वितीयांक में (कल्पित) नृत्यदृश्य के निमित्त से उदायी के साथ हुई बातचीत के दौरान प्रकट किया गया है।[1] तथा बुद्धत्व की प्राप्ति करके वे जब एक बार भिक्षाटन करते हुए अपने पूर्वाश्रम के घर आते हैं, तब वही धर्मशीला पत्नी अपना पुत्र राहुल सद्धर्म का ही उत्तराधिकार मांगे-ऐसा चाहती निरूपित की है। एवञ्च, यशोधरा यदि पूर्वजन्म की वही चन्द्रा किन्नरी है, तो यह भी अपेक्षित माना गया है कि वह बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन में सहयोग प्रदान करने हेतु स्वयं भी प्रव्रज्या मांगे। यदि माता महाप्रजापति ने और यशोधरा ने प्रव्रज्या मांग कर, विश्व-समस्त की नारियों के लिए तथागत-प्रवेदित सद्धर्म के मार्ग में प्रव्रजित होने का द्वार उद्घाटित नहीं किया होता तो धर्मचक्र-प्रवर्तन अधुरा ही रह जाता। -इस नवीन सोच से प्रेरित हो कर प्रस्तुत नाटक लिखा गया है।

---

1. श्री कोसम्बी जी ने शाक्यों का रोहिणीनदी के जल-विवाद को लेकर, कोलियों के साथ विरोध था-ऐसा अनुमित किया है। जिसका उपयोग करते हुए मैं ने एक नृत्यदृश्य के प्रसंग की कल्पना की है।

(घ) शिष्य आनन्द की वकालत से बौद्ध संघ में स्त्रियों को प्रव्रजित होने की मा्न्यता मिली, जिसकी कथा विनय पिटक के चुल्लवग्ग में वर्णित है-वह इस नाट्यकृति की रचना का अन्यतम प्रबल प्रेरक-बिन्दु है। यह प्रेरक-बिन्दु इस नाट्यकृति के शीर्षक के साथ जुडा हुआ है, जिससे शीर्षक को पूरा चारितार्थ्य मिलता है।

विनय-पिटक (चुल्लवग्ग के १० भिक्षुणी स्कन्धक) में भिक्षुणियों की प्रव्रज्या का प्रसंग वर्णित है। उसमें बताया है कि उपमाता महाप्रजापति ने स्वयं एक बार बुद्ध के पास आ कर, "तथागत-प्रवेदित सद्धर्म" में प्रवेश करने के लिए प्रव्रज्या मांगी। लेकिन बुद्ध ने अनुज्ञा नहीं दी। क्योंकि वे अपने संघ में नारियों का प्रवेश निषिद्ध है ऐसा घोषित करके धर्मोपदेश कर रहे थे। बुद्ध ने मनाई की तो माता महाप्रजापति पहलीबार तो वापस चली गई। लेकिन उसके मन में प्रव्रज्या लेने की इच्छा बनी रही थी। अतः वह दूसरी बार भी आयी। इस बार वह अन्य शाक्य स्त्रियों के साथ आयी थी। उन स्त्रियों में यशोधरा भी शामिल थी या नहीं?-वह पिटकों में प्रकट रूप से नहीं लिखा है। हो सकता है कि त्रिपिटकों में बुद्ध की पत्नी का नामोल्लेख वर्जित माना गया हो। अन्यथा, यहाँ विचारणीय है कि महाप्रजापति के साथ यशोधरा के अलावा अन्य "शाक्य स्त्रियाँ" कौन हो सकती थी?, तथा चन्द्र-किन्नर जातक-कथा के उपलक्ष्य में तो ऐसा अनुमान लगाया ही जा सकता है कि महाप्रजापति के साथ यशोधरा ही आयी होगी। इति दिक्। विनय पिटक के अनुसार-वे नारियाँ अपने केश कटवा कर, दुर्मना, अश्रुमुखी, रोती और धुलिका से भरें शरीरवाली, बहुत दूर से (कपिलवस्तु से चल कर) फुले पैरों से, वैशाली स्थित विहार स्थान पर पहुँची थी, जहाँ बुद्ध ठहरे थे। वे स्त्रियाँ बुद्ध के विहार के बाहर खडी रही थी। क्योंकि पहले एक बार बुद्ध ने माता महाप्रजापति को प्रव्रज्या देने से मनाई की थी, वे अब दूसरी बार उनके सामने कैसे जा सकती थी?।

शिष्य आनन्द ने बुद्ध की मौसी को द्वार पर खडी देखी, परिस्थिति को देख कर वह सब कुछ समझ लेता है। शिष्य आनन्द बुद्ध के पास जा कर, मौसी और अन्य नारियों की प्रव्रज्या सम्बन्धी इच्छा का निवेदन करता है। किन्तु बुद्ध ने स्पष्ट रूप से ना कही। जिससे दयालु आनन्द व्यथित हुआ। (बुद्ध के अन्य शिष्यों में आनन्द ही एक ऐसा शिष्य था कि जो ढीठ हो कर गौतम बुद्ध को कुछ भी कह देता था, कह सकता था।[1]-इस सन्दर्भ के अनेक उदाहरण त्रिपिटकों में

---

1. शुद्धोदन के भ्राता अमितोदन का पुत्र आनन्द था। यानी बुद्ध और आनन्द चचेरे भाई थे।

मौजुद है।) उसने नारियों को भिक्षुसंघ में स्थान मिले, (उन सब का भी तथागत-प्रवेदित सद्धर्म में प्रवेश हो सके), इस आशय से दूसरे ढंग से बोलने का विचार किया। दूसरी बार वह जब बुद्ध के सामने प्रस्तुत होता है तब "महाप्रजापति की प्रव्रज्या लेने की इच्छा है"-ऐसा व्यक्तिविशेष का नाम लिये बिना ही, पूछता है कि-भगवन्! क्या आपके सद्धर्म के मार्ग पर चल कर स्त्रियाँ भी अर्हत् पद प्राप्त कर सकती हैं? तब, इसके उत्तर में बुद्ध ने "हाँ" कही। आनन्द ने अब बिना विलम्ब किये, बुद्ध को कहना शुरू किया कि-भगवन्, आपकी शैशवावस्था में मौसी महाप्रजापति आपकी संरक्षिका है, पोषिका है, आपकी क्षीर-दायिनी है। सिद्धार्थ की जननी महामाया का देहान्त हो जाने पर, इसी मौसी महाप्रजापति ने आपको स्तनपान कराया है, और आप पर बहुत उपकार करने वाली है, तो अच्छा यही होगा कि उनकी प्रव्रज्या (उपसम्पदा) को आप अनुमति दें[1]। आनन्द की इस प्रार्थना (वकालत) से बुद्ध ने अनुमति दे दी! किन्तु बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए आठ गुरुधर्मों (कठोर नियम) भी घोषित किये। जिनको सुन कर, महाप्रजापति ने कहा कि-जैसे कोई स्नान की हुई अल्प-वयस्क युवती उत्पल, जुही या अतिमुक्तक पुष्पों की माला को सहर्ष धारण करती है, वैसे मैं भी इन अनुल्लंघनीय नियमों को यावज्जीवन के लिए धारण करती हूँ।

इस प्रसंग के उपर्युक्त शब्द विनय पिटक में चुल्लवग्ग के १०. भिक्षुणी स्कन्धक में उपलब्ध हैं। जिनको देख कर, किसी भी सुधी पाठक के मन में ऐसा विचार आना चाहिए कि-बुद्ध के सद्धर्म को "बहुजनहिताय" की गरिमा दिलवाने का यश इन दो, बुद्ध की मौसी महाप्रजापति एवं उनकी धर्मशीला पत्नी यशोधरा को ही देना चाहिए। तथा स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलवाने में शिष्य आनन्द के दयालु चित्त को भी कथमपि नहीं भूलना चाहिए। इन तीनों के अदम्य प्रयासों ने ही बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन की प्रवृत्ति को पूर्णता प्रदान की है। व्यक्तिगत रूप से मुझे यहाँ ऐसा भी लगता है कि-इन तीनों ने ही बुद्ध के सद्धर्म को "बहुजनहिताय" बना कर (भविष्य में आकारित होने वाले) "महायान" की नींव रखी थी, जो अद्यावधि शायद अदृष्ट रही है। इसी बात को नाट्यकृति के माध्यम से मुखरित करने का विचार भी मन में आया है, जिसका परिणाम आपके हाथ में है!

---

1. बहूपकारा, भन्ते, महापजापति गोतमी भगवतो मातुच्छा आपादिका, पोसिका, खीरदायिका, भगवन्तं जनेत्तिया कालंकताय थञ्ञं पायेसि। साधु भन्ते, लभेय्य मातुगामो तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जा त्ति।। विनय पिटक, चुल्लवग्ग,पृ. 233, विपश्यना रिसर्च इन्स्टी., ओल-लाईन

[स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिए "हाँ" कहने के बाद बुद्ध के मन में, भिक्षुणियों का संघ में प्रवेश होने से ब्रह्मचर्य का पालन शायद शिथिल होगा ऐसी दहेशत भी पैदा हुई थी। क्योंकि दुर्दान्त मार के साथ बुद्ध का जो मानसिक युद्ध हो चुका था, उसको वो कभी भूले नहीं थे। अतः बुद्ध ने कहा है कि-आनन्द! यदि तथागत-प्रवेदित धर्मविनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पाती, तो यह ब्रह्मचर्य चिर स्थायी हो सकता। सद्धर्म सहस्त्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन, चूंकि आनन्द! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुई, अब ब्रह्मचर्य चिर स्थायी न होगा। सद्धर्म पांच सौ वर्ष ही ठहरेगा इत्यादि।[1] इस सन्दर्भ में, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद, जब प्रथम संगीति का आयोजन किया गया (जिसमें शिष्य आनन्द ने सुत्त पिटक का और उपालि ने विनय पिटक का गान किया था), उसमें संगीति के अध्यक्ष महाकाश्यप तथा अन्य भिक्षुओं ने मिल कर, आनन्द को इस बात के लिए दोषित भी ठहराया कि तू ने महाप्रजापति के वस्त्रों के स्पर्श से भगवान् के शरीर को क्यूं दूषित होने दिया? यह आनन्द की भूल थी।

यद्यपि आनन्द ने उस समय अपने कार्य की न्यायिकता सिद्ध करने के लिए, वही बात दोहराई कि महाप्रजापति भगवान् बुद्ध की जननी के अवसान के बाद, उनकी क्षीर-दायिनी बनी थी-इत्यादि। फिर भी भिक्षुओं ने उस प्रथम संगीति में आनन्द से क्षमा-याचना करवाई थी। क्षमा-याचना के इस विवरण से भी, फिर से वही पूर्वोक्त बिन्दु सिद्ध होता है कि-तथागत बुद्ध के सद्धर्म को "बहुजनहिताय" बनाने का श्रेय महाप्रजापति और यशोधरा, एवं शिष्य आनन्द को भी देना ही चाहिए। अप्रकट या सूक्ष्म रूप से निहित हीनयानी विचारधारा वाले तत्कालिक भिक्षुओं ने ही आनन्द को (सुत्त पिटक का अक्षुण्ण पाठ प्रस्तुत करने के बावजुद भी) क्षमा-याचना के लिए बाध्य किया था[2]।]

[4]

"धर्मचक्र-प्रवर्तन" का "नाटक" के रूप में परिचय

प्रस्तुत नाटक का शीर्षक "धर्मचक्र-प्रवर्तन" है, अतः इसमें भगवान् बुद्ध के जीवन के पूर्वार्ध की घटनाओं को नाट्य का विषय बनाया गया है। जिसको दो चरणों में विभक्त किया जा सकता है:-(क) सिद्धार्थ जब पहली बार, अपने जीवन में जरा, रोग एवं मरण के दु:खों से अवगत होते हैं तो, वे **निर्वेद** को प्राप्त करते हैं और गृहत्याग करते हैं। (गृही से अगृही =घर से बेघर हो जाते हैं)।

---

1. द्रष्टव्य:-विनय पिटक का 10. भिक्षुणी स्कन्धक
2. द्रष्टव्य:-विनय पिटक का अन्तिमभाग

तत्पश्चात् उग्र तपश्चर्या, मारविजय एवं बुद्धत्व की प्राप्ति पर्यन्त की घटनाएं आकारित होती है। (ख) ततः उनके जीवन की घटनाओं का जो दूसरा चरण है उसका आरम्भ-बिन्दु धर्मचक्र-प्रवर्तन की घटना है। किन्तु बुद्धत्व की प्राप्ति होने के बाद, वे जनकल्याण के लिए, परोपकारैकमनाः बन कर धर्मचक्र-प्रवर्तन की जब प्रवृत्ति शुरू करते हैं, तब वह भी निर्विघ्न आगे नहीं चलती है। प्रतिनायक देवदत्त की ओर से उस धर्मचक्र-प्रवर्तन में अनेक प्रत्यवाय खड़े होते हैं। इस द्वितीय चरण की घटनाओं में, करुणाशील बुद्ध के हृदय में रही जनकल्याण करने की भावना एवं मैत्री, मुदितादि से भरा उनका हृदय ही उनको (45 वर्षों के सुदीर्घ कालखण्ड में) **अद्वितीय उत्साह** से कार्यरत रखते हैं। इस तरह से, बुद्ध के जीवन को स्पष्टतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पूर्वोक्त दो चरणों में फैली घटनाओं को इस नाटक का विषय बनाया गया है।। साथ में, बुद्ध के विषय में सामान्यतः जो आम जानकारी है उसमें बुद्ध के अनेक तरह के व्यक्तित्व पृथक् पृथक् सन्दर्भों में उभर कर सामने आते हैं। जैसे कि, सब से पहले तो बुद्ध विश्वप्रसिद्ध करुणामूर्ति एवं ऐतिहासिक विभूति हैं। उनका दूसरा परिचय एक चिन्तन-शील, तर्क-प्रिय दार्शनिक व्यक्ति के रूप में है। तीसरा जो स्वरूप है वह संवाद के माध्यम से शिष्यों एवं अनुयायियों को उपदेश देने वाले शास्ता, गुरु का है। चौथा स्वरूप एक चमत्कारिक व्यक्ति के रूप में भी है। इस नाटक के कथानक में बुद्ध के ये सभी व्यक्तित्व दृश्यमान हैं। इसके लिए त्रिपिटकों के अंश, धम्मपद, एवं पालि जातक-कथाओं, ललितविस्तर तथा अश्वघोष का बुद्धचरित उनसे प्राप्त हो रही सामग्री का उपयोग किया है। प्रवेशकों में प्रायः काल्पनिक अंशों का विनियोग किया गया है।।

इस नाटक का बाह्य शिल्प बहुशः अन्य संस्कृत नाट्य-कृति जैसा है। पूरा नाटक संस्कृत-भाषा-निबद्ध है। किन्तु विदूषक, स्त्री-वर्ग तथा नीच पात्रों के मुख में प्राकृत भाषा का विनियोग नहीं किया है। प्रसंग-विशेष में पालि-भाषा-निबद्ध उद्धरणों का विनियोग भी किया है (तथा उनके संस्कृत च्छायानुवाद को पादटिप्पणी में दिये हैं) और संस्कृत संवादों की पृष्ठभूमि में रहे त्रिपिटकों के वचनों को पादटिप्पणी में दिये हैं।। नाटक का बहिरंग परिचय करें तो इसमें क्रमशः 1. भाविकथन, 2. महाभिनिष्क्रमण, 3. बुद्ध का धर्मचक्र-प्रवर्तन, 4. उपेक्षा-मुदिता-मैत्री-करुणादि का उपदेश और अन्त में 5. भिक्षुणियों का संघ में प्रवेश-नामक पाँच अंकों का विधान किया है। तथा इन पाँच अंकों में क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाँच अवस्थाओं को देखी जायेगी। एवमेव, इन अंकों में क्रमशः बीज-बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियाँ भी पाई जायेगी। यहाँ नान्दी-पद्य, प्रस्तावना, पांच अंक

और अन्त में भरत-वाक्य से नाटक की समाप्ति की गई है। प्रस्तावना के बाद एक विष्कम्भक रखा है, दूसरे से पांचवे अंक के आरम्भ में (कुल चार) प्रवेशक रखे हैं। पांचवे अंक में एक गर्भांक भी रखा गया है। बुद्ध धीर-प्रशान्त कोटि के नायक हैं और नायिका धर्मशीला यशोधरा है।।

इस नाट्यकृति में विदूषक का विनियोग किया है, लेकिन भगवान् बुद्ध की गरिमा को ध्यान में रखते हुए उसको नायक के नर्मसचिव के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। तथा विदूषक की उपस्थिति प्रवेशकों तक ही सीमित रखी है, वह अंकों की दृश्यावली के बीच में नहीं आता है। प्रवेशकों में उसका संवाद प्रायः माण्डव्य एवं कौण्डिन्य नाम के दो ज्योतिर्विदों के साथ होता रहता है, जिससे प्रेक्षकों को वृत्त-वर्तिष्यमाण कथांशों का सूचन मिल जाता है और रसान्तर का कार्य भी सम्पन्न होता रहता है॥ इस नाट्यकृति की रचना में जो दूसरा विशिष्ट बिन्दु है वह है विविध ध्रुवाओं का विनियोग। नाट्यशास्त्र के बत्तीसवें अध्याय में मुख्य रूप से पंचविध ध्रुवाओं का विधान किया है। जैसे कि-1. प्रावेशिकी ध्रुवा, 2. आक्षेपिकी ध्रुवा, 3. प्रासादिकी ध्रुवा, 4. अन्तरा और 5. नैष्क्रामिकी ध्रुवा। उन ध्रुवाओं का नेपथ्य से गान करवाया जाता है, कोई सूत्रधार चाहे तो उनको नृत्य के साथ भी प्रस्तुत कर सकता है। इनमें से, प्रावेशिकी नाम की ध्रुवा में अन्यापदेश या अन्योक्ति का विनियोग करके, प्रस्तुत होने वाला आगामी प्रसंग, पात्र या उसकी अस्मिता का निर्देश किया गया है। किसी दृश्य में, प्रेक्षकों के चित्त को आहत करनेवाली बात को लेकर किसी पात्र का (अपटीक्षेपेण) प्रवेश करवाने से पहले, प्रेक्षकों को उसके लिए सावधान करने वाली आक्षेपिकी ध्रुवा को रखी गई है। परिस्थिति को समंजस करने के लिए प्रासादिकी ध्रुवा होती है। किसी दृश्य या अंक के अन्त भाग में, नैष्क्रामिकी ध्रुवा का गान होता है।इसमें उस अंक में सम्पन्न हुए कार्य का सार मार्मिक रूप से रखा गया है।।

नाटक के आरम्भ में एक शश-पण्डित जातक-कथा के आधार पर विष्कम्भक रखा गया है। जिसमें बुद्ध अपने पूर्वावतारों में कदाचित् खरगोश बने थे और अपने शरीर का त्याग/दान करके भी दूसरों की क्षुधा को मिटाने का साहसिक कर्म करते दिखाये हैं। इस कथानक में बोधिसत्त्व शश-पण्डित ने दान पारमिता की सिद्ध की और फल स्वरूप चन्द्रमा के बिम्ब में उसी शश (खरगोश) का चिह्न अंकित किया जाता है, यानी चन्द्रमा को "शशांक" बनाया जाता है-उस मिथक का नाट्य-रूपान्तरण है। इसमें बुद्ध का पहला, यानी बोधिसत्त्व के रूप में मार्मिक परिचय निरूपित किया है। इस विष्कम्भक को समग्र नाटक के "आमुख" के रूप में भी देखा जा सकता है। क्योंकि, इस जातक-कथा में देवराज इन्द्र ने बोधिसत्त्व की अग्निपरीक्षा ली है उसीसे देवदत्त

नामके प्रतिनायक के द्वारा बुद्ध के जीवन में (=धर्मचक्र-प्रवर्तन में) अनेक अवरोध खड़े होनेवाले हैं और बुद्ध रूपी चन्द्रमा इस राहु के सभी ग्रहणों से मुक्त भी होंगे--उनका ध्वनन हो रहा है॥

इसके बाद, भाविकथन नामक प्रथम अंक का आरम्भ होता है। इसमें कुल तीन दृश्य रखे गये हैं। (क) सिद्धार्थ का जन्म होने पर असित ऋषि का पुत्रदर्शन के निमित्त से कपिलवस्तु में आना, (ख) पुत्र का नामकरण एवं ज्योतिषियों के द्वारा द्विधाजनक भावि फल-कथन एवं (ग) शिशु सिद्धार्थ को पढ़ाने के उद्देश्य से लिपिशाला में ले जाना जैसे प्रसंगों को रखे गये हैं। यद्यपि राजा शुद्धोदन का यह पुत्र ऋषि असित के कहने के अनुसार दिव्यता से परिपूर्ण है, फिर भी उसके भावी को लेकर आशंकाजनित कौतुक बना रहता है उसका प्रथमांक में बीजवपन किया गया है तथा पुत्र की दिव्यता का प्रथमोन्मेष लिपिशाला-प्रसंग में दिखाया है। नाटक के लिए आवश्यक पाँच अवस्थाओं में से पहली "आरम्भ" नाम की अवस्था का यहाँ निरूपण किया है। तथा पाँच अर्थ-प्रकृतियों की दृष्टि से, इस अंक में "बीज" नामक अर्थ-प्रकृति रखी गई है।

दूसरे महाभिनिष्क्रमण नामक अंक के आरम्भ में प्रवेशक है, उसके पीछे चार दृश्य रखे हैं। प्रवेशक में दो ज्योतिर्विदों के साथ विदूषक का संवाद है। इससे वृत्त एवं वर्तिष्यमाण प्रसंगों की सूचना दी गई है। जैसे कि-सिद्धार्थ एवं यशोधरा की विवाहविधि सम्पन्न हो गई है। सिद्धार्थ तत्पश्चात् किसी दिन प्रातःकाल राजोद्यान में पधारने वाले हैं। अब, प्रथम दृश्य में, (क) सिद्धार्थ और देवदत्त के बीच में शरविद्ध पक्षी के निमित्त से विवाद होता है। इस नाटक में देवदत्त एक प्रतिनायक की भूमिका में कार्य करने वाला है, जिसका बीजवपन इस दृश्य के निमित्त से होता है। (ख) दूसरे दृश्य में, नायक-नायिका के सामने (अमात्य उदायी के द्वारा प्रायोजित) नृत्य का प्रदर्शन होता है। तत्पश्चात् अमात्य के साथ सिद्धार्थ की बातचीत होती है, जिसमें से रोहिणी नदी के जल को लेकर होने वाले युद्ध में[1] सिद्धार्थ को नेतृत्व देने का संकल्प जाहिर होता है। लेकिन राजकुमार उसके लिए सहमत नहीं है। धर्मशीला नायिका यशोधरा अपने पति के विचारों का समर्थन करती है। अब, सिद्धार्थ नगर-चर्या पर जाने की मांग करता है। (ग) तीसरे दृश्य में, नगरचर्या के दौरान सिद्धार्थ जीवन में पहली बार जरा, रोग और मरण का साक्षात्कार करता है। इसी मौके पर वह एक संन्यासी का भी दर्शन करता है। जिससे उसके मन में निर्वेदजनित अपरिहार्य संवेग उत्पन्न होता है। (घ)

---

1. श्रीधर्मानन्दजी ने अपने "बोधिसत्त्व" मराठी नाटक में इस बिन्दु को गृहत्याग का मुख्य कारण बताया है।

चौथे दृश्य में, सारथि छन्नक के साथ सिद्धार्थ कंथक नामके अश्व पर आरूढ होकर, गृहत्याग करता है। (गृहत्याग के समय सिद्धार्थ की आयु 29 वर्षों की है)। सिद्धार्थ के नसीब में यदि संन्यास ही लिखा है तो उस जीवन का शुभारम्भ होने के लिए गृहत्याग अनिवार्य था। इस तरह से, नाटक के लिए आवश्यक पाँच अवस्थाओं में से दूसरी "यत्न" नाम की अवस्था का यहाँ निरूपण किया गया है। तथा पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ की दृष्टि से, इस अंक में "बिन्दु" नामक अर्थ-प्रकृति रखी गई है। जिससे "सिद्धार्थ गृहस्थी बनेगा या परिव्राजक बनेगा?" इस तरह की आशंका नाटक के अन्त तक, प्रसृत हो जाती है। जैसे जलपात्र में गिरा तैलबिन्दु सर्वत्र फैल जाता है वैसे पूर्वोक्त आशंका नाटक में साद्यन्त सुव्याप्त दिखाई देगी।

धर्मचक्र-प्रवर्तन नामक तीसरे अंक में, कुल चार दृश्य हैं। (क) पहले प्रवेशक है, जिसमें माण्डव्य और विदूषक का संवाद है। इससे मालूम होता है कि अमात्य उदायी ने कपिलवस्तु से सभी ज्योतिर्विदों को नगर से निष्कासित कर दिये हैं। क्योंकि राजकुमार ने तो महाभिनिष्क्रमण किया, जिससे उनके सम्राट् चक्रवर्ती बनने की भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हो गई। इस बिन्दु को लेकर विवेचक नामका विदूषक ज्योतिर्विद्या की विवेचना भी करता है और मजाक भी उड़ा रहा है। (ख) सिद्धार्थ ने काषाय पहन कर प्रव्रज्या ले ली, तत्पश्चात् वह राजगृह की ओर चल पड़ा, और पाण्डव पहाड़ों में जा कर निवास कर लेता है। उसके तपस्वी जीवन को देख कर, वहाँ का राजा बिम्बिसार उसको मनाने आता है, प्रव्रज्या छोड़ कर फिर से क्षत्रियधर्म को अंगीकार कर लेने की सलाह देता है। लेकिन उसका प्रयास व्यर्थ सिद्ध होता है। (ग) तपश्चर्या के विभिन्न सोपान पर, अनशन छोड कर शरीरनिर्वाहार्थ थोड़े अन्न का ग्रहण करना, जिससे नाराज हो कर अन्य पांच साथी तपस्वी साधुओं ने सिद्धार्थ की संगति छोड़ दी। वे ऋषिपत्तन चले गये। मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए सुजाता की खीर को ग्रहण करना, फिर मनोविकार स्वरूप (अमूर्त) प्रतिनायक मार का आक्रमण होना, अचल सिद्धार्थ को अन्ततो गत्वा (35 वर्ष की आयु में) अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बुद्धत्व की प्राप्ति होना वर्णित है। (घ) ऋषिपत्तन में जा कर, बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश-धर्मचक्र- प्रवर्तन-किया, तथा प्रथम उपदेश ग्रहण करने वाले उन पांच भिक्षुओं का प्रथम संघ बनाया।। नाटक के लिए आवश्यक पाँच अवस्थाओं में से तीसरी "प्राप्त्याशा" नामकी अवस्था को मार-विजय, सुजाता की क्षीर को ग्रहण करना और ऋषिपत्तन में धर्मचक्र-प्रवर्तन करने की घटनाओं में देखा जा सकता है। पाँच अर्थ-प्रकृति की दृष्टि से, इस अंक में, मार-विजय प्रसंग के निरूपण में "पताका" नामक अर्थ-प्रकृति रखी गई है-ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि इस

पारिभाषिक शब्दावली का विनियोग करने में कोई दुराग्रह नहीं है[1]।

सद्-धर्मोपदेश (मैत्री, मुदिता, उपेक्षा, करुणादि का उपदेश) नामक चतुर्थांक के आरम्भ में प्रवेशक है। जिसके पूर्वार्ध में अश्वजित नामका भिक्षु और विदूषक का संवाद है। इससे मालूम होता है कि बुद्ध के प्रभाव में दिनप्रतिदिन संघ की अभिवृद्धि हो रही है। किन्तु प्रवेशक के उत्तरार्ध में, ज्योतिषी माण्डव्य आ कर बताता है कि- बुद्ध का शैशव कालिक शत्रु देवदत्त बौद्धसंघ में भेद पडाने की कोशिश में लगा है। तथा ग्रहों की दृष्टि से देवदत्त के प्रयास सफल होंगे, तो बुद्ध को अगतिकतया घरवापसी करनी पडेगी ऐसा वह तर्क-वितर्क लगाता है। यहां पर, निम्नोक्त आक्षेपिकी ध्रुवा को रखी गई है:-

व्याधो जाले ग्रसति हरिणं, मोचनं नो भवेद्वा
पूर्णश्चन्द्रो नभसि सुगतो ग्रासमुक्तो न जातः।
भूयः सिक्त्वा मधुरसलिलं जीवनं वाहयन्त्यो
दिव्या नद्यस्तदपि पतनं रोधनं दुःसहन्ते॥ ४-२॥

इस ध्रुवा-गान से प्रेक्षकों को सूचित किया जाता है कि धर्मचक्र-प्रवर्तन हो जाने के बाद, प्रतिनायक देवदत्त की ओर से अनेक विघ्न पैदा होने वाले हैं। जैसे पूर्णिमा का चन्द्र राहुग्रहण से मुक्त नहीं है, वैसे सुगत बुद्ध भी देवदत्त जैसे प्रतिनायक से मुक्त नहीं थे। मधुर जल देनेवाली नदियाँ भी अनेक बार पतन एवं अवरोधों को सहन करती ही हैं। इस ध्रुवा से, अंक के मुख्य दृश्य में आनेवाली घटनाओं का अंदेशा प्रेक्षक लगा सकेंगे। बुद्ध की कीर्ति प्रतिदिन बढती है ऐसा जानकर, विदूषक को भी देवदत्त की ओर से कोई विरोध, कोई आपत्ति आ सकती है ऐसी आशंका मन में पैदा हुई थी। विदूषक यह देखना चाहता है कि ग्रहदशा बलवती होती है, या संसारचक्र को घूमाने वाले काम-क्रोधादि षड् रिपु बलवान् होते हैं? और इन दो विचार-धाराओं से हट कर, बुद्ध की किन भावनाओं के परिपोषण से इन षड् रिपुओं का प्रतिकार किया जा सकता है?, अर्थात् बुद्धोपदिष्ट मुदिता, मैत्री, करुणादि भावनाओं के सकारात्मक परिणाम जानने में उसको रुचि है।

उस प्रवेशक के अनुसन्धान में प्रथम दृश्य शुरू होता है। (क) प्रथम दृश्य में, बुद्धसभा का आयोजन दिखाया है, जिसमें बुद्ध ने उपेक्षा, मुदिता, मैत्री, करुणा,

---

1. यह बिन्दु विवादास्पद हो सकता है। यहाँ आनन्दवर्धन के वचन से ही समाधान दे सकते है:-
सन्धि-सन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया।। -ध्वन्यालोकः, 3-12

अशुभ एवं अनित्यता की (षड्) भावनाओं का सेवन करने का सिखाया है। यदि व्यक्ति दूसरों का अभ्युदय नहीं देख सकता है, उसके प्रति उसके मन में अरति यानी असूया पैदा होती है, तो वह अनेक अनर्थों को पैदा करती है। उसी के अनुसन्धान में देवदत्त ने बुद्ध की हत्या करने का दो-तीन बार प्रयास किया उसका निर्देश किया गया है। शारिपुत्र ने यह भी बताया कि देवदत्त बौद्धसंघ में फुट पैदा करके, कतिपय भिक्षुओं को लेकर, पलायन भी कर गया है। तो बुद्ध ने उन भोले भिक्षुओं को देवदत्त की भोगविलास की लालच से बचाने के लिए, शारिपुत्र को आदेश किया कि जा कर, वह उन सभी बौद्ध भिक्षुओं को कुशलता से वापस बुला कर ले आयें। (ख) दूसरे दृश्य में, बुद्ध और उनके पूर्ण नामक शिष्य बीच में संवाद होता है, जिसमें मैत्री-भावना का निदर्श प्रस्तुत किया है। (ग) तीसरे दृश्य में बुद्ध ने योगज-प्रत्यक्ष का सहारा लेकर, (जिसमें, आर्यशूर की शक्र-जातक-कथा के आधार पर) विश्वजित राजा के सामने करुणा का महिमा-मंडन किया गया है।। नाटक के लिए आवश्यक पाँच अवस्थाओं में से, चौथी "नियताप्ति" नाम की अवस्था का इस अंक में निरूपण है। जिसमें प्रतिनायक देवदत्त के हिंसक प्रयास और भेदनीति के दुष्परिणामों का आलेखन है। संघाधिपति या संघ का विनाश होने की स्थिति में धर्मचक्र-प्रवर्तन का कार्य संशयग्रस्त हो जाता है। यही है संयत हुई नियताप्ति नामकी अवस्था। पाँच अर्थ-प्रकृति की दृष्टि से, करुणा का उपदेश नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने के लिए इन्द्र-जातक कथा को नाट्यात्मक रूप दिया है, उसमें "प्रकरी" नामक अर्थ-प्रकृति देखी जा सकती है।

संघ में भिक्षुणियों का प्रवेश नामक पांचवें अंक के आरम्भ में प्रवेशक है। जिसमें माण्डव्य और विदूषक के बीच में पुनः संवाद होता है। इससे मालूम होता है कि बुद्ध ने (देवदत्त ने उनके मार्ग में छोडे) उन्मत्त हस्ती को मैत्रीजल से शान्त कर दिया। तथा नगर में बुद्ध का जय जयकार होने लगा है। फिर भी ज्योतिर्विद माण्डव्य अभी भी बुद्ध के घर-वापसी के योग को देख रहा है। किन्तु अब की बार उसने प्रतिज्ञा ले रखी है कि यदि बुद्ध पुनरपि गृहस्थ नहीं बन जायेंगे, पुत्र राहुल के मोह में फंस नहीं जायेंगे, तो वह स्वयं प्रव्रज्या लेकर, बुद्धं शरणं गच्छामि-कर लेगा। (ख) तत्पश्चात् प्रथम दृश्य में, गौतम बुद्ध का कपिलवस्तु में भिक्षाटन निमित्त से प्रवेश निरूपित किया है। राजप्रासाद में भारी हलचल मच जाती है। माता (मौसी) महाप्रजापति एवं यशोधरा का विलाप, (ग) दूसरे दृश्य में, चन्द्र-किन्नर युगल की जातक-कथा पर आधारित गर्भांक, जिसमें बुद्ध का "तथागतत्व" सिद्ध किया जाता है। पुत्र राहुल को दायभाग (विरासत) के रूप में सद्धर्म देने के निमित्त से, उसको प्रव्रजित करने के लिए साथ में ले

जाना, (घ) तथा तीसरे दृश्य में, माता (मौसी) महाप्रजापति और राहुलमाता(यशोधरा) को बौद्ध संघ में भिक्षुणी के रूप में प्रवेश की अनुमति दे कर, संघ का विस्तार करना वर्णित है। इससे धर्मचक्र-प्रवर्तन की पराकाष्ठा सिद्ध होती है।। अन्त में, भरत-वाक्य से नाटक की समाप्ति होती है।। इस पंचम अंक में नाटक के लिए आवश्यक पाँच अवस्थाओं में से पाँचवीं "फलागम" नाम की अन्तिम अवस्था निरूपित की गई है। तथा अर्थ-प्रकृतिओं की दृष्टि से, इस अंक में "कार्य" नामक पांचवीं अर्थ-प्रकृति रखी गई है। इस तरह से पंचमांक में निर्वहण सन्धि सम्पन्न होती है।।

*** *** *** *** *** *** *** ***

इस "धर्मचक्र-प्रवर्तन" नाटक में बुद्ध के जीवन को रखा गया है। जिसके प्रथम चरण में जन्म से लेकर, गृहत्याग, मार-विजय, बुद्धत्व की प्राप्ति को प्रदर्शित की है। तथा उसके दूसरे चरण में, धर्मचक्र का प्रवर्तन, संघ की रचना, धर्मोपदेश के लिए व्यापक विचरण, देवदत्त का विरोध और अन्त में पुत्र राहुल, माता गौतमी एवं यशोधरा को प्रव्रज्या की अनुमति तक की घटनाओं को नाट्यात्मक रूप दिया गया है। इस नाटक के कथानक में मुख्य रूप से दो बिन्दु नवीन हैं, जो ख्यात इतिवृत्त में नहीं थे:--

(क) मूल जातकट्ठकथा के अनुसार शुद्धोदन ने अपने पुत्र सिद्धार्थ का भाविकथन कराने के लिए जिन आठ ज्योतिर्विदों को निमन्त्रित किये थे, उनमें से केवल कौण्डिन्य ने ही एक अंगुलि उठा कर, सिद्धार्थ संन्यासी बनेगा-ऐसा कहा था। लेकिन इस कौण्डिन्य के साथ, यहाँ माण्डव्य नामक दूसरे एक ज्योतिर्विद का नया कल्पन किया है और कहा गया है कि उसने भी एक अंगुलि उठाई थी। लेकिन माण्डव्य की उस एक अंगुलि को उठाने का फलकथन ऐसा कहा है कि यह शिशु गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके, संतति को पैदा भी करेगा। इन ज्योतिर्विदों के द्विधा-जनक वैकल्पिक विधानों को (चार प्रवेशकों में) मजाक का विषय बनाने के बहाने, विशाल कालखण्ड में फैले कथावस्तु का संग्रथन किया गया है। इस तरह के नये ज्योतिषी का कल्पन इस लिए भी तर्कसंगत सिद्ध होता है कि-1. यद्यपि सिद्धार्थ परिव्राजक ही बन गया है-तथापि यह भी हकीकत है कि पूर्वाश्रम में उन्होंने विवाह भी किया है और वे एक पुत्र के पिता भी बनें हैं। तथा 2. बुद्ध के जीवन की घटनाओं में देवदत्त जैसे प्रतिनायक की प्रवृत्तियों के कारण (माण्डव्य जैसे) पामर व्यक्तियों के मन में ऐसी दहेशत फैली रहती होगी कि अब क्या होगा?, क्या बुद्ध कहीं वापस तो नहीं चले आयेंगे न?, अतः माण्डव्य की कल्पना एवं उनके कथनों को कार्यान्वित किये हैं। बुद्धचरित का

निरूपण करने वाली इस शान्त रसवाली नाट्यकृति में, रसान्तर के रूप में हास्य को स्थान देने के लिए भी ऐसे ज्योतिर्विदों के पात्रों की आवश्यकता थी। तथा चतुर्थांक में रखी (आर्यशूर की जातक-माला से) शक्र-जातक कथा एवं पंचमांक के गर्भांक में रखी चन्द्र-किन्नर जातक कथा से अद्भुत को भी आनुषंगिकतया अवकाश दिया है। इस तरह से गौण रसों का भी आस्वाद लिया जायेगा॥

(ख) अंगुत्तरनिकाय में दुतियपण्णासक के गौतमीवग्गो में एवं विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में वैशाली में स्त्रियों का भिक्षुणी होने का प्रसंग वर्णित है। इसमें बुद्ध की मौसी महाप्रजापति और अन्य स्त्रियाँ (मातृग्राम) केश कटवा कर, दूर से खुले पैर चल कर, भिक्षुणी होने के लिए बुद्ध के पास आती हैं। "*शिष्य आनन्द ने महाप्रजापति की प्रव्रज्या लेने की इच्छा को जान कर बुद्ध से इसका निवेदन किया। किन्तु बुद्ध ने उसको नकारा। तब आनन्द ने स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलवाने के लिए, कुशलतापूर्वक फिर से बुद्ध को पूछा कि-तथागत से प्रवेदित मार्ग पर चल कर, क्या स्त्रियाँ भी अर्हत्त्व को प्राप्त कर सकती है?, तो बुद्ध ने हा कही। अब, आनन्द ने बुद्ध से कहा कि-यदि स्त्रियाँ अर्हत्त्व को प्राप्त कर सकती हैं, तो भन्ते, जिस मौसी महाप्रजापति आपकी अभिभाविका है, आपकी जननी मरने के बाद वह आपकी क्षीर-दायिका (दूध पिलानेवाली माँ) थी, उनको प्रव्रज्या मिलनी चाहिए। बुद्ध ने तथास्तु कह दिया। कुछ आठ शर्ती नियमों के अधीन उन सब स्त्रियों की प्रव्रज्या हुई।* (इनमें बुद्ध की पत्नी यशोधरा भी थी या नहीं?-ऐसा वहाँ नहीं कहा है। लेकिन हम सोच सकते हैं कि यशोधरा भी प्रव्रज्या के लिए आयी होगी। क्योंकि अब उसको संसारी बने रहने का तो कोई प्रयोजन था ही नहीं। तथा अंगुत्तरनिकाय के गोतमीवग्ग में "मातुगाम" शब्द से गौतमी एवं राहुलमाता-इन दोनों का ग्रहण हो सकता है। एवमेव, "थेरी अपदान" में तो उसके = भद्दा कच्चान (भद्रा कात्यायनी के) मुख से निकले शब्द श्रीधर्मानन्द कोसम्बी ने ऐसे उद्धृत किये गये हैं:-उपकार करने वाली, सुखदुःख में समान रहनेवाली, सद्-अर्थ दिखानेवाली एवं अनुकम्पाशील स्त्री ही सही स्त्री होती है- ऐसा कह कर आपने जिसकी स्तुति की है, वह मैं आपकी पूर्वाश्रम की पत्नी हूँ।।") [द्रष्टव्यः-बौद्धसंघनो परिचय। लेखक-श्री धर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, 1988, पृ. 244]

एवमेव, स्त्रियों (मातृग्राम) को प्रव्रजित होने की अनुमति देने के बाद, बुद्ध ने आनन्द को यह भी कहा है कि-यदि बौद्ध संघ में स्त्रियों का प्रवेश नहीं किया होता तो, मेरा यह धर्म सहस्त्र वर्ष पर्यन्त जीवित रहता। किन्तु अब, वह पांच सौ वर्ष ही ठहरेगा।" इस पिटक-प्रोक्त कथांश में परिवर्तन करके, प्रस्तुत

नाटक में यशोधरा को नयी दृष्टि से निरूपित की गई है।

प्रस्तुत नाटक में, बुद्ध के जीवन के उत्तरार्ध में घटित हुए अमुक प्रसंगों को नहीं लिये हैं। जैसे कि- श्रेष्ठी अनाथपिंडक, हजाम उपालि एवं डकैत अंगुलिमाल के प्रसंग बुद्ध के जीवन जुड़े हैं। लेकिन उनको यहाँ नहीं लिये हैं। आम्रपाली वेश्या एवं चिन्चा का प्रसंग भी नहीं लिया है। तथा अन्त में, कुशीनारा के पास हुए बुद्ध के महापरिनिर्वाण को नहीं बताया है॥

[5]

बुद्ध विषयक नाट्यकृतियों का सिंहावलोकन

भगवान् बुद्ध के जीवन की घटनाएँ नाटकीयता से भरी पडी है, फिर भी समग्र संस्कृत नाट्य-साहित्य में बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध हो ऐसी एक भी नाट्यकृति मिलती नहीं है। (कुषाण काल ई.स. 24 से 225 के दौरान अश्वघोष ने लिखा "शारिपुत्र प्रकरणम्" रूपक भी खण्डित स्थित में ही ल्युडर्स को मिला है[1]। तथा सातवी शताब्दी में हर्षवर्धन ने जो नागानन्द नाटक लिखा है, वह बौद्ध-जातक कथा पर आधारित है। किन्तु भगवान् बुद्ध के जीवन से सीधे सम्बद्ध हो, ऐसी एक भी संस्कृत नाट्यकृति मिलती नहीं है। यदि प्राचीन काल में लिखी भी गई होगी तो वह आज उपलब्ध नहीं हैं। स्वातन्त्र्योत्तर आधुनिक संस्कृत साहित्य में प्रॉफे. श्रीरामजी उपाध्याय (सागर) ने *नन्द-गौतमीयम्* एवं *अशोकविजयनम्* नाम नाटक लिखे हैं। तथा डॉ. वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने "सिद्धार्थचरितम्" (कलकत्ता, 1970), एवं "सुजाता" नाटक श्रीचन्द्रभानु त्रिपाठी (प्रयाग, 1976) ने लिखा है। श्री धर्मानन्द कोसम्बी जी ने सन् 1945 में "बोधिसत्त्व" नाम का नाटक मराठी में लिखा था। (जिसका हिन्दी अनुवाद केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, सारनाथ से, 2001 में, एवं संस्कृतानुवाद राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली से 2014 में निकला है।)

इस रिक्तता का कारण क्या हो सकता है? -उस पर विचार करने से लगता है कि सम्राट् अशोक ने अपने अनेक शिलालेखों में ऐसी उद्घोषणा

---

1. द्रष्टव्यः-तूर्कस्तान से मिली पाण्डुलिपि में-"सिद्धम् पारिपार्श्वक.... विदू(षक).... (प)र्याकुलः आजीविकः .... (दृ)ष्ट्वा-विदू(षकः) अइ किलेसो गम्भीर-वटु(म्). ..यानकेनागच्छति...। ऐसे खण्डितांश मिलते हैं। इसमें तीन नाटकों के अंश हैं ऐसी विचारधारा का खण्डन करके, उसमें केवल शारिपुत्र-प्रकरण का ही पाठ है ऐसा डॉ. विश्वनाथ भट्टाचार्य ने सिद्ध किया है। See:As'vaghosha : A Critical Study, by Bishvanath Bhattachary, Vishva Bharati, Santiniketan, 1976, (pp. 62-90)

करवाई थी कि उनके देश में नृत्य, संगीत, नाटकादि खेलने के निमित्त से "समाज"[1] अर्थात् जनसमूह=सामाजिक=प्रेक्षकसमूह को एकत्र नहीं करना है। क्योंकि जहाँ नाटकादि खेला जाता है, वहाँ सामाजिकों के लिए भोजनादि का प्रबन्ध भी करवाया जाता है, और उस भोजन के लिए जीवहिंसा भी होती है। अतः समाज को एकत्रित करने पर उन्होंने मनाई घोषित की थी। यह हकीकत हमें अशोक के गिरनारादि स्थानों से प्राप्त हो रहे शिलालेखों से मालूम होती है। (द्रष्टव्य-परिशिष्ट-3) अतः इसके परवर्ती काल में बुद्ध के जीवन को लेकर कोई नाट्यकृति की रचना होना सम्भव ही नहीं था।

[यद्यपि बौद्ध साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं कि बुद्ध के समकाल में नाट्य-मंचन की प्रवृत्ति सुविकसित हो चुकी थी। प्रॉफेसर श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी जी ने इसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है कि-..... विनयपिटक में कीटगिरि की रंगशाला का उल्लेख आता है। अवदानशतक में वर्णित दूसरी कथा के अनुसार क्रकुच्छद नामक राजा की आज्ञा से शोभावती नगरी में नाटक किया गया था, जिसमें नाट्याचार्य ने सूत्रधार का कार्य किया था। संयुक्तनिकाय में विदूषक बनने वाले नट का सजीव चित्र अंकित किया गया है, जिसके अनुसार समाज के समक्ष तथा नटमण्डली के मध्य अपनी कला का प्रदर्शन करता हुआ वह लोगों को हसाता है। दीघनिकाय में शोभनगरक का उल्लेख है, जिसका अर्थ नटमण्डली है।-द्रष्टव्यः-भारतीय नाट्य का स्वरूप और परंपरा, सागर, 1988, पृ. 85

इसी तरह से, डॉ. रामजी पाण्डेय (बिहार) ने लिखा है कि- *"विनयपिटक से प्रमाणित होता है कि नाटक का प्रचार भारतव्यापी था। विनयपिटक के चुल्लवग्ग में यह कथा मिलती है कि एक बार अश्वजित और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु कीटागिरि की रंगशाला में नाटक देखने गये। नाटक समाप्त हो जाने पर दोनों भिक्षु संघाटी फैला कर नाचनेवाली नर्तकी से मधुर वार्तालाप करते रहे। जब विहार के महास्थविर को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने उन दोनों भिक्षुओं को तुरंत विहार से निर्वासित कर दिया।"*[2] यद्यपि विनयपिटक देखने से मालूम होता है कि श्रीरामजी पाण्डेय ने दिया यह निरूपण सम्पूर्ण सही नहीं है। विनयपिटक के अनुसार ये दोनों शिष्य पापाचार से भरे थे और भिक्षुओं के लिये बनाये गये

---

1. द्रष्टव्यः-हिस्टोरिकल एन्ड लिटररि इनस्क्रिप्शन्स, सं. राजबली पाण्डेय, भाग-2, पृ. 5 की पाद-टिप्पणी।
2. "भारतीय नाट्य-सिद्धान्तः उद्भव और विकास", बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1982, पृ. 50-51

नियमों से विरुद्ध जीवन जी रहे थे। जैसे कि-वे मद्यपान करते थे, माला-गन्ध-विलेपनादि को धारण करते थे। रंगशाला में जा कर संघाटी फैला कर नाच रही नर्तकी को ऐसा कहते थे कि-"यहीं, यहीं भगिनि! आ कर नाच करो" इत्यादि। (द्रष्टव्यः- मज्जमपि पिविस्सन्ति, मालागन्ध-विलेपनम्पि धारेस्सन्ति, नच्चस्सन्ति पि, गायिस्सन्ति, वादेस्सन्तिपि, लासेस्सन्तिपि, रंगमज्झेपि संघाटी पत्थरित्वा नच्चकीं एवं वदिस्सन्ति-इध, भगिनि, नच्चस्सु त्ति..) अतः बुद्ध ने सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को वहाँ भेज कर, उन दोनों का प्रव्राजनीयकर्म (= संघ से निष्कासित करने का कार्य) करवाया था। बुद्ध के ये अश्वजित और पुनर्वसु वही दो शिष्य थे, जिनको मिलने के बाद सारिपुत्र और मौद्गल्यायन अपने गुरु संजय को छोड कर, बुद्ध के शिष्य बन गये थे[1]॥] विनयपिटक के इस सन्दर्भ से इतना निश्चित सूचित होता है कि बुद्ध के जीवनकाल में रंगशालाएं होती थी। (किन्तु उसमें बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध कोई नाटक खेले जाते थे-ऐसा नहीं कहा गया है।)

मौर्य वंशीय राजाओं के बाद, शुंगवंश के राजा पुष्यमित्र (185 से 149 ईसा पूर्व) ने बोधिवृक्ष को जला दिया एवं बौद्ध भिक्खुओं को देश से प्रायः निष्कासित किये और पुनरपि एक बार ब्राह्मण संस्कृति का पुनरुत्थान किया। इस घटना के बाद बुद्ध विषयक कोई साहित्यकृति की रचना होना प्रायः सम्भव नहीं रहा होगा। ई.स. 500 शती में, बुद्धघोषाचार्य बौद्ध-जातकट्ठकथाओं को सिंहली भाषा से पालि में पुनरेक बार अनुदित करके श्रीलंका से भारत में वापस ले आये। तत्पश्चात् गुप्तकाल के आरम्भ में, शूद्रक के मृच्छकटिक तथा पद्म-प्राभृतक (चतुर्भाणिका में संगृहीत) जैसी नाट्यकृतियों में शाक्यभिक्षु संघिलक, संघदासिका भिक्षुणी आदि के कुत्सित चरित्रों का चित्रण करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। (यद्यपि इस तरह की विपरीत स्थिति में भी हर्षवर्धन ने (ई.स. 645) नागानन्द की रचना की है।[2]) तृतीय ध्यातव्य बिन्दु यह है कि-बुद्ध का जीवनचरित वैराग्य-प्रधान है, इस हकीकत को दृष्टिसमक्ष लेते ही कविओं के मन में से बुद्ध-विषयक कोई नाट्यकृति बनाने का उत्साह सम्भवतः विगलित हो गया होगा। जिसके कारण पूरे संस्कृत नाट्य-साहित्य में बुद्ध के जीवन से जुडी एवं शान्त

---

1. विनयपिटक, चुल्लवग्ग पालि, पेरा-23, पृ. 14, Vipassana Research Institute, www.tipitaka.org.
2. प्रोफे. श्री धर्मदत्त चतुर्वेदी, (केन्द्रिय उच्च तिब्बति शिक्षण संस्थान, सारनाथ) ने इस नाटक का अनेक बार मंचन करवाया है, जिसको युट्युब (https://youtube/YgGISghUoDw) पर देखा जा सकता है।

रसप्रधान हो ऐसी एक भी नाट्यकृति नहीं मिलती है। (द्रष्टव्य-परि. 4)

प्रासंगिक रूप से, इस विषय में, श्रीधर्मानन्द कोसम्बी जी का मत भी उल्लेखनीय है:-जब काकासाहेब कालेलकर जी ने "बोधिसत्त्व" नाम का मराठी नाटक पढ़ कर श्रीधर्मानन्द जी को प्रश्न किया कि-बोधिसत्त्व को बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाने पर, आपने नाटक को पूर्ण कर दिया है। किन्तु, बुद्ध के पूर्वचरित के बाद घटित अन्य प्रसंगों को लेकर, अब आप (भवभूति के उत्तररामचरित जैसा) "तथागत" शीर्षक से एक दूसरा नाटक भी क्यों नहीं लिखते हैं?, तो उसके प्रत्युत्तर में श्री कोसम्बी ने कहा था कि-"बौद्ध समाज के अनुयायिओं को ऐसा नाटक पसंद नहीं आयेगा। क्योंकि बोधिसत्त्व (सिद्धार्थ) के बुद्ध हो जाने के बाद, उनको किसी नाटक का विषय बनाना[1] बौद्ध-भावना के विरुद्ध होगा"।।

[**दो विशेष बिन्दुः**--अशोक के शिलालेखों में आये "समाज" करने के प्रतिबन्ध को देखने के बाद, कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में "देवानामिदमानन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम् (1-4)" लिखा है, उसके पीछे छुपा हुआ इतिहास समझ में आता है। यद्यपि किसी अज्ञात व्यक्ति ने इस पंक्ति में आये "शान्तम्" शब्द के स्थान में "कान्तम्" पाठभेद दाखिल करके, कालिदास के सामने रही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि (=सम्राट् अशोक ने समाज को एकत्रित करने की मनाई)को धूमिल कर दिया है। 2. तथा वैयाकरण चन्द्रगोमिन् (500 ई.स.) ने लिखा "लोकानन्द" एक बौद्ध नाटक था। वह तिब्बती भाषा में मिलता है, जो बेहद क्षतिपूर्ण तिब्बती में उपलब्ध है। प्रॉफे. माईकल हान ने उसका सम्पादन किया है, जो जर्मनी से प्रकाशित है। इस नाटक में "मणि-चूडावदान" का नाट्यरूपान्तरण किया गया है।[2] (जातक-कथाओं में बोधिसत्त्व ही अपने शरीर का अवयव या पूर्ण जीवन का दान करके, दूसरों के दुःख दूर करते हैं। किन्तु अवदान कथाओं में, ऐसे दानादि के कर्म कोई दूसरे व्यक्तिविशेष के द्वारा किये जाते हैं-उसका निरूपण मिलता है।)]

श्रीधर्मानन्द कोसम्बी (1942) के "बोधिसत्त्व" (मराठी) नाटक का स्वल्प परिचय इस तरह का है:-ललितविस्तर, जातक-कथाएं, बुद्धचरित महाकाव्यादि

---

1. यद्यपि प्रस्तुत नाटक में मैं ने इस दिशा में चतुर्थ एवं पञ्चम अंकों की रचना की है। किन्तु बौद्ध मतावलम्बीओं की भावना को मनोदुःख न होवे उसका ध्यान रखा है। तथापि इस साहस के लिए मैं क्षमाप्रार्थी भी हूँ।
2. Candragomins Lokananda Nach den Tibetischen Tanjur herausgegeben und ubersetzt. Ein Beitrag zur klassischen indischen Schauspieldichtung, Von Michael Hahn, Weiesbaden, 1974.

तथा लाइट ऑफ एशिया (एडविन आर्नोल्डकृत) में बुद्ध का चरित पौराणिक स्वरूप का है। किन्तु श्री धर्मानन्द कोसम्बी जी को त्रिपिटकों में प्राप्त हुए बुद्ध के जीवनचरित के सामने यह पौराणिक कथानक कृत्रिम लगता है, मिथकीय लगता है। अतः उन्होंने, "बोधिसत्त्व ने गृहत्याग क्यों किया था?" -इस बिन्दु को सयुक्तिक निरूपित करने के लिए मराठी भाषा में बोधिसत्त्व नाम का नाटक ही लिखा है। (इस नाटक का हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी में अनुवाद हो चुके हैं।) उन्होंने अपने नाटक का नाम (सिद्धार्थ या बुद्ध-ऐसा नहीं रखा है), बल्कि "बोधिसत्त्व" रखा है। क्योंकि वे कहते हैं कि-"सिद्धार्थ" नाम त्रिपिटकों में कहीं पर प्रयुक्त नहीं है। नालकसुत्त के आरम्भिक भाग में बताया है कि अतिप्राचीन काल में गौतम बुद्ध के लिए केवल "बोधिसत्त्व" नाम का ही प्रयोग हुआ है। अपने नाटक के लिए त्रिपिटकों के जिन वचनों को उन्होंने आधार-बिन्दु बनाये हैं, उनके लिए लिखा है कि-

बोधिसत्त्व के गृहत्याग के बाद, राजा बिम्बिसार उनको मिलने के लिए आता है, इसका उल्लेख पब्बज्जासुत्त में उपलब्ध है। पहले तो बोधिसत्त्व ने छह वर्षों तक अनशनपूर्वक कठिन तपश्चर्या की, किन्तु बाद में उसका त्याग कर दिया, जिसके कारण पंचवर्गीय साधुओं ने बोधिसत्त्व का त्याग कर दिया। इसका उल्लेख त्रिपिटकों में अनेक स्थान पर है। तत्पश्चात् सुजाता के पायस का प्रसंग वर्णित है। इसका उल्लेख अंगुत्तरनिकाय के प्रत्येक निपात में मिलता है। इसके बाद, मार-युद्ध का वर्णन है। श्री धर्मानन्द जी ने बोधिसत्त्व का सीधे मार के साथ हुए संवाद को समुचित नाट्यात्मक स्वरूप दिया है। (विद्वानों की दृष्टि में अनुसन्धानात्मक इस नाटक की मंचन-क्षमता कदाचित् नहीं के बराबर हो सकती है। किन्तु श्री धर्मानन्द जी ने बोधिसत्त्व और मार के बीच में जो संवाद-शृंखला बनाई है वह उनकी नाटककार के रूप में एक सिद्धि माननी होगी।) श्री कोसम्बी जी यहाँ यह भी स्पष्ट करते हैं कि-मार-युद्ध की कहानी भी काल्पनिक है, तथापि बोधप्रद होने से उसको नाटक में स्थान दिया है। (और यह कहानी अतिप्राचीन भी है, क्योंकि इसी की अनुकृति बाईबल के "सैतान" में भी मिलती है।)

संस्कृत नाटकों की परिपाटी से हट कर, इस मराठी नाटक के चारों अंकों के विविध दृश्यों को "प्रवेश(क)" ऐसा नाम दिया गया है। तथा सूत्रधार प्रत्येक प्रवेश(क) के आरम्भ में रंगमंच पर आ कर वृत्त-वर्तिष्यमाण प्रसंगों की सूचना देता है। [श्री काकासाहेब कालेलकर जी ने (इस नाटक के "आमुख" में) ऐसी योजना की समीक्षा करते हुए लिखा है कि-सच्चे (यानी संस्कृत) नाटक में सूत्रधार नाटक का प्रारम्भ करके गुप्त हो जाने पर अन्तिम भरत-वाक्य तक फिर

से प्रकट ही नहीं होता। इसीलिए नाटक के मुख्य मुख्य दृश्यों का अनुसन्धान मिलाने के लिए नाटककार विष्कम्भक की युक्ति बरतते हैं। इसमें यद्यपि कवि का चातुर्य प्रकट होता था, फिर भी इतनी मेहनत करने का कोई कारण नहीं था। एक प्रवेश(क) पूरा होते ही सूत्रधार लौट कर आगे की वस्तु की भूमिका रच जाए तो इसमें एतराज की कोई बात नहीं प्रतीत होती।।]

प्रथम अंक में, बोधिसत्त्व का जन्म, उसके उपलक्ष्य में ऋषि असित का कपिलवस्तु में आगमन होता है। वह बताते हैं कि यह पुत्र भविष्य में संबुद्ध हो कर, धर्मचक्र-प्रवर्तन करेगा। उनका धर्म सहस्र वर्ष पर्यन्त चलता रहेगा। वे रोते भी हैं कि मैं इनके ज्ञान से वंचित रहूँगा। उसके बाद, माता मायादेवी का अवसान वर्णित है। चौथे-पाँचवें प्रवेशक कल्पनाजनित हैं, जिनमें बोधिसत्त्व को स्वतन्त्र विचारक एवं मृगया-विरोधी मानस वाला पुत्र बताया गया है। षष्ठ प्रवेशक में जम्बु वृक्ष के नीचे बोधिसत्त्व का ध्यान लगाना वर्णित है।। **दूसरे अंक में**-कुल चार प्रवेशक हैं। यशोधरा, उदायी एवं बोधिसत्त्व का जन्म किसी एक दिन ही हुआ था। बोधिसत्त्व ने सोलह वर्ष से लेकर पच्चीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन की शर्त रखी थी। जो यशोधरा के लिए मान्य थी। तत्पश्चात् उनका यशोधरा के साथ विवाह होता है-ऐसा सूचित किया है। दोनों का विवाह-जीवन सामञ्जस्य पूर्ण चलता दिखाया है। तथा बोधिसत्त्व अपने पिता के कृषिकर्मादि को सिख रहे थे, उसमें सहयोग देते थे। वे भारी कर्मयोगी थे। यहाँ ध्यानास्पद है कि-श्री कोसम्बी जी ने खुद्दकनिकाय की **थेरी-अपदान**[1] की (पेरा[3] (ग) में उद्धृत) गाथाओं के आधार पर यशोधरा का चरित्र-चित्रण किया है, जिसमें वह प्रकट शब्दों में, बोधिसत्त्व के सभी विचारों का पक्का अनुमोदन करने वाली धर्म-पत्नी के रूप में कही गई है। तथा श्रीधर्मानन्द जी ने यह भी बताया है कि गोपा = यशोधरा = भद्रा कात्यायनी (भद्दा कच्चाना) एक ही व्यक्ति है। श्री धर्मानन्द जी के मन में एक समस्या यह थी कि सोलह-सतराह वर्ष की आयु में यशोधरा एवं बोधिसत्त्व का विवाह हो गया था, और उन दोनों को पुत्र की प्राप्ति 29 वर्ष की आयु में हुई- इसको कैसे समझाये? इसीलिये उन्होंने ऐसा सोचा है कि उस श्रमणयुग में ब्रह्मचर्य के व्रतपालन की भावना का व्यापक प्रचार था। तो पच्चीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य के परिपालन करने के बोधिसत्त्व के विचार

---

1. सुत्तनिपात (सुत्तपिटकान्तर्गत) की अपेक्षा से अपदानों का संग्रह अर्वाचीन है। किन्तु थेरी अपदान तो ललितविस्तर की अपेक्षा से प्राचीन है ही। अतः अधिक श्रद्धेय है। (त्रिपिटकों का बहुशः भाग ईसा पूर्व का है। उनमें अपदान गाथाएं परवर्ती होगी, ईसापूर्व प्रथम शती में ललित-विस्तर आयेगा। और जातकट्ठकथाएं पांचवी शती में रची गई हैं।

के साथ यशोधरा भी सहमत हुई है। यहाँ तक दो प्रवेशक पूरे हो जाते हैं। उसके बाद जो चार प्रवेशक हैं उनमें शाक्यों के समूह में सभा की सदस्यता लेना और उसके नियमों का अंगीकार करना निरूपित है। इस प्रसंग की कल्पना विनयपिटक में आये "उपसंपदा" प्रकरण के आधार पर की गई है।।

तीसरे अंक में, बोधिसत्त्व के गृहत्याग का कारण क्या रहा होगा?-उसकी सयुक्तिक उपस्थापना की गई है। जैसे कि-शाक्यों और कोलियों के बीच कृषिकर्म में उपयोगी रोहिणी नदी के जल को लेकर बार बार युद्ध होता था। लेकिन बोधिसत्त्व ऐसा सुझाव देते हैं कि-दोनों पक्षों के दो दो प्रतिनिधि मिल कर, कुछ समाधान निकाले। जो बात शाक्यसेनापति को मंजुर नहीं है। वह तो युद्ध करने के लिए ही तुला था और उसके कहने पर अन्य शाक्य युवक भी सेनापति के पक्ष में मतदान करते हैं। बोधिसत्त्व के पक्ष का समर्थन करने वाले महानाम जैसे शाक्य अल्पसंख्यक ही थे। अब बोधिसत्त्व को बहुमत के आधार पर, युद्ध में शामिल होना ही था। फिर भी, बोधिसत्त्व तो युद्ध में भाग लेने से मनाई ही कर देते हैं। इस तरह के विरोध का एक ही दुष्परिणाम था: मृत्युदण्ड या देशत्याग। और मृत्युदण्ड की आज्ञा यदि कौशलराज की ओर से फरमाई जाय तो शाक्यसंघ को अन्य हानि भी हो सकती थी। अत: बोधसत्त्व ने स्वेच्छया प्रसन्नतापूर्वक देशत्याग करने का निर्णय ले लिया। (यशोधरा इतनी अनुकूल पत्नी है कि-वह भी बोधिसत्त्व के साथ ही देशत्याग, गृहत्याग करने को तैयार है। लेकिन पुत्र राहुल अभी बहुत छोटा है, अत: वह ऐसा नहीं कर पाती है।) इस तरह से, धर्मानन्द जी ने बोधिसत्त्व का गृहत्याग का निमित्त रोहिणी नदी के जलसम्बन्धी विवाद में दिखाया है।

[यद्यपि इस सन्दर्भ में, एक स्पष्टता करनी आवश्यक है:- विनय-पिटक में वर्णित महानाम और अनुरुद्ध की प्रव्रज्या में केवल कृषिकर्म में विविध मुश्किलियाँ बताई हैं, वहाँ रोहिणी नदी के जलविवाद का उल्लेख नहीं है। किन्तु खुद्दकनिकाय के "सुत्तनिपात-अट्ठकथा" पर जो परमत्थजोतिका नाम की टीका है, उसमें रोहिणी नदी का जलविवाद, कलह एवं युद्ध की परिस्थिति का वर्णन है। वहाँ भगवान् बुद्ध आकाश-मार्ग से आकर, शाक्यों और कोलियों के बीच समाधान करवाते हैं-ऐसी कहानी बताई है[1]। जिसमें टीकाकार ने अत्तदण्डसुत्त तथा फन्दनजातक के वचनों का मेल बिठाया है। श्रीधर्मानन्द जी ने इसका उपयोग

---

1. तत्थ विहरन्ते च भगवति साकिय-कोलियानं उदकं पटिच्च कलहो अहोसि।- सुत्तनिपात-अट्ठकथा, परमत्थ-जोतिका टीका, प्रकाशक:-विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, महाराष्ट्र, पृ. 81-82

करके, सिद्धार्थ के गृहत्याग का कारण अनुमित किया है।) वे बोधिसत्त्व के गृहत्याग को मिथकीय नहीं बताना चाहते थे।]

बौद्धपरम्परा के अनुसार, गौतम के गृहत्याग का कारण वृद्ध, रोगी, मृतक आदि निमित्तों के दर्शन से उत्पन्न हुए संवेग को माना गया है। किन्तु यह कोसम्बी जी को दो कारणों से मंजुर नहीं था। (क) परम्परागत कारण को त्रिपिटकों के वचन का समर्थन नहीं है। तथा (ख) गृहत्याग का कारण युक्तिसंगत होना चाहिए, मिथकीय नहीं। श्री कोसम्बी जी ने अपने विचार का बीज खुद्दकनिकाय के सुत्तनिपात के अत्तदण्ड सुत्त की गाथाओं में पडा है ऐसा बताया है[1]। वहां स्वयं बोधिसत्त्व के द्वारा कहा गया है कि-"जल के बिना छटपटा रही मछलियों की तरह मनुष्य प्रजा को कलह करते देख कर, मुझे भय पैदा हुआ"। इन वचनों में गृहत्याग का बीज स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। (श्री कोसम्बी इन पर अंगुलि रखते हैं।)

चौथे अंक में पंचवर्गीय भिक्षुओं के साथ बोधिसत्त्व का संवाद है, जिसमें तत्कालिक निर्ग्रन्थ (जैन) श्रमणों के विचारों की चर्चा है। आत्मा के नित्य या आंशिक अनित्य होने के विषय में चर्चा है। ततः बिम्बिसार के साथ भी बोधिसत्त्व का संवाद दिया है, उसमें तत्कालिक मगध, अंग राजाओं की राजनीति आदि से जुडे विवादों की चर्चा है। उसके बाद मार के साथ, बोधिसत्त्व का दो बार संवाद होता है। चौथे अंक के अन्तिम प्रवेशक में, मार के साथ दूसरी बार का संवाद होता है। पधानसुत्त में मार की आठ सेनाओं का जो उल्लेख है, तदनुसार इन सेनाओं का क्रमशः संवाद के रूप में विवरण है। इसमें ध्यानास्पद एक बिन्दु है:-श्री धर्मानन्द जी ने मार की "काम" नाम की प्रथम सेना को भोग-विलास के रूप में वर्णित की है। तत्पश्चात् "अरति"[2] नामकी दूसरी सेना की व्याख्या करते हुए उसका भाषान्तर "असंतोष" शब्द से किया है। दूसरा बिन्दु यह है कि-धर्मानन्द जी ने मार की आठ सेनाओं में आत्मस्तुति एवं परनिन्दा जैसी अन्य सेनाओं को जोड़ दी हैं। उनके बाद, कहते हैं कि "तृष्णा" का स्थान है। इस तृष्णाच्छेद होने पर (ही) निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। यहाँ पर नाटक समाप्त होता है।

---

1. *फन्दमानं पजं दिस्वा मच्छे अप्पोदके यथा। अञ्ञमञ्ञेहि व्यारुद्धे दिस्वा मं भयमाविसि।।2।।*
2. श्री राहुल सांकृत्यायन ने अरति का भाषान्तर "कंटाला, काम में मन न लगना" शब्द से किया है, मैंने राहुलोवाद में प्रयुक्त इस शब्द की व्याख्या "ईर्ष्या" से की है। यहाँ, पधानसुत्त में, श्री कोसम्बी जी ने उसको "असंतोष" अर्थ में लिया है। इस शब्द की अनेक अर्थच्छटाएं हैं, उसको सन्दर्भानुसार समझना चाहिए।

मराठी में लिखे गये इस नाटक में, श्रीधर्मानन्द जी के द्वारा प्रदर्शित किये गये कुछ आकर्षक बिन्दु को जानना रसप्रद होगा। जैसे कि–प्रव्रज्या लेने के लिए किसी राष्ट्रपाल नाम के व्यक्ति को मातपिता से अनुमति नहीं मिलती थी तो उसने कैसे "सत्याग्रह" किया था–उसका उदाहरण विनयपिटक में मिलता है। श्रीधर्मानन्द जी कहते हैं कि महात्मा गांधीजी से भी बहुत पहले, (1) बुद्ध के समय में ही "सत्याग्रह" का विचार सुप्रचलित था। (2) सुत्तपिटक में ऐसा स्पष्ट लिखा है कि–बोधिसत्त्व ने जो प्रव्रज्या ली है वह उनके रोते हुए मातपिता की उपस्थिति में और दिन के समय में ली थी।[1] यानी उन्होंने रात्रि के अन्धेरे में, पत्नी और पुत्र को निद्राधीन स्थिति में छोड दिया था–ऐसे वर्णनों को त्रिपिटकों का आधार नहीं है! एवमेव, (3) वृद्ध–रोगी–मृतकादि को देख कर बोधिसत्त्व को संवेग प्राप्त हुआ था–ऐसे वर्णनों को भी त्रिपिटकों का सीधा आधार नहीं है। तब प्रश्न होगा कि––जरा–रोगी–मृतकादि को देखने से सिद्धार्थ संतप्त हुआ था–यह बात कहाँ से आयी? तो स्वयं बुद्ध ने ही पूर्वभव के हुए किसी "विपस्सी बुद्ध" ने ऐसे चार दृश्यों को देखे थे और गृहत्याग किया था ऐसी (मिथकीय) कथा कही है। (द्रष्टव्य–दीघनिकाय के महापदानसुत्त में।) उसीको आधार बना कर "ललितविस्तर" लिखने वाले ने उन दृश्यों को गौतम बुद्ध के चरित में लागु कर दिये है। जिसका अश्वघोष ने भी अनुसरण किया। (4) निर्ग्रन्थ पार्श्वनाथादि बुद्ध के पुरोगामी थे ऐसा माना जाता है। उन निर्ग्रन्थों ने चतुर्याम (सत्य–अहिंसा–अस्तेय–अपरिग्रह[2]) की शिक्षा दी थी, वह बोधिसत्त्व को ग्राह्य थी। श्री कोसम्बी ने बोधिसत्त्व के मुख में रखी एक उक्ति में कहा है कि–यदि इन चतुर्याम का विकास होगा तो दुनिया में सुख एवं शान्ति की स्थापना हो सकेगी।(5) "सनातन धर्म" शब्द से यदि (मनुस्मृति–प्रोक्त) "वर्णाश्रम धर्म" समझा जाता है, तो श्री धर्मानन्द जी उसके साथ सहमत नहीं हैं। उन्हों ने अपने इस नाटक में, बोधिसत्त्व के मुख से कहा है कि–भारत में कभी ऐसा सनातन धर्म नहीं था। क्योंकि–ब्राह्मण जाति के लोगों में द्रोण जैसे योद्धा भी थे, क्षत्रियों में राजा जनक जैसे ब्रह्मज्ञानियों का प्रमुख स्थान है। महर्षि व्यास मत्स्यगन्धा नाम की धीवरी का पुत्र थे। फिर भी वह अस्पृश्य

---

1. सो खो अहं, राजकुमार, अपरेनसमयेन दहरोव समानो सुकालकेसो भद्रेन योब्बनेन समन्नागतो पठमेन वयसा अकामकानं मातापितूनं अस्सुमुखानं रुदन्तानं केसमस्सु ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि अच्छादेत्वा आगारस्मा अनगारियं पब्बजिं।–अरियपरियेसनसुत्त, पासरासिसुत्त, मज्झिमनिकाये।।
2. महावीर स्वामी ने कालान्तर में इस चतुर्याम में पांचवां "ब्रह्मचर्य" व्रत को जोडा था।
3. भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि–चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण–कर्म–विभागशः। (गीता, 4–13)

नहीं थे। बल्कि वह "महर्षि" पद को प्राप्त भी कर सकते हैं। मातंग ऋषि चाण्डाल थे। इससे सिद्ध होता है कि वर्णाश्रम धर्म जैसा कोई सनातन धर्म कभी था ही नहीं![3] (6) श्री कोसम्बी ने "मध्यम मार्ग" को भी, सुजाता के साथ बातचीत करते हुए बोधिसत्त्व के मुख से स्पष्ट किया है:-यज्ञ-यागादि एवं तपश्चरण के बीच में कोई धर्ममार्ग होना ही चाहिए, जिसकी बोधिसत्त्व अन्वेषणा करना चाहते हैं।

(अलबत्ता, इन विशेष ध्यानाकर्षक बिन्दुओं का परिगणन करते हुए यह भी निर्देश्य है कि श्रीधर्मानन्द जी ने अपने नाटक में मैत्री-मुदिता-करुणा की कोई खास बात नहीं की है। तथा बुद्धत्व प्राप्ति और तदनन्तर चार आर्य सत्यादि के कथन रूप धर्मचक्र-प्रवर्तन को नाटक का विषय नहीं बनाया है। क्योंकि बौद्धानुयायियों को बुद्धत्व प्राप्ति के बाद, बुद्ध को मंचन का विषय बनाना पसंद नहीं आयेगा।।) इति दिक्।।

[6]

नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त एवं प्रस्तुत नाट्यकृति का शान्त-रस

यद्यपि भरत मुनि ने मूल में तो आठ रसों का एवं आठ ही स्थायि भावों का विधान किया था। किन्तु कालान्तर में उन कारिकाओं में पाठभेद दाखिल करके नवम रस तथा नवम स्थायि भाव का प्रदर्शन भी किया गया। जैसे कि-

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञाः शान्ताश्च नव नाट्यरसाः।। (6-15), एवं-

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायि-भावाः प्रकीर्तिताः।। (6-17)

उसी तरह से इन नव रसों के अलग अलग अधिदेवताओं का निरूपण करनेवाली कारिकाओं में भी पाठभेद का निर्देश करके, अभिनवगुप्त ने शान्त रस के अधिदेवता के रूप में कोई दूसरे देवता नहीं, बल्कि भगवान् बुद्ध का ही उल्लेख किया है:- *शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः। रौद्रो रुद्रदैवत्यः करुणो यमदैवतः।।* (6-44), *बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः। वीरो महेन्द्रदेवः स्याद् बुद्धः शान्तेऽब्जजो-ऽद्भुते।।* (6-45)।। इस पाठभेद का विवरण देते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि-"बुद्धः शान्ते-ऽब्जजोऽद्भुते" इति शान्तवादिनः केचित् पठन्ति। बुद्धो जिनः परोपकारैकपरः प्रबुद्धो वा।। (नाट्यशास्त्रम्, भाग-1, सं. रामकृष्ण कवि, ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट, वडोदरा, 1992, पृ. 293)

यहाँ, शान्त रस के स्थायि भाव के रूप में शम को निर्दिष्ट किया है।

लेकिन अभिनवभारती में दिये मतमतान्तरों के अनुसार "उत्साह", "जुगुप्सा", अथवा "तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद" को भी शान्त रस के स्थायि भाव बताये गयें हैं। (नाट्यशास्त्र, पृ. 262) अभिनवगुप्त ने शान्त रस के अधिदेवता के रूप में बुद्ध का नामोल्लेख किया है, किन्तु बुद्ध जिसमें नायक हो और प्रधान रस शान्त हो ऐसी कोई नाट्यकृति का उदाहरण नहीं दिया है।[1] प्रस्तुत नाटक में भगवान् बुद्ध को नायक के रूप में निरूपित किये गये हैं, जो भी दयावीर, करुणावीर होने के साथ साथ "धीरप्रशान्त" नायक कहे जा सकते हैं। नायक बुद्ध के जीवन के पूर्वार्ध को दो चरणों में विभक्त करके देखें तो-प्रथम चरण में (तत्त्वज्ञान-जनित) **निर्वेद** और दूसरे चरण में अपने सद्धर्म का बहुजन हिताय प्रचार करने का **उत्साह** इन दो स्थायि भावों को देखे जा सकते हैं। संसार में फैले जरा, रोग और मरण जैसे अपरिहार्य दुःखों के ज्ञान से पैदा हुए निर्वेद से ही वे संसार से उपरत हो गये थे और उन्होंने महाभिनिष्क्रमण किया था। तथा अतिकठोर तपश्चर्या से प्राप्त हुए बुद्धत्व के बाद, 45 वर्षों तक उन्होंने जो निरन्तर धर्मोपदेश किया, उसमें परोपकारैक पर जीवन-यापन करने का उनका "उत्साह" भी स्थायि के रूप में देखा जा सकता है। अभिनवगुप्त ने इन दोनों में से किसी एक स्थायि भाव से भी "शान्त रस" की निष्पत्ति को सम्भवित मानी है, प्रस्तुत नाटक में बुद्ध के जीवन की घटनाओं में तो दोनों ही स्थायि भाव क्रमशः प्रवृत्त हुए हैं ऐसा उभर कर सामने आ रहे हैं। इति दिक्।।

[7]

बुद्ध के जीवन के किन बिन्दुओं पर ध्यान दिया गया है?

ख्यात इतिवृत्त के रूप में बुद्ध के जीवन की घटनाओं को लेकर जब एक नाट्यकृति की रचना करने का संकल्प किया तब सब से पहले निम्नोक्त बिन्दु सामने आते हैं:--

1. बुद्ध को पलायनवादी कहा जाय या नहीं? (क) सिद्धार्थ ने सो रही यशोधरा को बिना जगायें गृहत्याग किया था। इस प्रसंग में उन्होंने पूर्व-जीवन के किस सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए, धर्मशीला पत्नी की मूक सम्मति मान ली होगी?, (ख) तथा सिद्धार्थ के मन में वह कौन सा विचार हो सकता है कि जिसके कारण वे बालक राहुल को भी छोड पाते हैं?-इस पर क्या सोच रखी जा सकती है?।

---

1. अभिनवगुप्त ने नागानन्द नाटक के नायक जीमूतवाहन को दयावीर प्रकार का नायक बताया है।

2. अनेक विचारकों ने माना है कि सिद्धार्थ ने युवावस्था में पहुँचने तक कोई दुःखदायी दृश्य या प्रसंग देखा ही न हो-यह सम्भव ही नहीं है। अतः राजहंस पक्षी के निमित्त से सिद्धार्थ को वास्तविक जगत् की कुरूपता का पहला परिचय हो गया था-इसको प्रदर्शित करना आवश्यक समझा गया है।

3. इसी देवदत्त के पक्षीवेध निमित्त से खडे हुए विवाद एवं विरोध में, भविष्य में देवदत्त की प्रतिनायक की भूमिका का बीजवपन करना उपकारक माना गया है।

4. बुद्ध ने अपने जीवन के उत्तर भाग में, नारियों को भिक्खुणी बनने के लिए अनुमति दी थी-इस ऐतिहासिक प्रसंग को किस दृष्टि से उपयोग में लिया जाना चाहिए?, दूसरे शब्दों में कहे तो-बौद्ध-धर्म को विश्व-धर्म की भूमिका पर पहुँचाने में धर्मशीला यशोधरा की भूमिका कैसे प्रकट की जाय?।

5. बुद्ध के पालि वचनों का संस्कृतानुवाद करके, उनके तत्त्वचिन्तन को नाटक के कथानक में बीच बीच में सहज रूप से बुन लेना भी अनिवार्य था। क्योंकि महान् विभूतियों के जीवन में घटी केवल घटनाएं ही महत्त्व नहीं रखती हैं। बल्कि उन घटनाओं के साथ साथ उच्चरित बोधिवचन ही अन्ततो गत्वा सही महत्त्व रखते हैं। अतः प्रस्तुत कृति में बुद्ध के-(1) चार आर्य सत्य, (2) पञ्चशील, (3) दो अतिओं का त्याग एवं मध्यम मार्ग का अवलम्बन, (4) आत्मदीपो भव-की सिख, (5) उपेक्षा, मुदिता, मैत्री एवं करुणा की भावनाएं, (6) सर्वं दुःखम् का विवरण, (7) वर्ण-जाति प्रथा का विरोध, (8) वैदिक यज्ञ-संस्कृति का अस्वीकार आदि को भी उजागर करना अपेक्षित है। (जिससे विशेष जिज्ञासु के मन में मूल आकर ग्रन्थों-त्रिपिटकों-का स्वाध्याय करने की रुचि पैदा हो जाय।)

6. बुद्ध के जीवनचरित को समझने के लिए जातक-कथाओं की अहम भूमिका रही है। बौद्धों की मान्यता है कि सिद्धार्थ ने केवल एक जन्म के पुरुषार्थ से बुद्धत्व प्राप्त नहीं किया था। "बोधिसत्त्व" के रूप में उनके पहले भी अनेक अवतार हुए थे। तो इन के लिए जातक कथाओं का नाट्य-रूपान्तरण करना आवश्यक माना गया है।

7. बुद्ध के लिए प्रयुक्त हो रहे कतिपय नामान्तर, जैसे कि-शास्ता, अवलोकितेश्वर, तथागत कैसे नाटक में चरितार्थ होते हुए दिखाया जा सकता है?। इत्यादि विचारों से प्रेरित हो कर।

8. नाट्यशास्त्र (अ. 32) में चर्चित ध्रुवाएं आदिकाल में तो सम्भवतः नटमण्डलियों के द्वारा पूर्वनिर्धारित होगी। ऐसी ध्रुवाएं नाट्यकृति में नृत्य-संगीत को प्रवेश करवाने का मौका देती हैं। तदुपरान्त, स्वानुभव से लगा है कि-एक लम्बे कालखण्ड में फैला कथानक जब नियत समयावधि में सिमटाना हो तो, नाट्यकार स्वयं भी वस्तुसंकलना करने में अपनी ध्रुवाओं का विनियोग कर सकता है।।

प्रस्तुत नाटक में, बुद्ध के जीवन का जो विशाल कालखण्ड (50 से 60 वर्षों में फैला) है और वैविध्यपूर्ण स्थानों पर हुई घटनाओं से भरा है-उन दोनों का संकलन कैसे सिद्ध किया जाय? यह चुनौती थी। जिसके लिए-(क) नाटक में आवश्यक ऐसा कार्यवेग साधने के लिए ज्योतिर्विद् माण्डव्य एवं विदूषक का नया कल्पन किया है। प्रस्तुत नाटक में कौण्डिन्य के अलावा इस माण्डव्य ने भी एक ही अंगुलि उठाई थी। विवेचक नामका विदूषक इन दोनों की मजाक भी उड़ाता है और आगामी एवं भूतकालिक प्रसंगों के संकेत भी इनके संवादों से सूचित किये जाते हैं। नायक बुद्ध के गौरव को ध्यान में रखते हुए विदूषक को बुद्ध का नर्मसचिव नहीं बनाया जा सकता था। अतः वह दो ज्योतिर्विदों को ही मजाक का विषय बनाता है। विदूषक का विनियोग इस विरक्तिप्रधान कथावस्तु में रसान्तर के लिए भी किया है। तथा (ख) नाटक के प्रत्येक अंक के अन्त में नैष्क्रामिकी ध्रुवा रखी है। जिनसे उन अंकों में सम्पन्न हुए कार्य की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुए, अंक का उपसंहार किया गया है। सभी अंकों में, कुछ स्थानों पर प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी एवं नैष्क्रामिकी जैसी ध्रुवाओं के विनियोग ने भी वस्तुसंकलना में विशिष्ट सहयोग दिया है।।

नाट्यशास्त्र एवं बौद्ध-साहित्य के अधिकारी विद्वान् अपने दृष्टिकोण से इस नाट्यकृति की विवेचना करेंगे, तब उपर्युक्त बिन्दुओं को भी दृष्टिपथ में लिये जायेंगे तो खुशी होगी।। आनन्दवर्धन ने कहा है कि-

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।। (ध्वन्यालोकः,4-4)

वृत्तिः- *तथाहि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूप-व्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम्। ....। यथा व्यङ्ग्यभेदसमाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वम् उत्पद्यते, तथा व्यञ्जकभेद-समाश्रयेणापि। तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिख्यते। स्वमेव सहृदयैरभ्यूह्यम्।।*[1]

---

1. ध्वन्यालोकः। (4-4), सं. आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1985, पृ. 341.

अर्थात्-जिस तरह से वृक्ष का मुख्य स्तम्भ एवं शाखाएँ पुरानी होते हुए भी, प्रत्येक मधुमास में उनमें नये रस भर जाने से वे (पुराने) वृक्ष भी नव पल्लवित होकर, बिलकुल ही नये हो ऐसे सुशोभित हो जाते हैं, वैसे ही ख्यात इतिवृत्त भी नये व्यङ्ग्य (वस्तुध्वनि, अलंकार एवं रस) एवं नवीन व्यंजक सामग्री से भरे जाने से नवीन प्रतीत होते हैं।।

आनन्दवर्धन ने इस कारिका में ख्यात इतिवृत्त वाले काव्य कब नवीन लगते हैं उसकी सटीक व्याख्या की है। किन्तु इस मीमांसा में अन्तर्निहित एक अनुक्त बिन्दु यह है कि ख्यात इतिवृत्त यानी वस्तु-कंकाल अन्दर से जीवित होना चाहिए।[1] वह किस रूप में जीवित होता है? तो, ऐसे ख्यात इतिवृत्तों में कईं ऐसे स्थान होते हैं, जिनमें सार्वभौम एवं सार्वकालिक कोई समस्या अन्तर्गर्भित अवस्था में सदैव जीवित पड़ी होती है। जो प्रत्येक युग के नवसर्जक को आह्वान देती है और उस समस्या को अपनी दृष्टि से नया मोड़ देने का अवकाश भी देती है। भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित जैसा ख्यात इतिवृत्त भी अनेक सम्भावनाओं से भरा पड़ा है, इसमें से अभी भी नव-नवीन काव्य, नाटकादि का सर्जन हो सकता है।।

प्रस्तुत धर्मचक्र-प्रवर्तन नाटक में-1. बुद्ध की पलायनवादी प्रवृत्ति थी या नहीं?, 2. यह करुणामूर्ति पुत्र राहुल सहित पत्नी यशोधरा का त्याग कैसे और क्यों कर पाये?- इन बिन्दु पर नया विचार प्रस्तुत करने का उपक्रम है। इसी के अनुसन्धान में, 3. उनके द्वारा प्रवर्तित किया गया एक नया धर्मचक्र दिग्-दिगन्तों में कैसे पहुँच पाया? इस तीसरे प्रश्न पर भी विचार किया गया है। भिक्षुणियों के संघ में प्रवेश करवाने की अनुमति में कौन सा प्रेरक बिन्दु रहा था?-इस प्रश्न को लेकर, त्रिपिटकों में जो हकीकत (शिष्य आनन्द के विशेष प्रयास) मिलती है उसको लेने के साथ साथ, कुछ नवीन दृष्टि से भी इस बिन्दु को प्रस्तुत किया है। बौद्ध धर्म का विश्व-समस्त में जो व्यापक प्रसार हुआ है उसमें सम्राट् अशोक की पुत्री संघमित्रा का योगदान अविस्मरणीय है। किन्तु इस ऐतिहासिक हकीकत

---

1. जैसे कि-महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में पुत्र भरत की पैतृक पहचान की समस्या चिरकाल से सजीव बैठी है। एवमेव, ज्येष्ठ भ्राता राम की सेवा में लक्ष्मण ने अपनी पत्नी उर्मिला को जो अकेली छोड़ दी, तो उसके अनुक्त विरह का क्या?, तथैव श्रीराम ने लोकापवाद से सीता का त्याग किया उसमें कितनी न्यायिकता है?-ऐसी चिरंजीवी समस्याओं का समाधान देना प्रत्येक युग के साहित्य-रचयिता के लिए चुनौती रूप होता है। जब ऐसी चिरकाल से नये नये समाधान की प्रतीक्षा कर रही समस्याओं वाले कथावस्तु को लेकर, उनमें नये रस-कस भरे जाते हैं तब वे काव्य नवीन प्रतीत होते हैं।।

के मूल में तो नारियों का बौद्ध-संघ में प्रवेश करवाने का पहला श्रेय यशोधरा, मौसी महाप्रजापति और शिष्य आनन्द को ही मिलना चाहिए ऐसा सोचा गया है। इस सन्दर्भ में यशोधरा के प्रयास का बिन्दु इसी लिए भी ध्यानास्पद लगा है कि-जैसे मृच्छकटिक में नायक चारुदत्त अपने शरीर से निकाल कर पुत्र रोहसेन को यज्ञोपवीत पहनाता है, वह मानों एक तरह से अपने दानशील ब्राह्मणत्व को ही विरासत में देता है। तद्वत् यशोधरा भी जब सामने से चल कर, अपने पुत्र राहुल को बुद्ध से दायभाग के रूप में सद्धर्म को ही मांगने की प्रेरणा देती है- तो वह चेष्टा उसके मन में छुपे गूढ-आशय को ही, यानी उसकी धर्मप्रियता को ही व्यंजित करती है। प्रस्तुत कृति के पंचमांक में चन्द्र-किन्नर जातक-कथा से बुद्ध का जो "तथा-गतत्व" व्यक्त किया गया है, उससे भी प्रस्तुत नवीन कल्पना का समर्थन होता है। तथा बुद्ध के मस्तक पर आरोपित किया गया पलायनवाद भी निरस्त हो जाता है।।

बुद्ध के साथ जुड़े जिन व्यक्तित्वों को पहले गिनाये गये हैं, उनमें से (क) ऐतिहासिक बुद्ध के दर्शन तो प्रायः समग्र नाटक में अलग अलग स्थानों पर दिखाई देगा। जैसे कि-उनके परिवार जनों की पात्र-सृष्टि, उनका गृहत्याग, उनकी तपश्चर्या, पंच वर्गीय भिक्खुओं, सुजाता से भिक्षा में पायस ग्रहण करना, ऋषि-पत्तन में प्रथम धर्मोपदेश (धर्मचक्र-प्रवर्तन), रोहिणी नदी के जल को लेकर शाक्यों एवं कोलियों के बीच होते रहे विग्रह, धर्मचक्र-प्रवर्तन में प्रतिनायक देवदत्त के द्वारा पैदा किये गये अवरोध, कपिलवस्तु में पुनरागमन, पुत्र राहुल को पैतृक दायभाग (उत्तराधिकार) के रूप में प्रव्रज्या देना तथा अन्त में संघ में भिक्खुणियों के प्रवेश की अनुमति देना और उसका प्रारम्भ माता महाप्रजापति एवं देवी यशोधरा के प्रवेश से करना। इन प्रसंगों को, चूंकि त्रिपिटकों के वचनों का समर्थन है, ऐतिहासिक माने जा सकते हैं। सिद्धार्थ जब नगरचर्या के लिए जाता है तब उसने एक वृद्ध, रुग्ण, मृतशरीर (शब) और एक परिव्राजक का दर्शन किया और इनसे उसके मन में संवेग उत्पन्न होता है। इन दृश्यों का निरूपण जातकट्ठकथाएं, ललितविस्तर तथा अश्वघोष के बुद्धचरित महाकाव्य में तो हुआ ही है। लेकिन उन दृश्यों का मूल स्रोत सुत्तपिटक के दीग्घनिकाय के महावग्ग के आरम्भ में स्पष्ट रूप से दिया गया है। उसी तरह से, आठ ज्योतिषियों में से युवा कौण्डिन्य ही ऐतिहासिक है, (उसका त्रिपिटकों में निर्देश मिलता है), और पंच वर्गीय भिक्खुओं में से जो अन्य चार भिक्खु थे, वे कौण्डिन्य के साथ सिद्धार्थ का भाविकथन करने आये हुए ज्योतिर्विदों के ही पुत्र थे। अतः वे भी ऐतिहासिक हैं। अमात्य उदायी को ललित-विस्तर एवं अश्वघोष के बुद्धचरित का

समर्थन है। अन्य पात्रसृष्टि, जैसे कि-विदूषक, माण्डव्य, विनीता, सुनीति, राजा विश्वजित काल्पनिक है।।

(ख) चिन्तनशील, तर्कप्रिय बुद्ध के व्यक्तित्व का प्रथमोन्मेष बाल्यावस्था में जामुन वृक्ष के नीचे से ही शुरू होता है। देवदत्त के साथ विवाद करते हुए, तत्पश्चात् गृहत्याग के निर्णय में, तपश्चार्या के दौरान मध्यम-मार्ग को खोजने में देखा जा सकता है। तथा पुत्र राहुल को प्रव्रज्या देने के निर्णयादि में देखा जा सकता है।

विशेष में, वैदिक मन्त्र-साहित्य से हम जानते हैं कि-ऋषि-मुनियों ने सृष्टि का ही आकलन करके "को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्, कुत आ जातेयं विसृष्टिः"। (नासदीयसूक्त, 5) इत्यादि वचनों उच्चरित किये हैं। उनमें से ही परवर्ती काल में दर्शनशास्त्र का विकास हुआ है। तद्वत् भगवान् बुद्ध के विषय में भी कहा जा सकता है कि उनको भी जगत् के दुःखों को दूर करने के लिए जो मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षादि का एक विशिष्ट दर्शन प्राप्त हुआ हैं, उनका मूल भी उन्होंने अपनी बाल्यावस्था में जो निसर्ग का बारिकी से अवलोकन किया है वहाँ देखा जा सकता है। बौद्ध मतानुयायी, विशेष करके महायानी मानते हैं कि केवल एक जन्म के पुरुषार्थ से किसी को बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती है। इस लिये उन्होंने बुद्ध के पूर्वावतारों का निरूपण करने वाली बोधिसत्त्व की मिथकीय कल्पना आविष्कृत की है और उनसे जुड़ी जातक-कथाओं का निर्माण किया है। जिनमें बताया है कि बोधिसत्त्व के रूप में उन्होंने पहले मैत्री-पारमिता, करुणा-पारमितादि सिद्ध की थी। किन्तु क्षण भर के लिए बोधिसत्त्व की मिथक को छोड भी दें तो सिद्धार्थ ने (विशिष्ट प्रकार की बन्धनावस्था वाली) बाल्यावस्था से निसर्ग का जो अवलोकन किया है उससे ही उन्होंने मैत्री-करुणा-मुदितादि का चिन्तन विकसित किया होगा। इस विचार से प्रेरित होकर, प्रस्तुत नाटक में बुद्ध के धर्मोपदेशों को अनेकत्र निसर्ग के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है। इसके उपलक्ष्य में हमें यह जानना चाहिए कि बुद्ध का निसर्गावलोकन और उनमें से प्रस्फुटित हुए दर्शन की जड़े कहाँ पर गडी हुई थी। जैसे कि-माता मायादेवी लुम्बिनी उपवन की शोभा से आकृष्ट हुई, वहाँ रुकी और तब वहाँ प्राकृतिक स्थान में सिद्धार्थ का जन्म हुआ था। यहीं से सिद्धार्थ की निसर्ग-प्रीति शुरू होती है। जब बोधिज्ञान हुआ था तब भी वे तप के लिए जिस नेरंजना नदी के पास उरुवेला में बैठे थे, वह भी वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य से आकृष्ट हो कर बैठे थे-ऐसा निर्देश मिलता है।।

(ग) शास्ता के रूप में उनका जो तीसरा व्यक्तित्व है, वह चतुर्थ अंक में, शिष्य पूर्ण को प्रश्नोत्तरी के रूप में मैत्री का उपदेश करते हुए देखा जा सकता है। देवदत्त के विघातक प्रयासों की उपेक्षा करने के अभिगम में देखा जा सकता है। तथा करुणा का उपदेश देने के लिए, उदाहरण के रूप में, वे विश्वजित के सामने इन्द्र-जातक की मिथक को प्रस्तुत करते हैं।

(घ) चमत्कारिक बुद्ध का निरूपण प्रथमांक के लिपिशाला प्रसंग में, तीसरे अंक के मार-विजय प्रसंग में, तदुपरान्त (प्रथमांक से पहले रखे गये) विष्कम्भक में रखी गई शश-पण्डित जातक-कथा में[1], चतुर्थ एवं पंचम अंक में रखी इन्द्र-जातक कथा एवं चन्द्र-किन्नर-युगल जातक-कथा में देखा जा सकता है। इति दिक्।।

-----000-----

1. यह उल्लेखनीय है कि शशपण्डित जातक-कथा में-गीदड, उदबिलाव, कपि एवं खरगोश का निर्देश है। किन्तु प्रस्तुत नाटक में गीदड को हटा दिया है। तथा चरियापिटक के शशपण्डित जातक में मर्कट, शृगाल, उद्पोत और शशपण्डित का निर्देश है। एवञ्च चरियापिटक में इन्द्र के द्वारा चन्द्रमण्डल में शश का चिह्न अंकित करने की बात नहीं है। जातक-कथाओं में बोधिसत्त्व की कहानियाँ जितनी रोचक ढंग से प्रस्तुत की गई है, उस तरह की प्रस्तुति चरियापिटक की गाथाओं में नहीं है।।

॥ नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा-सम्बुद्धस्स॥

॥ धर्मचक्र-प्रवर्तनम् ॥

(नान्दी-पद्यम्)

सिद्धार्थं प्रणमामि बोधिसहितं, शाक्यं शशाङ्कोत्तमं
दु:खानां प्रभवश्च येन विदितस्तं नौमि बुद्धं वरम्।

चक्रं धर्मरथस्य वाहयति यो दीपङ्करः[1] सर्वदा
तस्येयं जनिपूर्णिमा वितनुतां सद्धर्ममार्गं शुभम्॥ १-१॥

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

सूत्रधारः- (वन्दनमुद्रामभिनयति)अहो नभसि विलसति प्रेरणाप्रदायिनी सैव वैशाखमासस्य पौर्णमासी।

नक्षत्रसंयुतो भाति चन्द्रो गगनमण्डले।
पारमितादिभिः पूर्णो बुद्धश्च जनसंसदि॥ १-२॥

तथागतस्य पश्यन्तु धर्मचक्रप्रवर्तनम्।
वसन्तेन प्रणीतं यज्जातकादिविभूषितम्॥ १-३॥

भगवतो बुद्धस्य जीवनमधिकृत्य, अपूर्वमिदं नाटकमस्माभिरभिनेतव्यमिति बद्धपरिकरा वयम्।

नटी- यद्येतादृशी संकल्पना तर्हि नटीशून्यमेव भविष्यतीदं नाटकमिति मन्ये।

सूत्रधारः- कथमेवम् उच्यते।

नटी- आर्यपुत्र, श्रूयते प्रबुद्धेन बुद्धेन तु स्वकीये बौद्धसंघे नारीणां प्रवेशो निषिद्ध इति। अतः प्रतिनिवर्तयाम्यस्माद् रङ्गात्।

सूत्रधारः- न हि, न हि। मा भूदेवम्। किम् एकेनैव चक्रेण रथ उद्वाह्यते?। संसाररथोऽपि दम्पतीनामकेन चक्रद्वयेनैव प्रवर्तत इति न विस्मर्तव्यम्।

नटी- सत्यमुक्तम्। द्वाभ्यां चक्राभ्यामेव रथो यद्युद्वाह्यते, तर्हि महत्कौतुकास्पदं भविष्यत्येतन्नाटकम्।

---

1. अनादिबुद्धस्य कृते प्रयुज्यत इयं संज्ञा।

(नेपथ्ये-रथचक्रयोः ध्वनिः श्रूयते)

सूत्रधारः- किमिदम् *(आकाशे पश्यन्, कर्णेन शृण्वन्)* आम् ज्ञातम्। राज्ञः शुद्धोदनस्य रथो लुम्बिनीवनात् पुत्रसहितां मातरं महामायां कपिलवस्तुमानेतुं प्रस्थित इति। तस्यैव रथस्य चक्रयोरयं ध्वनिः श्रूयते। एहि, तत्रैव गच्छावः।

नटी- पुत्रजन्माभिलक्ष्य तत्र विविधानि रत्नानि प्रकीर्यन्ते, तर्हि झटिति गन्तव्यम्।

सूत्रधारः- आम्, त्रिरत्नलाभायैव भविष्यत्यस्मन्नाट्यप्रयोग इत्यलमतिविस्तरेण।

(इति प्रस्तावना)

(विष्कम्भकः)

सूत्रधारः- अरे! कुत्र गतानि मम मित्राणि? निर्जनमिदं वनम्, न कोऽपि परिलक्ष्यतेऽत्र। प्रातःकाले सर्वे प्राणिनः किमपि भक्ष्यमवाप्तुम् यत्र तत्र परिभ्रमन्ति। क्षुधापि सनातनो रोगः। तस्य रोगस्य शमनाय को न यतेत।

(उदबिडालमुखः पारिपार्श्वकः, कपिमुखश्च विवेचको नाम विदूषकः प्रविशतः।)

विदूषकः- किम् किमुक्तम् भवद्भिः। क्षुधापि रोग इति?

सूत्रधारः- आम्, यतो हि यत्किमपि पीडां जनयति, तत्सर्वम् रुज्संज्ञकम्।

विदूषकः- वयमपि तस्याः रुज एवोपशमनायोत्प्लवामो धावामश्चेतस्ततः।

पारिपार्श्वकः- अहमप्येतस्मिन्नेव कर्मणि संलग्नः। जलाशये पौनःपुन्येन गतागतं करोम्याप्रभातात्।

सूत्रधारः- भक्ष्यप्राप्तेरनन्तरमपि सा क्षुधा न सर्वथोपशाम्यति। पुनरपि सा प्रादुर्भवति, पुनश्च पीडयति। अतः सर्वैरहोरात्रं भक्ष्यान्वेषणाय प्रयत्यते।

विदूषकः- क्षुधाशान्तिस्तु येन केनाप्युपायेन कर्तुं शक्यते। कस्माच्चिदाच्छिद्य चौरकर्मणापि वा।

सूत्रधारः- समीचीनमुक्तम्। किन्तु विवेकाकाङ्क्षिणे विदूषकाय प्रथममुपदिश्यते यत्परिश्रमेणैव भक्ष्यप्राप्तिः कर्तव्या। तदनन्तरमेकस्य शीलस्यापि परिरक्षा कर्तव्या। यथा कस्मैचिददत्वा न कदापि भक्षणीयमिति। स्वल्पात् स्वल्पतरमपि देयमिति शीलम्। मन्ये मम मित्राणि शीलस्यास्य परिपालनाय प्रतिशृण्वन्ति।

उभौ- आम्, इतः प्रभृत्यङ्गीकृतमेतस्य व्रतस्य परिपालनम्।

(रंगे त्रयोऽपि परिक्रमणं कुर्वन्ति। ततः कपिमुखेन विदूषकेणोत्प्लुत्योत्प्लुत्याम्रवृक्षात् त्रीणि फलानि संप्राप्तानि। उदबिडालीभूतेन पारिपार्श्वकेनापि पौनःपुन्येनजलप्रवाहे निमज्जनं कृतम्, ततश्च केचन मत्स्याः संप्राप्ताः। शशपण्डितो भूतः सूत्रधारश्चिन्तामग्नः स्थितः। आलस्यं प्रकटीकृत्य भूमिमधिशेते)

(नेपथ्यतो ध्वनिः श्रूयते)

इन्द्रः- भो भोः। अहमस्मि देवराज इन्द्रः। एतैः प्राणिभिर्भोजनात्पूर्वं किञ्चिद् देयमिति व्रतस्य दीक्षा गृहीता। किन्तु व्रतस्यास्य भेदनं कथं स्यादिति मया चिन्तनीयम्। यतो हि-एतादृशेन व्रतेनापि ते कदाचित् स्वर्गं समधिगन्तुं प्रभविष्यन्ति।

(इन्द्रो ब्राह्मण-वेशेन प्रविशति)

इन्द्रः- अरे वानर! अतिथिरयं बुभुक्षितो ब्राह्मणः। मम कृतेऽस्ति किमपि भक्ष्यं तव समीपे?

विदूषकः- यद्यब्राह्मणोऽपि स्याः, भोजनात्पूर्वं किञ्चिद् देयमिति व्रतं मयाङ्गीकृतम्। अतः प्रदास्यामि तुभ्यमेतानि फलानि। प्रतिगृह्यताम्। सफलीभवतु मे दिनम्।

इन्द्रः- साधु संकल्पितं विवेचकेन। अब्राह्मणाय च देयमिति। परिपाल्यन्तामेतानि फलानि यावदहं पुनरागच्छामि।

(इन्द्र उदबिडालस्य समीपं गत्वा)

इन्द्रः- अरे उदबिडाल! अस्यातिथेः सत्कारं त्वं कथं विधास्यसि? नैकानि स्थानानि चंक्रम्य परिश्रान्तः, बुभुक्षितश्च। किञ्चिद् दीयताम् मह्यं क्षुधोपशमनाय।

पारिपार्श्वकः- अतिथेः स्वागतम्। उपकृतं भवता।। भवत आगमनेन मदीयं व्रतं पूर्णतां गतम्। आप्रभातात् प्रतीक्षामेव कुर्वन्नासम्। प्रतिगृह्यतां क्षुच्छान्त्यै, परिश्रमेण संगृहीतानि जलचराण्यैतानि।

इन्द्रः- धन्योऽस्मि भवादृशं संप्राप्य। किन्तु स्थीयताम् किञ्चित्कालाय। नद्यां स्नात्वा प्रतिनिवर्तिष्ये।

(इन्द्रस्ततो निवृत्य शशपण्डितस्य पार्श्वे गत्वा निरीक्षते।)

इन्द्रः- अरे, शशपण्डित! उदिते सवितरि स्वकोटराद् बहिर्निष्क्रान्ताः सर्वे पक्षिणः पशवश्च। धिक् त्वाम्, त्वमिदानीमपि शेषे। हन्त, निराशीभूय प्रतिगम्यते मया। (अधोमुखीभूत्वा प्रतिगच्छति, वदति च...)

शेते भाग्यं शयानस्य, त्वामाश्रित्य ममापि च।
अन्यत्रैव गमिष्यामि दुर्लभः पिण्डदायकः॥ १-४॥

सूत्रधारः- मा, मा प्रतिगच्छतु भवान्। शशरूपः क्षुद्रजीवोऽहं, तृणेन जीवनं यापयामि, तृणानि च न दीयन्ते कस्मैचिद् भक्षणाय।[1] शश-पण्डितस्य समीपे नास्ति यवागूः, न च सन्ति तिलतण्डुलाः[2]। किन्त्वस्तीदं मदीयं शरीरं दानाय तुभ्यम्। अग्नौ संताप्य परिपक्वञ्च मदीयं मांसं भुक्त्वा सुखेन निवसतु वनेऽस्मिन्। भवदीयां क्षुधां शमयितुं कृतसंकल्पोऽस्मि। किञ्चित् स्थीयताम्।

इन्द्रः- भवतु, स्थितोऽस्मि। मा कुरु विलम्बम्। अन्यथा बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

सूत्रधारः- भवांस्तु सदाचारी ब्राह्मणोऽस्ति। मा हिंस्यात्सर्वभूतानीति भवता भण्यते पुनः पुनः। रचयतु मम सम्मुखे राशिं शुष्कानां काष्ठानाम्। प्रज्वालयतु च तत्राग्निम्, येन तस्मिन् स्वयमेवाहं मदीयाम् आहुतिं प्रदास्यामि। पक्वे च मदीये मांसपिण्डे, सुखेन तत्पिण्डं भक्षयतु[3], क्षुधाञ्च दूरीकरोत्विति मेऽभ्यर्थना।

इन्द्रः- साधु साधु। अधुनैवाग्निं प्रज्वालयामि। *(रंगभूमौ काष्ठान्यानीयाग्निं प्रज्वालयति।)*

(शशोऽपि झटित्येव स्वकीयं शरीरं धूनोत्यजस्रम्। रोमतो दूरीकरोति सर्वान् सूक्ष्मजीवान्)

इन्द्रः- *(शशस्योत्प्लवनं दृष्ट्वा)* अयि भोः, किमग्नेर्भयभीतः, किं दाहस्य कल्पनयैव शरीरे पीडा समुद्भूता? परेषां क्षुच्छान्त्यै मरणमुरीकर्तव्यमिति न तथा सरलं, यथा तस्य संकल्पना क्रियते। परिहरतु स्वकीयं संकल्पम्, साधयामि।

सूत्रधारः- नेदं समीचीनं चिन्तनम्। मदीयम् उत्प्लवनं प्रकम्पनञ्च मम शरीररोमेषु संलग्नान् सूक्ष्मजीवान् निराकर्तुमासीत्, नाग्निभयात्। मा भूदकारणं

---

1. न मे अत्थि तिला मुग्गा, मासा वा तण्डुला घत्तं। अहं तिणेन योपेमि, न सक्का तिण दातवे।।-चरियापिटक, (गाथा क्र.-132)
2. *न ससस्स तिला अत्थि, न मुग्गा, नापि तण्डुला। इमिना अग्गिना पक्कं ममं भुक्त्वा वने वस।।* शश-जातक,(316), जातक-कथा, (3 खण्ड), सं. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग, 1946, (4 संस्करण, पृ. 220)
3. एहि अग्गिं पदीपेहि, नानाकट्ठे समानय। अहं पचिस्समात्मानं, पक्कं त्वं भक्खयिस्ससि।। चरियापिटक, गाथा क्र. 137

जीवानां हानिरिति चिन्तितं मया।

(इत्युक्त्वा शशपण्डितोऽग्नावुत्पतति प्रशान्तेन मनसा। ... किञ्चित्कालं प्रतीक्ष्य)

सूत्रधारः- अयि ब्राह्मणातिथे! कथमग्निरयं मां न दहति, न च तापयति? शैत्यं हि नाम जलस्य प्रकृतिर्नाग्नेः।

इन्द्रः- (इन्द्ररूपेणात्मानं प्रकटीकरोति) भवतोऽन्नदानव्रतस्य प्रभङ्गाय प्रभविष्णुः स्यामिति विचार्य प्रयासं कृतवानस्मि।। धिङ् माम्। क्षुधार्थमहमन्यस्य प्राणहरणाय प्रवृत्त आसम्। भवांस्तु शरीरत्यागेनापि मम क्षुधामपनेतुं समुद्यत इत्यनितरसाधारणं कर्म कृतवान्। अभिनन्दनीयोऽद्वितीयोऽपूर्वो भवान्।

(नेपथ्ये-गीयते........

परेषां तु क्षुधाशान्त्यै निर्ममो वह्निमाश्रितः।
देहत्यागाय संनद्धो बोधिसत्त्वः सुदुर्लभः।। १-५।।)

इन्द्रः- भो शशपण्डित! प्रदर्शिता त्वया दानपरामिता। भवति प्रसन्नोऽस्मि। पौर्णमास्याश्चन्द्रमसि शशपण्डितस्य लाञ्छनमद्य स्थापयामि, येन द्वीपान्तरे युगान्तरेऽपि शशाङ्कितं चन्द्रमसं दृष्ट्वा स्मरिष्यन्ति सर्व आत्मबलिदान-तत्परतामिमाम्।

(आकाशे चन्द्रबिम्बे शशचिह्नसमारोपणं नाटयति, ततश्च पूर्णिमायाः चन्द्रः शशांकत्वेन रराजते।)

(नेपथ्ये भेरीनादः)

सूत्रधारः- भो इन्द्र! निखिलेऽपि संसारे यः कोऽपि मां परीक्षेत, नान्वेष्यति मय्यदानस्य भावनाम्।

(इति निष्क्रान्तः) (इति विष्कम्भकः)

।। अथ प्रथमोऽङ्कः।।

(भाविकथनं नाम प्रथमोऽङ्कः)

(प्रथमं दृश्यम्)

---

1. बुद्धः पूर्वावतारेषु बोधिसत्त्व इति नाम्ना प्रसिद्धः। बोधिसत्त्वेन पशु-पक्षि-मानवादीनां योनिषु जन्मानि गृहीत्वा दान-शील-प्रज्ञादीनां पराकाष्ठाःसंसाधिताः। सैव पराकाष्ठा पारमितेत्युच्यते। (परिशिष्ट-1)

(नेपथ्ये-प्रावेशिकी ध्रुवा गीयते)

कलाधरो वर्धितरश्मिकान्तो, ददातु शैत्यं भुवि पूर्णिमायाः।
जातो जिनः पारमितादियुक्तः[1], पुष्णातु मैत्रीं करुणाञ्च नित्यम्॥१-६॥

(ततः प्रविशति शिष्येण सह ऋषिरसितः)

(हिमालयस्योपत्यकायां कस्मिंश्चिदाश्रमेऽसितो नामर्षिः परिभ्रमणं कुर्वन्नास्ते। तदा नभोमण्डले शुभशकुनानि प्रादुर्भवन्ति। विद्युत् मेघगर्जनेन सह पौनःपुन्येन चमत्कृतिं जनयति, सुगन्धिर्वायुरपि वाति, कर्णप्रियं संगीतमपि शनैः शनैः श्रूयते। ऋषिरसित आश्रमस्य प्राङ्गणाद् बहिर्निर्गत्य साश्चर्यं निरीक्षते, दुर्ज्ञेयानि च लक्षणानि दरीदृश्यन्ते।)

ऋषिरसितः- भो भागिनेय, केन हेतुनैतानि दिव्यानि लक्षणानि प्रादुर्भूतानि नभसि, किमवगम्यते त्वया?

नालकः- भो मातुल! नाहं समर्थोऽस्मि ज्ञातुमेतत्। अद्य वैशाखी पूर्णिमा तिथिरास्त इत्येवाहं जाने।

ऋषिरसितः- श्रूयताम्-एतस्मात्स्थानात् किञ्चिद् दूरे लुम्बिनीनाम्नि वने राज्ञः शुद्धोदनस्य धर्मपत्न्या महामायया पुत्रः प्रसूतः, स चास्ति प्रज्ञापारमितागामी बोधिसत्त्वः। भविष्यति काले स सम्यक् सम्बुद्धो भविष्यतीति निश्चप्रचम्। त्वया सह बोधिसत्त्वस्य शौद्धोदनेर्दर्शनाय गन्तुकामोऽस्मि। राजा शुद्धोदनोऽपि लुम्बिनीं गत्वा पुत्रेण सह महामायां नीत्वा स्वनगराय प्रस्थितः। कपिलवस्तुं प्रति झटित्येव गच्छावः।

(द्वावपि रंगभूमौ परिक्रामतः।)

(राजसभायाः रंगसज्जा। रंगमंचे राज्ञः शुद्धोदनस्य सिंहासनम्।)

(ततः प्रविशति राजोचितपरिवारेणामात्येन च सह शुद्धोदनः।)

ऋषिरसितः- *(नालकेन सह प्रविश्य)* भो राजन्! अभिनन्दनीयो वन्दनीयो भवान्। *(सिंहासनादुत्तिष्ठति राजा शुद्धोदनः प्रत्यभिवादनञ्च करोति)* जगदुद्धारकः पुत्रोऽवतीर्णस्तव वेश्मनि। विकसिते कमले सति यथा सरो नयनरम्यं भवति, तथा पुत्रस्याविर्भावमात्रेण जगत्सर्वं प्रहर्षितम्।

उदायी- *(परिजनं प्रति)* ऋषेरसितस्य कृते दर्भासनेन सहासन्द्यानीयताम्। *(परिजनो निष्क्रम्यासन्दीमानयति।)*

शुद्धोदनः- भो गुरो! अलंक्रियताम् आसनम्।

ऋषिरसितः- (उपविश्य) हे शाक्यानां गणनायक! सुदूरे स्थिते हिमालयस्योत्तुङ्गे

शिखरे शुभशकुनानि दृष्टानि, नभसि विलसिता विद्युत्, प्रवाति स्म च तत्र सुगन्धितो वायुरित्यनेन ज्ञातं यद्भवतो गृहे दिव्यपुत्रस्यावतरणं जातमिति। अहञ्च तस्य दर्शनाभिलाषी।

शुद्धोदनः- भवन्तस्तु सदैव प्रणम्याः। किन्तु राजकुमारो नवजातशिशुरेवास्ति, स च स्वपितीदानीम्। अतो विश्रान्तिगृहं गत्वा, प्रथमं किञ्चित्कालं प्रतीक्ष्यताम्। स्वीकुर्वन्तु च स्वादूनि भोजनानि यावच्छिशुर्निद्राम् न जहाति। जागृते सति झटित्येव तस्य मुखदर्शनं कारयिष्यामि।

(अमात्यमुद्दिश्य) भोः, उभावपि विश्रान्तिगृहं प्रेषयतु।

ऋषिरसितः- अयि राजन्! कदाचिन्न जानाति भवान् "युष्माकं गृहे कस्यावतरणं जात" मिति। दिव्योऽयं पुत्रः, सः कदाचिदपि न शेते। अधुनैवान्तःपुरं गत्वा पुत्रञ्चानीय मम संनिधौ प्रदर्शयतु। यथा स्नाते सति मालिन्यं दूरीभवति, तथैव दृष्टे च बोधिसत्त्वे ममाप्यज्ञानम् अपयास्यति।

(शुद्धोदनो रंगाद्गच्छति, पुत्रञ्चानीय पुनः प्रविशति)

शुद्धोदनः- हे ऋषिवर! भवतो वचनं सत्यमेवानुभूतम्। पुत्रोऽयं पर्यङ्के शयानोऽपि सर्वत्रावलोकनमेव कुर्वन् दृष्टो मया। नायं स्वपिति स्म।।

(शुद्धोदनोऽसितस्य चरणयोः बालकं स्थापयितुं यतते, किन्तु स नानुमन्यते तथा कर्तुम्। ऋषिः स्वयमेवासनादुत्थाय पुत्रं गृहीत्वा, तस्य चरणयोः स्वकीयं शिरः नंनम्य धन्यतामनुभवति।)

असित ऋषिः- *(आसन उपविश्य)* राजन्! नायं साधारणो बालकः। तस्य चरणस्पर्शेनाहमेव धन्यतामनुभवामि। (बालकस्य सर्वांगीणं दर्शनं कुर्वन्, ततो वदति) दिव्यातिदिव्योऽयं बालः।

भ्राजिष्णोरमिता च भा विकसिते भाले यदा राजते
विश्वं पश्यति रत्नभासुरमुखे नेत्रद्वयं मङ्गलम्।

वर्तेते जयघोषयुक्तचरणे शङ्खाङ्किते सुन्दरे
राहुर्लिम्पति नैव तारकमिमं, वैराग्यसंघं तदा।। १-७।।

शुद्धोदनः- *(आत्मगतम्)* यदि दिव्योऽयं पुत्रः तदा सर्वैर्वन्द्यः, मयापि च। *(मनसा प्रणमति)*

(इति पौनःपुन्येन वन्दनं कुर्वाण ऋषी रोदिति)

नालकः- अयि मातुल! कथम् अश्रुप्रवाहः निस्सरति भवतश्चक्षुषोः?, अपूर्वमिदम् ....।

शुद्धोदनः- अयि भोः! कथं रुद्यते युष्माभिर्हर्षकाले .... केन हेतुना नेत्राभ्याम् अश्रुप्रवाहः निस्सार्यते?

ऋषिरसितः- राजन्, पुत्रोऽयं चिरञ्जीवी दीर्घायुरस्ति। बुधजनैः सर्वदा वन्दनीयो भविष्यति। वर्तमाने च वयस्यहम् अशीतिं समाप्य जीवामि, पुत्रश्चायं पञ्चत्रिंशतितमे वर्षे बुद्धत्वं प्राप्स्यति। *(निःश्वस्य)* बोधवञ्चित एवाहं कालं करिष्यामि[1]।

नालकः- मातुल! मैवं वदतु।

ऋषिरसितः- हे सौम्य नालक! त्वं त्विदानीं किशोरो वर्तसे। अतस्त्वं भविष्यति कालेऽवश्यम् इमं बालं सम्यक्सम्बुद्धरूपेण पश्यसि। अस्य च गुरोरुपदेशं गृहीत्वा "अर्हदि" ति पदं प्राप्स्यसि।

ऋषिरसितः- राजन्! दिव्योऽयं पुत्रो जगतो दुःखान्यपहर्तुं प्रचरिष्यतीति[2] निश्चप्रचम्।

शुद्धोदनः- साधु। आशासे जगति चक्रवर्ती भूत्वा बहुविधानि सुखान्यनुभवितुं स भूमौ प्रचरेदिति।

(शुद्धोदनेनर्षये वस्त्रदानं क्रियते। ऋषिस्तु तत्सर्वं शिशुचरणयोः स्थापयित्वा, नालकेन सह रंगान् निष्क्रामति।)

शुद्धोदनः- अयि भोः अमात्यवर्य! किं निमन्त्रणानि प्रेषितानि सर्वेभ्यो ज्योतिर्विद्भ्यः?।

उदायी- अथ किम्। वयन्तु भवताम् आदेशं निर्वोढुं सदैव सन्नद्धाः।

(रंगभूमौ तम आच्छाद्यते, ततः पुनरपि प्रकाशो विधीयते)

(द्वितीयं दृश्यम्)

(राजप्रासादस्य स्थानम्)

द्वारपालः- (प्रविश्य) अयि विनीते, कुत्र त्वं पुष्पमालादिकं नेतुं प्रवृत्ता?

विनीता- किं त्वं न जानासि राज्ञा शुद्धोदनेन कुमारस्य नामकरण-संस्कारविधिम् अभिलक्ष्योत्सवः समुद्घोषित इति।

द्वारपालः- मयापि ज्ञातं यदद्य ब्राह्मणानां समूहो राजप्रासादमलंकरिष्यति, तैश्च सह अष्टौ ज्योतिर्विद अप्यामन्त्रिताः। अत एव तेषां सम्मानविधिरेतैः

---

1. ममञ्चायु न चिरं इधावसेसो अथन्तरा मे भविस्सति कालकिरिया।।-नाळकसुत्त, गाथा क्र. 694
2. सुत्तपिटकस्य खुद्दकनिकाये महावग्गस्य सुत्तनिपाते नाळकसुत्ते (गाथाः 679 तः698) वर्णितम्।

पुष्पैः सम्पत्स्यते। सावधानेन मया स्थातव्यम्।

(ततः प्रविशति सिंहासनस्थः शुद्धोदनः, अमात्येन, अन्यैश्च राजसदस्यैः सह। विनीता च पुष्पमालादीनि गृहीत्वा प्रविशति। तदनन्तरं ब्राह्मण--ज्योतिर्विदां समूहः क्रमशः प्रविशति।)

शुद्धोदनः- *(उत्त्थाय)* गौतमगोत्रोत्पन्नः शाक्यगणाधिपतिरयं भवतामभिवादनं करोति। शास्त्रज्ञानां ब्राह्मणानां स्वागतम्। (दैवज्ञानां पण्डितवर्याणामपि स्वागतं विधीयते। सर्वेभ्यः पुष्पमालाः समर्प्यन्ते। ततो विनीताऽपरतो गत्वा तिष्ठति।)

ब्राह्मणा एवं ज्योतिर्विदः- भो शाक्य गणनायक! स्वस्त्यस्तु, मंगलम् अस्तु, चिरायुरस्तु। (उपविशन्ति)

शुद्धोदनः- *(उपविश्य)* यथा भवद्भिः सुविदितम्-देव्यां महामायायां मदीयः कुलदीपकः पुत्रो जातः। सर्वे भवन्तो संभूय शुभाशीर्वचनैः सह तस्य राजकुमारस्य नामाभिधानं कुर्वन्त्विति मे प्रथमा प्रार्थना। दैवज्ञाश्च ये ज्योतिर्विदः, ते तिथिनक्षत्रादियुक्तं प्रसवकालं समीक्ष्य, पुत्रस्यास्य भाविजीवनं कथं दरीदृश्यते तदनिर्बाधं कथयन्त्विति मे द्वितीयाभ्यर्थना।

ज्योतिर्विदः- *(गणनां कुर्वन्तीति नाटयन्ति)* प्रसवकालस्य गणितानुसारमस्य बालकस्य जन्मकुण्डल्यां पञ्चोच्चस्थानीया ग्रहास्तु दशमे स्थाने विराजन्ते। अतः पुत्रोऽयं स्वकीये जीवने पूर्णकामो भविष्यति।

ब्राह्मण-समूहः- तर्हि राजकुमारस्यास्य नाम "सिद्धार्थ" इति निश्चीयताम्। सिद्धाः संकल्पाः, सिद्धाश्च सर्व उपक्रमा यस्य स सिद्धार्थ इति व्युत्पत्तिरपि सर्वथा संगच्छते। गोत्रनाम्ना सह स "सिद्धार्थ गौतम" इत्युद्घोषणा क्रियताम्।

ज्योतिर्विदः- सिद्धार्थः स एव भवति, यस्यास्ति मनःकामना-परिपूर्णा, यस्य च सर्व उद्योगाः सफलीभूताः।

(सदसि सर्वे करतलध्वनिना सह तन्नाम पुनः पुनरुच्चारयन्ति। विनीता च पुष्पाणि विकीरन्ती नृत्यति)

शुद्धोदनः- अयि ज्योतिर्विद आचार्याः! अधुना सिद्धार्थस्य भाविजीवनं कीदृशं स्यादिति विषयमधिकृत्य श्रोतुकामोऽस्मि। कृपया निर्दिशन्तु मह्यं किञ्चित्- सुनिश्चितम्।

(षड्भिर्ज्योतिर्विद्भिरङ्गुलिद्वयम् आकाशे प्रदर्शितम्. किन्तु माण्डव्येन च कौण्डिन्येन च केवलमेकैवाङ्गुलिः समुत्थाप्यते।)

ज्योतिर्विदः (षट्)- सिद्धार्थोऽयं चक्रवर्ती सम्राड् भविष्यति, यद् वा परिव्राजको भविष्यतीति विकल्पद्वयमेव मनस्सु प्रकटीभवति। परम् .... ईश्वरो वेत्ति।।

शुद्धोदनः- अयि माण्डव्यकौण्डिन्यौ! उभाभ्यामपि युवाभ्याम् एकैवाङ्गुलिः समुद्धृता। तत्तु महत्कौतुकं जनयति। तेन किं संसूच्यत इति ज्ञातुम् अधीरोऽस्मि।

माण्डव्यः- राजन्! मया ग्रहगणितज्ञानेनागामिनि गभीरे कालाम्बुधौ निमज्जनं कृत्वा बंभण्यते यत् कुमारः सिद्धार्थो विवाहितो भूत्वा पुत्रसंततिम् अवाप्स्यति। अत एकैवाङ्गुलिर्मया समुद्धृता।

कौण्डिन्यः- राजन्! ग्रामवृद्धाः कथयन्ति यद्-

"वाणी मिथ्या न वक्तव्या, प्रामाणिकी न चाप्रिया"।

किन्तु दृढं मन्येऽहम्-

"शास्त्रानुसारि वक्तव्यम्, अप्रियमपि शास्त्रजम्"।। १-८।। इति।

श्रूयताम्- ममाभिप्रायोऽप्येक एव। स च माण्डव्यात्सर्वथा विपरीत एव। राजकुमारोऽयं परिव्राजक एव भविष्यति, न तु चक्रवर्ती सम्राट्।

(नेपथ्ये-द्वैधीभावं प्रकटयितुं मृदङ्गध्वनिः श्रूयते, राजा शुद्धोदनोऽप्यसमञ्जसमना दुनोति।)

शुद्धोदनः- हा धिक्, सर्वैः परस्परविरोधिभिः मम मनसि समुद्भाविता महती भ्रान्तिः। (अमात्यं निरीक्ष्य) अयि भोः, किं भवता विचार्यते विषयेऽस्मिन्?

अमात्यः- *(जनान्तिके)* तटस्थ्यमवलम्ब्य किञ्चिदुच्यते, तत्क्षम्यताम्। *(कर्णे वदति)* ज्योतिर्विद्भिः कृतं ग्रहनक्षत्रादीनां दर्शनं फलकथनञ्च "अन्धैर्यथा दृश्यते हस्ती" ति न्यायानुसारि। तच्च कदापि मार्गदर्शकं न भवति।

(ज्योतिर्विदः साशंकं राजानम् अमात्यञ्च पश्यन्ति।)

राजसभायाः सदस्याः- हे गणनायक शुद्धोदन! चिन्ता नैव कर्तव्या। सम्राट् भवेद्वा परिव्राजको भवेदयम्, प्रदास्यामो वयं सर्वेऽस्माकं पुत्रान्। यद्ययं परिव्राजको भवेत् तर्हि भविष्यन्त्यस्मत्पुत्राः तस्यानुयायिनः, सम्राट् स्याद्वा तर्हि भविष्यन्त्येते तस्य समर्थकाः क्षात्रधर्मानुसारिणः सैनिकाः। उभयथापि मा भूदत्रभवतो मनसि कापि चिन्ता।

शुद्धोदनः- आश्वस्तोऽहं भवतां विरलेन समर्थनेन। शाक्यगणस्येयं सहकार्यकारितैवास्माकं शक्तिः। सा चास्माकं प्रभूतं गुप्तं धनम्। धन्यवादपुरस्सरं सर्वांश्च विप्रवर्यान् ज्योतिर्विदः नंनम्य विसर्जयामीमां सभाम्।

(ब्राह्मणा ज्योतिर्विदश्च रंगान्निष्क्रामन्ति)

अमात्यः (उदायी)- महाराज, मास्तु कश्चिदपि द्वैधीभावः। वयञ्च सर्वे मिलित्वा कुमारस्य शिक्षा-दीक्षायै प्रयतिष्यामहे। राजनीतिस्तु वंशानुगतैव, सा न कदापि निष्फला भवति, न च निवर्तते।

शुद्धोदनः- अहमपि तदैव वाञ्छामि। मदीयोऽयं बालः शस्त्रास्त्रचालने प्रावीण्यमधिगम्य, राजकर्मणि प्रवृत्तो भवेदिति।

अमात्यः- बालोऽयम् यदा शैशवमतिक्रम्य कौमार्ये पदं करिष्यति तदा तं लिपिशालां नीत्वा, क्षात्रशिक्षान्वितमपि करिष्यामः। जीवनचर्या तु शिक्षानुवर्तिनी।

शुद्धोदनः- सर्वथोचितोऽयं परामर्शः। पप्रथमं तु शिक्षा-दीक्षाप्रदानायैव सावधाना भवेम। आबाल्याद् या क्षात्रिया शिक्षा भवेत्, तामेवानुसरिष्यति दैनंदिनी प्रवृत्तिः।

(नेपथ्ये- ध्वनिः *श्रूयते-"झटित्येव राज्ञीं महाप्रजापतिमाह्वयन्तु, शीघ्रातिशीघ्रं तत्रैव आगच्छतु यत्रास्ति पुत्रान्विता महादेवी महामाया".)*

शुद्धोदनः- विनीते, राज्ञ्याः महामायाया आज्ञां परिपालयन्तु सर्वे। वयमपि तत्रैव गमिष्यामः। तावत् पर्यन्तं राज्ञीं महाप्रजापतिञ्चानीय तत्रैव समागच्छन्तु।

(त्रयोऽपि निष्क्रामन्ति)

(नेपथ्ये-आक्षेपिकी ध्रुवा गीयते)

दत्वैव प्रभृतं ज्योतिः सौदामिनी तिरोहिता।
गता मायेव माया सा जनयित्वा प्रबोधकम्।। १-९।।

(ततः प्रविशतः द्वे परिचारिकेऽपटीक्षेपेण)

सुनीता- अयि विनीते! कथमुद्विग्नेव, विह्वलेव सम्भ्रान्तेव परिलक्ष्यते?, कस्माच्च कारणाद् रोरुद्यते त्वया? किं संभूतम्।

विनीता- न प्रभवति मे जिह्वा वक्तुम्। किं कथयामि, न मे वाक् प्रसरति। (रोदिति) भगिनीं महाप्रजापतिम् आहूय....देव्या महामायया...... *(पुनरपि रोदनम्)*

सुनीता- धैर्यम् अवलम्बस्व। उच्यताम्.. येन निराक्रियेत विपत्तिः।

विनीता- नास्ति निराकरणस्य कोऽप्यवकाशः। महामायया नवजातं स्वकं पुत्रं महाप्रजापत्या अङ्के संस्थाप्योक्तम् .... "इतः प्रभृति तवायं बालः, त्वञ्चास्य माता भवेति मदीयान्तिमा समीहा। तव नन्देन सहास्यापि

संवर्धनं कुरु, भगिनी"ति। एतन्मात्रमुक्त्वा नेत्रे निमीलिते तया, प्राणाश्च परित्यक्ताः।

(रोदिति)

सुनीता- हा धिग्.... हा धिग्..... किं महामाया दिवंगता? या भवितव्यता साऽनपायिनी। *(निष्क्रान्ते)*

(तृतीयं दृश्यम्)

(लिपिशालाया रंगसज्जा। तत्राध्यापकस्य सम्मुखे छात्रा वर्तन्ते। छात्रा गायन्ति।)

नेपथ्ये- (प्रासादिकी ध्रुवा)

बालो ज्ञानाम्बुधिं याति लिपिमाश्रित्य सर्वदा।
सिन्धुं प्रवेष्टुकामो यो याति नदीमुखेन सः॥ १-१०॥

एकामपि विजानीयाल्लिपिं बहुविकल्पतः।
सर्वं ज्ञानमवाप्नोति ब्राह्मीपाठेन सर्वदा॥ १-११॥

(ततः प्रविशतः सिद्धार्थं गृहीत्वा राजा शुद्धोदनोऽमात्यश्च)

शुद्धोदनः- अमात्य, कक्षां गत्वा गुरुं विश्वामित्रं समाह्वयतु। लिपिज्ञानमात्रेणापि-प्रभवन्ति जना ज्ञानसागरमवगाहयितुमिति स्मर्यते।

अमात्यः- यथाज्ञापयति महाराजः। *(अमात्यः शालां गत्वाचार्यं विश्वामित्रमानयति।)*

शुद्धोदनः- भोः आचार्यवर्याः, सादरमभिवादये।

विश्वामित्रः- स्वागतम् भोः राजन्! धन्या वयम्। लिपिशाला सनाथीक्रियताम्।

शुद्धोदनः- आचार्यादृते जगदिदं कः सनाथीकर्तुं प्रभवति? गुरुरेवास्ति जगन्नाथः। मदीयाय राजकुमाराय लिपिज्ञानमुपदिश्य, तं नाथयतु भवान्।

विश्वामित्रः- *(गुरुः सिद्धार्थस्य मुखं दृष्ट्वैव नतमस्तको भवति।)*

सिद्धार्थः- हे गुरुवर्य! नमस्करोमि भगवन्तम्। कस्याः लिपेर्ज्ञानात् शिक्षायाः प्रारम्भं करिष्यति भवान्? किं ब्राह्मी-लिपिः प्रथमं पाठ्यते, खरोष्ठी वा, पुष्करसारी वा, अंगलिपिर्वा, बंगलिपिर्वा, किरातलिपिर्वा मृगचक्र-लिपिर्वा?

विश्वामित्रः- *(साश्चर्यम्)* कथमस्मै कुमाराय शिक्षां प्रदास्यामि? कुमारेणानेन आजन्मनः चतुःषष्टिसंख्याका या लिपयः समधिगताः, तासां मया नामान्यपि न श्रुतानि। केवलां ब्राह्मीमेव लिपिं जाने।

शुद्धोदनः- अमात्य, श्रुतं भवता? राजकुमारस्य कृते नास्ति लिपिज्ञानस्य काप्यावश्यकता।

अमात्यः- तर्हि द्वितीये सोपाने, नेतव्योऽयं कुमारः युद्धविद्यार्थम् आचार्यस्य क्षान्तदेवस्याश्रमम्।

शुद्धोदनः- विद्यासोपानपरम्परायाम् एतदेवोचितम्। किन्तु तत्रापि प्रसंगस्यास्य पुनरावृत्तिः कदाचित् स्यादित्याशङ्कते मे मनः।

अमात्यः- *(आत्मगतम्)* ममापि च मनसीयमेवाशंका विजृम्भते। *(प्रकाशम्)* प्रथमं राजप्रासादं प्रतिनिवर्त्य पुनरपि विचारयावः।

(शुद्धोदनः पुत्रं सिद्धार्थं हस्तेन गृहीत्वा रंगे परिक्रामति, तं चामात्योऽनुसरति)

विश्वामित्रः- *(सिद्धार्थम् लक्ष्यीकृत्य)* बोधिसत्त्वमेतं नमस्करोमि। सुदुर्लभोऽस्य सर्वज्ञस्य गुरुः।

(नेपथ्ये)

(नैष्क्रामिकी ध्रुवा गीयते)

अनीष्टं भाग्यं तत्प्रतिगमयितुं मन्त्रकुशलः
स्वकीयेष्टं स्त्रष्टुं सकलसुखदः पुत्रनिरतः।
उदायी शाक्येशो विलुलितधियौ द्वौ नरवरौ
अपारे कालाब्धौ जलचरगती[1] तावतटिनौ॥ १-१२॥

(सर्वे निष्क्रामन्ति।)

॥ इति भाविकथनं नाम प्रथमोऽङ्कः॥

---

1. जलचरस्य गतिरिव गतिर्यस्य, स जलचरगतिः। तस्य द्विवचने-जलचरगती।

॥ द्वितीयोऽङ्कः ॥

(महाभिनिष्क्रमणं नाम द्वितीयोऽङ्कः)

(प्रवेशकः)

(स्थानम्-राजोद्यानस्य परिसरः। प्रातःकालः।)

विदूषकः- (प्रविश्य) मया तु राजप्रासादस्य चेटिकाया मुखात् कश्चिद् अपूर्वो वृत्तान्तः श्रुतः। कमलपत्राक्षोऽहं रजनी कदा रविमुखं पश्येदिति चिन्तयन् रात्रौ दक्षिणपार्श्वाद् वामपार्श्वे, वामाच्च दक्षिणपार्श्वे लुण्ठन् सुखेन नाशयि। आप्रभातं जागरणमेव कृतवान्।

(परिक्रमणं करोति)

कस्मैचिद् एतन्निवेदनीयम्। आम् स्मृतौ तौ ज्योतिर्विदौ। कुत्र गतौ तौ? अचिरं तावन्वेषयामि।

(अपरतः प्रविशति माण्डव्यः)

माण्डव्यः- अयि विवेचक-महोदय! विवक्षुरिव परिलक्ष्यते भवान्?

विदूषकः- कामपि सुकन्यां परिणयत्विति पितुराज्ञां लक्ष्यीकृत्य सिद्धार्थेन पित्रे निवेदितं--"या कन्या धर्मशीला स्यात्, सा मह्यं निवेदनीया।[1] कुलविषये नास्ति ममाभिनिवेश" इति।

माण्डव्यः- तर्हि किं "क्षत्रियाय क्षत्रियकुलोत्पन्नैव कन्याऽपेक्षत" इति परम्परा विगलिता?।

विदूषकः- अवश्यमेव। संप्राप्ता च तादृशी धर्मशीला सुकन्या। साऽस्ति दण्डपाणेः कन्या यशोधरा।

माण्डव्यः- किं सिद्धार्थो वैवाहिक-बन्धनेन बद्धः?

विदूषकः- आम्। परिणीता सा कन्या यशोधरा।

माण्डव्यः- अहो.. कथमेष वृत्तान्तो विलम्बेन ज्ञातः?।

---

1. ब्राह्मणी क्षत्रिया यद्वा वैश्या शूद्री तथैव च। सत्यधर्मान्विता या सा,तादृशीं मे प्रवेदय।। (तुलनीयौ-ललितविस्तरस्य द्वौ श्लोकौ-351-352,पृ. 279.)

विदूषकः- यतः प्रभृति ज्योतिर्विदां मुखेभ्यः कुमारस्य भाविकथनं श्रुतं, तत आरभ्य राजप्रासादे किं भवति, क आगच्छति, कः प्रत्यागच्छतीत्यादिकं सर्वं संगोप्यते।

माण्डव्यः- युज्यत एतत्। *(सहर्षं दक्षिणं हस्तम् उच्चैःकृत्वा)* स्थीयताम् आस्माकिनीयम् अङ्गुलिरुच्चैः। *(नृत्यति)* जितं मया..जितं मया। कुत्र पलायितः स कौण्डिन्यः?, अधुना तस्य भाविकथनम् अकिञ्चित्करं सिद्धम्। *(पुनरपि नृत्यति रंगोपरि)*

विदूषकः- साधु साधु। सुष्ठु भणितम्। राजप्रासादं गत्वा पुनरप्येकवारं दक्षिणां प्राप्तुं शक्नोति भवान्।

(मुखं प्रसार्य दूराद् दूरं द्रष्टुं यतते) ही ... ही... एका चेटिका इत एवागच्छति। तामेव पृच्छावः।

(राजमार्गे पुष्पाणि स्थापयन्ती विनीता प्रविशति।)

विदूषकः- अयि चेटिके! दृष्टस्त्वया स कौण्डिन्यः, येन "परिव्राजक एव भविष्यति युवराज" इति भणितम्।?

चेटिका-1- स एवागच्छति दीनां हीनां च मुखाकृतिं धारयन् मम पश्चाद् भागे।

माण्डव्यः- मन्ये तेनाप्येषो वृत्तान्तो ज्ञातः स्यात्।

विदूषकः- त्वं राजमार्गे पुष्पाणि सावधानं स्थापयतीति दर्शं दर्शं मम मनसि कुतूहलं जायते।

चेटिका-1- प्रातःकाले कोऽपि राजपुरुषः समागमिष्यतीति सूचना प्राप्ता। अतः राजमार्गे शोभा विधेयेत्यमात्येन समाज्ञप्तम्।

कौण्डिन्यः- *(प्रविश्य, आत्मगतम्)* यशोधरायाः पिता दण्डपाणिः पश्चात्तापं करिष्यतीति मे मतिः।

विदूषकः- आगच्छ आगच्छ ज्योतिषां मार्तण्डराज कौण्डिन्य!

माण्डव्यः- किं ज्ञातम् "युवराजस्य विवाहः संपन्न" इति?

विदूषकः- विफलीभूतं तव भाविकथनम्। युवराजपदं परित्यज्य को धीमान् परिव्राजको भवेत्?

कौण्डिन्यः- शास्त्रचक्षुषा यद् दृश्यते तन्न द्रष्टुं पार्यते चर्मचक्षुषा। *(आत्मगतम्)* दण्डपाणिनापि....

अन्तर्मुखो युवोदासी मृदुलो न चिकित्सितः?।
पिता भाग्यवशाल्लुब्धो, युवराजपदेन किम्।। २-१।।

हन्त..... भाग्यादेव वञ्चितो कन्यापिता।

माण्डव्यः- मया यच्छास्त्रचक्षुषा दृष्टं तदेव साकारीभूतम्। पश्य, एषा चेटिकापि पुष्पैरलंकरोति राजमार्गम्। कदाचिद् युवराज एव राजोद्यानं समागमिष्यतीति मन्ये। इदानीमपि किं न मनुते ते मनः?

कौण्डिन्यः- गभीरे कालाब्धौ यन्निहितं, तच्चिरादेव ज्ञायते। शनैश्चरति शनिश्चर इत्येवाहं कथयामि।

चेटिका-2- *(प्रविश्य)* अयि प्रमत्ते! कथमेतैः सह संलापं करोषि? अमात्य वचनाद् कैश्चिदपि सह वार्तालापो न विधेय इति पूर्वमेव मया कथितम्।

विनीता- एतौ कौण्डिन्यं मृग्यमाणौ मां पृष्टवन्तौ। तौ च राजसम्बन्धिनाविति मत्वा किञ्चिदुक्तवती।

चेटिका-2,- भवतु ..भवतु..। किं सुष्ठु सज्जीकृतो मार्गः?।

चेटिका-1,- आम्। सर्वत्र समाच्छादितानि च पुष्पाणि।

चेटिका-2,- तर्हि, सर्वे जना अपसरन्तु राजमार्गात्।

विदूषकः- गम्यते, गम्यते। राजप्रासादमेव साधयावः, यदि प्रवेशं लभेवहि।

माण्डव्यः- *(कौण्डिन्यं प्रति दृष्टिपातं कृत्वा)* अयि महा-ऽभाग! रिक्तेन हस्तेन स्वगृहं गच्छ, स्वकीयाञ्चाङ्गुलिम् अधस्तात् कुरु।। *(सर्वे निष्क्रामन्ति)*

(इति प्रवेशकः)

(प्रथमं दृश्यम्)

(स्थलम्-राजोद्यानम्। ततः प्रविशति राजोद्याने परितो भ्रमन् सिद्धार्थः।)

(नेपथ्यतः- प्रावेशिकी ध्रुवा गीयते)

प्रवाति दिव्यः पवनश्च शीतो, मेघाश्च यान्ति गगने विशाले
निवार्यते नैव गतिर्नदीनां, सूर्यः कदापि न निरुध्यते वा।

कूजन्ति नृत्यन्ति पतत्रिणश्च, भ्रमन्ति भृङ्गाः कुसुमे यथेच्छं
स्वाधीनसौख्यं सहजं च मन्ये, विचारलग्नं प्रतिभाति चित्तम्।।२-२।।

सिद्धार्थः- अहो! आप्रभाताद् अहम् अवलोकयामि यत् सर्वे जन्तवः सानन्दं निर्बाधं जीवनं यापयन्ति। एषः प्रसन्नोऽस्मि।

(नेपथ्ये-*पक्षिणः क्रन्दनं श्रूयते*)

(तस्मिन्नेव काले कुमारस्य संनिधौ शरविद्धः कश्चिद् राजहंसः समापतति।

सिद्धार्थः तं दृष्ट्वा संक्षुब्धो भवति। तं प्रति धावता सिद्धार्थेन स राजहंसो हस्ताभ्यां गृहीतः। पक्षिणः शरीरात् प्रवहमानं रुधिरञ्च दृष्ट्वा तस्य मुखाच् चीत्कारो निस्सरति।)

सिद्धार्थः- किमिदमापतितम्? अरे, केनास्य शरीरे तीक्ष्णः शरो निक्षिप्तः? अहह. ...अस्य शरीरात् सततं रक्तपातो भवति। (*सिद्धार्थः मार्दवेन मन्दं मन्दं पक्षिणः शरीरात् बाणं निष्कासयति। स्वस्योत्तरीय-वस्त्रेण तमाच्छादयति। करुणापूर्णेन च मनसा तं लालयति।)*

सिद्धार्थः- *(आत्मगतम्)* पूर्वं चिन्तितं यत्पक्षिणां कृते मुक्तविहारः सुलभ इति। किन्तु.... अन्यदेव दृश्यते। तेषामपि गतिर्न निर्बाधा। निसर्गस्य विमुक्ते विहारे कस्यायं निर्दयो हस्तक्षेपः स्यात्?

(अन्यतश्चेतस्ततः परिपश्यन्सम्भ्रान्तचेता देवदत्तः[1] *प्रविशति)*

देवदत्तः- *(सर्वत्र परिभ्रमन् पक्षिणं चान्विष्यन् सिद्धार्थस्यान्तिके गत्वा पृच्छति-)* भ्रातः सिद्धार्थ! कमपि पक्षिणम् अधस्तात् पतन्तं किं त्वं दृष्टवान्? मया त्वद्योड्डीयमानस्य पक्षिणः वेधः कृतः। स चात्रैव पतितः स्यादिति मन्ये। किन्तु न कुत्रापि तं पश्यामि। अस्ति कापि सूचना?

सिद्धार्थः- *(वस्त्रान्तर्गतस्य पक्षिणो मुखमुद्घाट्य प्रदर्शयति)*, आम्, तस्य पक्षिणः शरीरात् बाणं निष्कास्य तं रक्षितवान् तिष्ठामि। पश्य, इदानीमपि कम्पते तच्छरीरम्। कदा शान्तिमवाप्स्यतीति न जाने।

देवदत्तः- कस्यानुमत्या त्वया तच्छरीरात् बाणो निष्कासितः? स च राजहंसो मया व्यापादितः, अधश्च निपातितः। अतो झटिति दीयतां मह्यम्।

सिद्धार्थः- नाहं तुभ्यं प्रदास्यामि। पृच्छामि तावत् त्वां, केन हेतुना त्वया स व्यापादितः? पक्षिणां निसर्ग सिद्धे स्वातन्त्र्ये कस्त्वम् तस्य संहर्ता? सत्यपि मानुषेऽवतारे कथं त्वं निरनुक्रोशः?।

देवदत्तः- मृगयाविहारस्तु क्षत्रियाणां रुचिकरं कर्म। कथयामि तुभ्यं-येन स व्यापादितः, तस्यैव स्वामित्वं तस्योपरि। क्षत्रियकुलोत्पन्नोऽपि किं न जानासि मृगयायाः प्रसिद्धान् नियमान्?

सिद्धार्थः- न हि, न हि, क्षतात् त्रायते य, स एव क्षत्रियः। अतः क्षत्रियस्य कृते दयाधर्म एव समाचरणीयः। अतो नासि त्वम् क्षत्रियः।

देवदत्तः- केनोक्तं नाहं क्षत्रिय इति, केन चोक्तं यन्नाहम् अस्य पक्षिणः स्वामीति?

सिद्धार्थः- पक्षिणां निसर्गदत्तं स्वातन्त्र्यं य आच्छिन्नत्ति, पिञ्जरस्थांश्च करोति, सो

---

1. शुद्धोदनस्य भगिन्याः पुत्रो देवदत्तः।

न भवेत् तेषां स्वामी। कुतः? इति चेत्-

हतखगपतेः स्वामित्वं नोऽधिगच्छतु मानुषः
स इह कथितः स्वामी पाता विहायस एव यः।
प्रखरकिरणैर्दग्धासूनां प्रभुः सरिता सदा
सदयहृदयः क्षात्रो धर्मः स एव विराजते॥ २-३॥

श्रूयतां मे निश्चयः- येनायं राजहंसः शरविद्धः, सो न भवितुमर्हति तस्य स्वामीति। येन स मृत्योर्मुखात् संरक्षितः स एव तस्य स्वामित्वमर्हति तावद्, यावदयं पक्षी स्वास्थ्यं न लभेत।

देवदत्तः- भो सिद्धार्थ! तर्हि त्वमपि शृणु "भवत्वावयोर्विरोधः सुस्थिर"इति।

सिद्धार्थः- न ममास्ति केनचित् कश्चिद्विरोधः। प्रत्युत विरोधो वा वैरं वा, हिंसा वास्तु बन्धनम्, सर्वाणि चैतानि त्याज्यानीति मे मतिः।

देवदत्तः- प्रतिक्रियामदत्त्वा न विरमन्ति क्षत्रियाः। नाहं विस्मरिष्यामि मामकीनमिदं शरविद्धं पक्षिणम्।

(देवदत्त उग्रतां प्रदर्शयन्रंगाद् बहिर्धावति)

सिद्धार्थः- अहमपि न विरमिष्यामि क्षतपक्षिणः संरक्षणात्।

(सिद्धार्थः पक्षिणं प्रति ममतां प्रदर्शयति, शनैश्च मन्दगत्या निष्क्रामति।)

(द्वितीयं दृश्यम्)

(नेपथ्ये प्रावेशिकी ध्रुवा गीयते)

क्षत्रियो गृहपर्यङ्के ध्यानमग्नो न शोभते।
गिरौ निशीथे गूहायां गुप्तः सिंहो न राजते॥ २-४॥

अरण्ये राजते सिंहो मृगमूर्ध्नि स्थितः यथा।
क्षत्रियो रणभूमौ वा दारेषु शोभते तथा॥ २-५॥

(ततोऽमात्य उदायी प्रविशति। दर्शकान् उद्दिश्य वक्ति)

उदायी- माण्डव्यव्य कथनानुसारं राज्ञो वंशवृद्धिस्तु जाता। किन्तु युवराजः कथमपि न प्रसीदति मृगयार्थम्। प्रत्युत बहुकालाद् अनन्तरमपि देवदत्तकृतक्षात्रकर्मापि स्मारं स्मारं सततं सीदति। एतादृशीमवस्थां निरीक्षमाणो महाराजो मह्यं प्रतिदिनं नवीनामेकामाज्ञां प्रेषयति। अद्य नृत्यस्यायोजनव्याजेन पुनरपि मया प्रयतितव्यम् इति तेनाज्ञापितः।

(परितो दृष्ट्वा) विनीते! रंगशालायां समाहूता नर्तक्यः? कुत्र च ता वर्तन्ते।

(मंथरगत्या नर्तक्यो विनीता च प्रविशन्ति)

विनीता- अवश्यम्। पश्यतु भवान्, एतासां-सुकेशी, रम्भा, उर्वशी-त्यादीनां समूहम्। यथेच्छं ताभिः सह परामर्शो विधेयः। *(विनीता दक्षिणेन हस्तेन ताः प्रदर्शयति)*

उदायी- *(नर्तकीनां समीपं गत्वा, तासां कर्णेषु)* एवम्.... एवम्....।

नर्तक्यः- यथादिश्यते भवता।

विनीता- *(अमात्यमुद्दिश्य)* भवत आज्ञया चेटी सुनीतिर्युवराजं यशोधराञ्चानीय समागता।

उदायी- साधु कृतम्। (अपरत आगच्छन्तं युवराजं प्रणम्य, हस्तेन स्वागतं प्रदर्शयति।)

सुनीता- इत इतः। युवराज! देव्या सहालंकुरुत आसने। *(युवराजो यशोधरा चोपविशतः।* उदायी चान्यत्र गत्वोपविशति।) *(शृंगारिकभावैः सह नृत्यस्य प्रस्तुतिः प्रारभ्यते)*

नेपथ्ये गीयते-

मदोद्याने रम्ये, नवमधुकरी नृत्यति यदा।
पतिं त्वां प्रेम्णा सा, नवरसयुता पश्यति तदा॥

(अस्याः पंक्तेरनन्तरं, यशोधरा सिद्धार्थस्य मुखं सस्पृहम् अवलोकयति।)

रविं तं काङ्क्षन्ती शतदलमुखी दण्डतनया।
अतिक्रान्तं द्रष्टुं भुवि विजयिनं त्वां हतरिपुम्॥ २-६॥

(नृत्यं पश्यन् सिद्धार्थोऽस्य श्लोकस्योत्तरार्धं श्रुत्वा, विह्वलताम् अनुभवति।)

(सर्वाश्च नर्तक्यः क्रमशः निष्क्रामन्ति। अमात्यः सिद्धार्थस्य समीपे गत्वा.)

उदायी- कुमार सिद्धार्थ! नन्दयतु मोदयतु च मनोऽनया नृत्यकलया। भवतः श्वसुरेणैता नृत्याङ्गनाः संप्रेषिता वर्तन्ते। ताश्च भवतो मनोरञ्जनाय समुपस्थिता इति पित्रा निवेदितम्।

सिद्धार्थः- मम श्वसुर आत्मजायां स्निह्यति, तच्चातीव सहजम्। मदीयेनापि पित्रा ग्रीष्म-वर्षा-हेमन्तादीनाम् कालेषु सर्वविधम् आनुकूल्यं यथानुभूयेत, तथागाराणि त्रीणि निर्मितान्येव। किन्तु गिरिकन्दरासु परिभ्रममाणो गजराजः किं चित्राङ्कितासु भित्तिषु सुखं प्राप्नुयात्? समुद्रोल्लंघनादृते वैनतेयश्च किं सुवर्णपिञ्जरे सुखमनुभवेत्?।

उदायी- सत्यमेवोक्तम् भवता। गजराजो वा स्याद् युवराजो वा स्यात्, तावुभावपि

पर्वतेन शत्रुसैन्येन सह युद्धमेव कर्तुमभिलषतः। भाग्यवशात् स च कालः समुपस्थितो भवतां कृते।

सिद्धार्थः- कथमेतत्? स्पष्टमभिधीयताम्।

उदायी- रोहिण्या नद्याः जलवितरणमुद्दिश्य, बहुकालात् शाक्यानां कोलियानां च मध्ये वैमनस्यं वरीवर्त्ति, तज्जलमधिकृत्य पुनरप्येकवारं युद्धं स्यादित्याशंक्यते।

सिद्धार्थः- तदा, अस्माभिः किं करणीयम्?

उदायी- पित्रा शुद्धोदनेनेदानीं भवान् पुत्रवान् अपि जात इति विचिन्त्यास्य युद्धस्य नेतृत्वं भवते प्रदेयमिति संकल्पितम्।

सिद्धार्थः- यदीत्थं संकल्पितं तर्हि श्रूयताम्-युद्धेन न काचित् समस्या निवार्यते। सूर्यो यदि चन्द्रमसं दूरीकरोति, तर्हि चन्द्रोऽपि सूर्यमस्ताचले प्रेषयति। न च दृष्टो कोऽपि योद्धा, यो भवेत्सदाजेयः। सूर्याचन्द्रमसौ यथा समकालं प्रविभज्य मैत्रीमाचरन्तौ नित्यं राराज्येते तथैव सर्वैः करणीयम्। अतः पित्रे निवेदनीयं यत्सर्वैः सह मैत्री सम्पादनीया।

उदायी- कुमार! क्षत्रियाणां कल्याणं युद्ध एव विलसतीति कदापि न विस्मर्तव्यम्। स्वकीयस्य राज्यस्य रक्षायै तु युद्धमनिवार्यमिति अनादिकालात् प्रसिद्धम्। शाक्यानां कृषिक्षेत्रेषु रोहिण्याः जलसेचनम् अतीवावश्यकम्।

सिद्धार्थः- *(आत्मगतम्)* पक्षिणां वेधकर्तुः देवदत्तस्य चामात्यस्य च मध्ये न दृश्यते कोऽपि भेदः। *(प्रकाशम्)* मन्मते तु शाक्यानां कोलियानां च प्रतिनिधिभूतौ द्वौ द्वौ पुरुषौ मिलित्वा विमर्शेन समाधानं कुर्युः। जगतीतले नास्ते कापि समस्या, यस्याः कृते युद्धमनिवार्यं स्यात्। अतः परस्परं परामर्शेनैव नद्याः जलोपयोगः संविभागेन करणीयः।

उदायी- *(नेत्रे निमील्य, दीर्घं निःश्वस्य, मुष्टिबन्धनं च कृत्वा तिष्ठति। क्षणानन्तरं मुष्टिबन्धनं मुक्त्वा हस्तावधस्तात् करोति।)*

सिद्धार्थः- अमात्य! भवान् मिथ्यैव मां पलायनवादिनं मनुते। मैत्री सदैव वरेण्येति मे मतिः। विचार्यतां सूक्ष्मेक्षिकया।

न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति, एष धर्मः सनातनः[1]॥ २-७॥

---

1. धम्मपद, यमकवग्गो, (1-5). सं. भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ही, 1977.

यशोधरा- अमात्य! युवराजेन सम्यगेव परामृष्टम्। कोलियानां रक्तेन मिश्रीभूतं जलं कियत्पर्यन्तम् अस्मभ्यं सुखं प्रदास्यति? धरातले तु प्रवहन्ति नद्यः सर्वेषां कृते।

सिद्धार्थः- (यशोधराया हस्तं गृहीत्वा) धर्मशीले! एवमेव त्वं धर्मपथिका भवतात्। *(अमात्यं प्रति दृष्ट्वा)* साधयतु, निवेदयतु च पित्रे युद्धस्य संकल्पं त्यक्त्वा, कश्चिदन्य उपायश्चिन्तनीय इति। एवञ्च, मह्यं कस्याप्युत्तर-दायित्वस्य प्रदानात् प्राक्कदाचिन्नगरचर्याया अवकाशः प्रदेयः।

उदायी- यथाज्ञापयति भवान्। भवतो मनोवांछां राज्ञे शुद्धोदनाय निवेदयामि। यशस्वी भवतु नित्यम्।

(सर्वे निष्क्रामन्ति, सिद्धार्थो यशोधराम् अग्रगामिनीं करोति, उदायी चापरस्माद् द्वाराद् गच्छति।)

(तृतीयं दृश्यम्)

(सिद्धार्थश्च प्राङ्गणे परिभ्रमणं कुर्वन्नास्ते। सारथिश्छन्नको रथेन सह प्रविशति।)

सारथिः- युवराजो जयतु! भवन्तं नगरचर्यायै नेतुं समुपस्थितो रथः। आगम्यताम् .... युवराज.....।

सिद्धार्थः- अयि छन्नक! राजप्रासादस्य कस्माद् द्वाराद् बहिर्गमनमुचितं प्रतिभाति?

सारथिः- पूर्वस्यां दिशि राजमार्गान्नेतव्यो भवान्नित्यमात्येनाज्ञप्तोऽस्मि। भवतः परिभ्रमणे कापि बाधा न स्यादिति हेतोः परिचारकाणां समूहः पूर्वमेव संप्रेषितः।

सिद्धार्थः- प्राचीतः प्रस्थानं करिष्यावः। *(सिद्धार्थो रथारूढो भवति।)*

सारथिः- तर्हि प्रस्थीयते। *(अश्व-संचालनं नाटयति, रथगमनस्य ध्वनिः श्रूयते।)*

(**नेपथ्ये-** देवता आकाशतः पुष्पवृष्टिं कुर्वन्ति। ते च वदन्तिः-

अस्यैव बोधिसत्त्वस्य जगत्कल्याणकारिणः।
दिवसोऽयं समायातः संवेगोत्पादनाय वै॥२-८॥
छन्नकोऽछन्नकः सूतः संमोह्योऽद्येति निश्चितम्।
भवेत्स शीर्यमाणस्य देहस्य परिचायकः॥२-९॥

सिद्धार्थः- छन्नक! मार्गे स्थितानि यानि स्थानानि जीवजातानि च परिदृश्यन्ते तेषां याथार्थ्येन परिचयः प्रदेयः।

सारथिः- अवश्यम्, कुमार! ममाप्यद्य परमो हर्षो जायते। नगरचर्यां कारयितुं भवतो बाल्यकालात् प्रतीक्षां कुर्वन्नासम्। अद्यायमवसरः सम्प्राप्तः (रथेन परिक्रमणं कुरुतः)

(**नेपथ्ये**- ध्वनिः संचरति। *"अरे, गृह्यतामेतद्वस्त्रम्, किन्तु सर्व इतस्ततोऽपसरन्तु। भ्रातरः! यूयमपि मार्गादस्मात् पलायध्वम्, विमुखीभूय निर्गच्छन्तु, गृह्यन्तामेतानि कार्षापणानि ...गम्यताम्.. गम्यताम्"*)

सिद्धार्थः- सारथे, क एते घोषणां कुर्वन्ति, कांश्च तेऽपसारयन्ति?

सारथिः- अस्माकमेव परिचारको वर्गः, अमात्याज्ञामनुसृत्य साधारण-पुरुषान् उत्सारयति।

(**नेपथ्ये**- *देवतागणस्य वार्ताः श्रूयन्ते---*

"शुद्धोदनस्य ये परिचारकाः सन्ति, ते मध्येमार्गं गच्छतां दरिद्राणां वृद्धानां च प्रजानाम् अपसारणं कुर्वन्ति। अतोऽस्माभिः कस्याश्चिन्मायायाः प्रपञ्चो विधेयः"। क्षणादूर्ध्वम्-कुमारस्य रथस्य समीपे कश्चिद् वृद्धो दण्डस्य साहाय्येन मन्दगत्या गच्छन् प्रकटीभवति।

सिद्धार्थः- अयि छन्नक! कोऽयं श्वेतकेशी, गलिताङ्गो, भूमौ किञ्चिदन्विष्यन्निव भ्रूकुटिभागे हस्तं प्रसार्य शनैः शनैर्याति? किमियं काचिद् विक्रिया, उत वाऽपूर्वं किमपि नावीन्यम्, यद्वा किञ्चिदन्यदेव वा?

सारथिः- आयुष्मन्, इयन्तु जरा नाम्नी शरीरस्य विशिष्टाऽवस्थास्ति। या रूपक्षयकारिणी, रतिस्मृतिहारिणीन्द्रियशक्तीनां संहन्त्री। जनानामियमेव बलपराक्रमयो- र्विपत्तिः। तया च जरसायं पुरुषो ग्रस्तः।

सिद्धार्थः- *(संक्षुब्धो भूत्वा)* किमनया जरसाहमपि ग्रस्तो भवेयम्?[1]

सारथिः- आम्, आयुष्मन्! वयःप्रकर्षे जाते जरेयं सर्वेषां जीवानामुपरि निश्चप्रचम् आक्रामति, भवांश्च तस्याः कथं मुक्तः स्यात्? किन्त्वेतदपि सत्यम् अस्या जरसो न कश्चिद् बिभेति!

सिद्धार्थः- *(भीतिं नाटयित्वा)* किमुक्तम् ....? रूपविघातिन्या, बलापहारिण्या, रतिस्मृतिभञ्जिकया जरसा न कोऽपि जनः संवेगं प्राप्नोतीति?

सारथिः- देव! दोषोऽयं सर्व-साधारणः। स च मांसवृक्षभूतेषु मनुष्येषु निरपवादतया दरीदृश्यते।

(तस्मिन्नेव क्षणे मध्येमार्गम्, देवैर्व्याधिग्रस्तः कश्चिद् रुग्णः पुरुषो निर्मितः, पाण्डुगात्रयुक्तः, स्थूलोदरः कम्पमानशरीरोऽकस्माच्च भूमौ पतति।)

---

1. एसो खो देव, जिण्णो, न दानि तेन चिरं जीवितब्बं भविस्सति ति। *"किं पन सम्म सारथि, अहम्पिजराधम्मो जरं अनतीतो"* ति। त्वञ्च देव मयञ्चाहं सब्बे जराधम्मा, जरं अनतीतो ति।-दीघनिकाये महावग्गे, पृ. 10. www.tipitaka.org

सिद्धार्थः- अयि छन्नक! झटित्येव स्थीयताम्। कथमयं पुरुषः पततितमां भूमौ? किं संभूतम् अस्मिन्?

सारथिः- व्याधिपीडितशरीरोऽयं रुग्ण उच्यते। किन्त्वनेनापि जनसमूहो न बाधते। अन्ये च जनाः निर्भीकतया परिभ्रमन्ति।

सिद्धार्थः- किमिदमपि स्वाभाविकं मन्यते? मन्येऽहम् अतीव विस्तीर्णम् अज्ञानम्, रोगेभ्यो जना अमुक्ता अपि प्रमोदन्ते सर्वत्र। हन्त, ... किमिदम् उपन्यस्तम्? अस्माद् रोगभयान्मदीयं चित्तं तु सीदति।

सारथिः- युवराज! भवतु, निवर्तावहे .... *(रथं प्रत्यावर्तयति।)*

(नेपथ्ये- करुणो ध्वनिः...देवता मिलित्वा वार्तां कुर्वन्तीति प्रतीयतेः--

कालहानिर्न कर्तव्या, शवः सद्यो विधीयताम्।
अन्तिमेयमवस्था या सर्वङ्कषाऽवसादिनी।। २-१०॥

(प्रकटीक्रियते दृश्यमेतत्- *मध्ये मार्गं चत्वारो जनाः कञ्चित्पुरुषं वंशयोरुपरि रज्जुभिर्बद्ध्वा स्कन्धोपरि वहन्ति। अन्ये च केचन पश्चाद्भागे विलपन्ति, रुदन्ति चलन्ति वस्त्रेण मुखमावृत्य।)*

सिद्धार्थः- छन्नक! किमिदं तृतीयं वैचित्र्यम्? पुरुषोऽयं केन कारणेन स्कन्धोपरि स्थापयित्वा कुत्र नीयते?, अदृष्टपूर्वमिदम्। अचिरेणैव कथयतु मह्यं किमिदं वस्तु जातम्?

सारथिः- इदं कस्यचिन्मनुष्यस्य मृतशरीरम्। किञ्च तत्स्वरूपमिति चेत्--

गतप्राणे शरीरे तु चैतन्यं नैव विद्यते।
पृथिव्या लोष्ठपिण्डोऽयं पश्येद्वा विचरेत्कथम्।। २-११।।

शरीराद् गतचैतन्याद् भार्या बिभ्यति कामदा।
त्यज्यते स्वजनैर्देहो रागश्च नावशिष्यते।। २-१२।।

युवराज! निश्चेतनीभूते शरीर एषा विनष्टिः सर्वेषां भवति।

सिद्धार्थः- किम् यैः कुटुम्बिभिरस्य पुरुषस्य परिपालनं कृतं, यस्मिंश्च स्नेहोऽभिषिक्तः, त एव जनास्तस्य शरीरमिदं त्यजन्ति?

सारथिः- आम्। स्नेहादीनां विरामोऽवसानमित्युच्यते। अतस्ते परित्यजन्तीदम्।

(कुमारः प्रकम्पितो भूत्वा, दिङ्-मूढ इव परिलक्ष्यते। क्षणादूर्ध्वम् वदति--)

सिद्धार्थः- किं केवलं मनुष्या एव मृत्युं प्राप्नुवन्ति, यद्वाऽन्येऽपि जन्तव एवमेव दुर्गतिं प्राप्नुवन्ति? कृपया मह्यं निवेदयत्वेतज्जीवनस्य कुत्सितं स्वरूपम्।

सारथिः- युवराज! निखिलानां प्रजानामयमेवान्तिमो धर्मः। हीनानां, दीनानां, श्रेष्ठिनां,

मध्यमानां महात्मनाञ्चैषैव गतिः। किं बहुना, मदीयस्यापि भवतश्चापीयमेव गतिः। मृत्योः पाशैरव्यक्त-रूपेण प्राणिनः सुनिश्चितं च दृढं च निबद्धाः।

सिद्धार्थः- *(कियत्कालं अवाक्, स्तब्धश्च तिष्ठति। ततो वदतिः-)* प्रतीयते जनसमूहः पाषाणहृदयः। जरा, रोग-मृत्यूनाम् अवश्यंभावितां परिपश्यन्नपि स्व-स्थ एव व्यवहरति। अहो! दुःखैः समाक्रान्तोऽपि लोको-ऽविचलित एव जीवतितमाम्! एतादृशा मनुष्याः कथं बुद्धिमन्त उच्यन्ते?[1] त्यक्तभयोऽयं संसारः ..... मयि महत्कौतुकं जनयति।.... चिन्तनीयोऽयं विषयः .....

(नेपथ्ये- देवतानां वार्ता श्रूयते--

परिणामोन्मुखं कार्यं, किञ्चित्त्वत्रावशिष्यते।
छादितस्तमसः पुञ्जः, प्रकाशोऽत्र विधीयताम्।। २-१३॥

मध्येमार्गे- *मुण्डितः कश्चित् संन्यासी आकार्यते, येन हस्ते भिक्षापात्रं गृहीतम्, सः काषायवस्त्रेण शोभते।)*

सिद्धार्थः- भो छन्नक! कोऽस्ति काषायवस्त्रधारी मुण्डितकेशश्च? कुत्र च सः शनैः शनैर्गच्छति?

सारथिः- युवराज! अनेन कामं सुखोपभोगादयः परित्यक्ताः। संसारात् प्रव्रजितो विरतश्चायं जनः शान्तिमधिगन्तुं प्रयतते। अस्य च हस्ते यद् वर्तते तद्भिक्षापात्रम् उच्यते। यदि कश्चित् दयालुरस्मै किमपि भक्ष्यं प्रदास्यति तर्हि, असौ तस्मिन् पात्रे ग्रहीष्यति।

सिद्धार्थः- (चिन्तनमुद्रया सह.... नेत्रे निमील्य ... मन्दस्वरेण द्रुतविलम्बितगत्या भणति--)

धिग् यौवनं तत्, ... जरया समभिद्रुतं यत्,
स्वास्थ्यं च धिग्, ... विविध रोग-पराहतं यत्।
धिग् जीवितं च विदुषो, ... न चिरं स्थितं यत्,
धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसंगान्।।[2] २-१४।।

एतं परिव्राजकं दृष्ट्वा मनस्येवमायाति यद्-अयं कच्चित् संसारक्लेशैरलिप्तः

---

1. जरां व्याधिं च मृत्युञ्च को हि जानन् सचेतनः।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत्।। (बुद्धचरितम्, सर्ग-4, श्लोक-59)
2. ललितविस्तरस्य, श्लोकः 555, (तत्रास्ति श्लोकः दूषितः, स चात्र संमार्जितः।)

स्यात्। (छत्रकमुद्दिश्य) बाल्यकाले यद्वा विवाहात्पूर्वम् एतादृशी नगरचर्या न जाता, तत्समीचीनमेव मन्ये। अन्यथाहमप्यन्येषां पामराणामिव वार्धक्यादिभ्योऽनुद्विग्नो भूत्वा जीवेयम्। जगतोऽनित्यत्वं नावगतं स्यात्।

सारथिः- सुष्ठु भणितम्।

(सारथि-सिद्धार्थौ निष्क्रामतः)

(चतुर्थं दृश्यम्)

(पूर्णिमायाः शशांको नभोमण्डले विराजते। राजप्रासादे गभीरा शान्तिः प्रवर्तते।)

सिद्धार्थः- *(प्रविश्य)* नाहमत्र स्थास्यामि। नाहमत्र स्थास्यामि। नाहमत्र निवसिष्यामि। यद्वा भवतु, तद्वा भवतु। पित्रा सह मम संलापो जातः, परिव्रज्यार्थम् मयानुमतिर्याचिता। किन्तु सः "मैवं वदतु, क्षत्रियाय नेदमुचितं स्यादि"ति नैकवारं सानुनयमुक्तवान्। ततो मयोक्तम् तस्मै-यदि स्थानपञ्चकेषु मम परिरक्षा प्रतिश्रूयते, तर्हि परिव्राजको न भविष्यामि।

न भवेन्मरणाय जीवितं मे,
न मम स्वास्थ्यमिदं हरेच्च रोगः।
न च यौवनमाक्षिपेज्जरा मे,
न च सम्पत्तिमिमां हरेद् विपत्तिः[1]**॥२-१५॥**

सिद्धार्थः- हे पितः! किमेतत् परिरक्ष्यते भवद्भिः? स्पष्टञ्च सत्यञ्चाभिधीयताम्। तदा ते मिथ्याभाषणाद् विरताः। एकस्माद् अपि विनाशस्थानात्ते मां रक्षितुं न प्रभवन्ति। अतो मम मार्ग इदानीम् अनिरुद्धो वर्तते।

जाने, धर्मशीला पत्नी मम मनोनुवर्तिनी। सा मां याथार्थ्येनावगन्तुं समर्थास्ति। *(परिक्रमणं करोति)* माता च पुत्रश्च परस्परयोर्जीवनालम्बनं भविष्यत एव। *(बहिर्गन्तुं प्रयतते,... प्रत्यावर्त्य,... किञ्चित्कालपर्यन्तं स्थित्वा)* किन्तु... अनागारिकभवनात् प्राग् एकवारं धर्मशीलां देवीं पुत्रञ्च राहुलं द्रष्टुमिच्छामि, सति सम्भवे तं बालकं लालयिष्यामि।

(रंगभूमौ द्वितीये भागे, यशोधरा, तया च सह बालकः स्वपिति, शयनकक्षे दीपको ज्वलति। सिद्धार्थस्तत्र कष्टमनुभवन् शनैः शनैर्गच्छति।)

सिद्धार्थः- पित्रा स्मारितो राजधर्मः क्षत्रियपुत्रत्वात्। किन्तु तस्मादपि गुरुतरो मानवो धर्मः प्रतिभाति। येन मम मनसि प्रादुर्भूतः संवेगः। *(यशोधरायाः समीपे गत्वा, तां प्रति)* ...अयि धर्मशीले, त्वं तु शरीरेण स्वपिषि,

---

1. तुलनीयो-ललितविस्तरस्य, श्लोकः 598

किन्तु त्वयि धर्मो जागर्तितमामित्यहं जाने। धरातले तु प्रवहन्ति नद्यः सर्वेषां कृते इति तव सुभाषितं पौनःपुन्येन स्मरामि। अतोऽहमाशासे– "त्वयानुमन्यते मम मार्गः"। .... पित्रा त्वहं सुवर्णमन्दिरे निवासितः, तच्चेदानीं मम कृते प्रतिक्षणं सुवर्णपिंजरायते। कच्चित् त्वयापि संज्ञातं स्यादेतत्। यदा निखिलोऽपि संसारः जरसा, रोगैर्मृत्युना च समाक्रान्तः, तदा बहिर्गन्तव्यमेव मया।

..... पुत्र राहुल ...... *(तस्य मुखस्योपरि यशोधराया हस्तो वर्तते। तं बालकमस्पृष्ट्वैव, तस्य शिरसि हस्तं प्रसारयति, वरदमुद्रां धारयति।)* किमन्यत्?..किञ्चिदाश्वस्तोऽस्मि... तव समीपे तु तव मातास्ति।... *(सिद्धार्थो मुखं परिवर्त्य बहिर्गच्छत्येव। बहिर्गत्वा)*

..... अचिरेणैव मया गन्तव्यम् ...... साधयत्ययं सिद्धार्थः।

(रात्रौ तिमिराच्छादिते छन्नकस्य गृहं गच्छति।तस्य गृहद्वारेऽवघट्टनं करोति। छन्नको जागृतो भूत्वा बहिरागच्छति।)

सारथिः– अयि देव! कस्माद्धेतोरिदानीन्तने काले समागतो भवान् ...?

सिद्धार्थः– मित्र छन्नक! त्वं तु जानास्येव–

वार्धक्यं रुग्णता वा श्वसनविधिरयं दुःखसंवेदनायै
दुस्तर्पा या क्षुधा सा परिभवति वयः किं न पश्येद् बुधोऽपि।
आकाशेऽयं पतङ्गः परिचलति सदा मस्तके कालचक्रं
बद्धः पाशेन मृत्योस्तदपि विचलितो ना भवेयं कथं वै॥ २–१६॥

जरां, रुग्णतां, मृत्युञ्च पप्रथमं प्रत्यक्षीकृत्य मे मनसि प्रादुर्भूतः महान् संवेगः। सखे! त्वं झटित्येव कंथकेनाश्वेन मां दूरात्सुदूरं नयेति कामये। इदानीमेव गृहान्महाभिनिष्क्रमणाय कृतसंकल्पोऽस्मि।

सारथिः– यदाज्ञापयति देवः। *(निष्क्रामति, पुनश्च प्रविशति, कंथकमानीय।)*

सारथिः– *(आत्मगतम्)* अमात्यो मह्यं कोपिष्यति न वा? स्वामिनी यशोधरा किं कथयिष्यति? आज्ञप्ता चायं युवराजः। त्रिधा विभक्तं मे मनः। *(मनोवेदनां नाटयति)* एकाधिका प्रभुता व्याहन्ति परिजनम्।

सिद्धार्थः– छन्नक! मा व्यग्रीभूयाः। *(अश्वस्य पृष्ठे हस्तं प्रसार्य)* प्रिय कंथक, अन्तिमेयं यात्रा तवोपरि। जीवनस्य भद्रङ्करं पन्थानमन्वेष्टुं गन्तुकामोऽस्मि। त्वञ्च सितरश्मिश्च भवतं मे सहायौ। *(सिद्धार्थो कंथकस्य पृष्ठभागेऽश्वारूढो भवति। छन्नकोऽश्वं संकेतेन गमयति। अश्व-गमनस्य ध्वनिर्न श्रूयते।)*

(राजप्रासादस्य प्रधानद्वारपर्यन्तं गत्वा)

सिद्धार्थः- अयि मम शुभाकाङ्क्षी कंथक! निर्बाधगत्या उत्प्लुत्य च सर्वाणि दुर्गाणि, त्वमद्य नय माम् अनोमनद्याः पारम्। *(मुखं परिवर्त्य स्वनगरमेकवारं प्रपश्यति)* प्रतिजानेऽहम् दुःखादीनामदृष्टपारो न पुरम् कपिलाह्वयं प्रवेष्टास्मि॥

सारथिः- आस्तां तावन्मदीयेन चिन्तनेन। (अश्वं चालयति।)

(नेपथ्ये-नैष्क्रामिकी ध्रुवा गीयते)

युक्त्या संग्रस्यते व्यालो, वाजी वल्गासु गृह्यते।
आलाने बध्यते हस्ती, संवेगो नैव रुध्यते॥ २-१७॥

(रंगभूमौ तिमिराच्छादनं क्रियते)

॥ इति महाभिनिष्क्रमणं नाम द्वितीयोऽङ्कः॥

।। तृतीयोऽङ्कः।।

।। धर्मचक्र-प्रवर्तनं नाम तृतीयोऽङ्कः।।

(प्रवेशकः)

विदूषकः- *(इतस्ततः परिक्रामन् आकाशभाषितेन)* किं भवद्भिः सः "खपुष्पकृतशेखरः" कुत्रापि दृष्टः?।

(नेपथ्ये) कोऽस्ति सः खपुष्पकृतशेखरः?।

विदूषकः- अयि, येन शिरसि गगन-पुष्पैर्मुकुटो विरच्यते स्म, तमहं मार्गयामि।

(नेपथ्ये-)

एतत्तु सर्वथाऽसम्भाव्यमुच्यते। आकाशे पुष्पाणि न विकसन्ति।
आकाशपुष्पाणां वार्ता न दृष्टा, न च श्रुता।

विदूषकः- न हि, न हि। भवद्भिस्तु सर्वैः सः "खपुष्पकृतशेखरः" सम्यक्तया दृष्ट एव। स्मारयामि किम्? येन तद्दिने तत्रैकाङ्गुलिरूपं पुष्पम् उच्चैः कृत्याकाशे उद्धृतम्, "जितं मया, जितं मये" ति नर्तितञ्च। तस्य माण्डव्यस्य पृच्छां करोमि। आप्रभातादहं तमन्वेषयामि। (आकाशे) आगच्छतु आगच्छतु मम सम्मुखम्, प्रदर्शयतु च स्वकीयं ज्योति-र्विज्ञानम्। राजकुमारस्यादर्शनं लोपः परिलक्ष्यते। ही... ही... अदर्शनं लोपः, लोपः...।

माण्डव्यः- (लज्जां नाटयन् प्रविशति) आम्, मदीयं ज्योतिर्विज्ञानं कूपान्धकारे पतितम्।

विदूषकः- किमाकाशात् ज्योतिः कूपे पतितम्। उद्ध्रियतां तर्हि तज्ज्योतिः शिखातो रज्जुं निर्मीय। अथवा गच्छतु राजप्रासाद, द्वितीयां दक्षिणां प्रत्यावर्तयितुम्।

माण्डव्यः- न हि, न हि। यदि अमात्यस्य सम्मुखमगमिष्यम्, निश्चितं मम शिखाच्छेदनम् अभविष्यत्।

विदूषकः- *(प्रेक्षकवृन्दस्य समीपं गत्वा)* अयि भोः! परित्रायतां स्वं स्वं जीवनमेतेभ्यो ज्योतिर्विद्भ्यः। एते सर्व एकदेशिभाष्यकाराः। किमन्यद्-अनेकैरन्धैर्मिलित्वा गजदर्शनं कृतम्।

(नेपथ्ये- आक्षेपिकी ध्रुवा गीयते)

गन्तव्यो वा न गन्तव्यो, मार्गो न चीयते यदा।
नौकामारुह्य दिङ्मूढः समुद्रे स नराधिपः॥ ३-१॥

अन्धकारं प्रकाशं वा न जानन्ति कदाचन।
"ज्योतिर्विदः" कथं वाच्या, यान्तु कपिलवस्तुतः॥ ३-२॥

कौण्डिन्यः- *(अपटीक्षेपेण प्रविश्य)* अयि विवेचक! माण्डव्यस्य मिथ्याभाषणात् क्रोधाविष्टेनामात्येन अहमपि बहिष्कृतः। मयापि कपिलवस्तुनगराद् बहिर्गन्तव्यमेव।

विदूषकः- तदेवाहं कथयामि। *(माण्डव्यमुद्दिश्य)* किं श्रुतम्? सर्वे भवादृशा ज्योतिर्विदो जनपदाद् अस्मान्निष्कासिता इति राजघोषणा श्राव्यते। शक्यं चेत् कपिलवस्तुतो निस्सृत्य युवराजस्य वार्तां ज्ञातुं प्रयत्नो विधेयः।

माण्डव्यः- *(आत्मगतम्-शिखां संस्पृशन्)* महाभाग्यात् परिरक्षितेयं शिखा। *(किञ्चित्कालं मौनम् आकलय्य)* अद्यापि विचारणीयं यत्किं सिद्धार्थः जरादि- दुःखान्युन्मूलयितुं काञ्चिदोषधिम् अन्विष्य महाभिषक्त्वेन प्रत्यागमिष्यति गृहम्, उत वा किमप्यपूर्वं तत्त्वदर्शनम् आत्मसात्कृत्य निर्वाणम् अधिगमिष्यति?

विदूषकः- अयि साहसिक! किं पुनरपि विकल्पद्वयमुत्थाप्यते? मन्येऽत्र प्रथमे विकल्पे भवान् एकाम् अङ्गुलिमुत्थापयिष्यति, द्वितीये च विकल्पे कौण्डिन्य एकामङ्गुलिम् उत्थापयिष्यतीति।

(माण्डव्यस्य ग्रीवायाम् अर्धचन्द्रं दत्वा)

अरे, खपुष्प-कृतशेखर! सिद्धार्थम् अन्वेष्टुं गच्छतु स्थानाद् अस्मात्।

(द्वौ निष्क्रान्तौ)

कौण्डिन्यः- *(आत्मगतं सविषादम्)* इदानीमस्मिन् नगरे ज्योतिर्विदामाजीविका समाप्ता।....अन्यथापि त्यक्तव्यं कपिलवस्तु। यतो हि-सिद्धार्थ एव सर्वेषां कृतेऽनुसरणीयो भविष्यतीति दृढं मन्ये।

(रंगस्यापरस्माद् द्वारात् निष्क्रामति)

(इति प्रवेशकः)

(प्रथमं दृश्यम्)

(स्थानम्-पार्श्वभागे पाण्डववनस्य पर्वतमाला विराजते। अपरतश्च वर्तते बिम्बिसारस्य राजगृहमिति नाम नगरम्।), *(रंगसज्जा द्विधा*

विभक्ता-1. पञ्च पर्णकुटिराणि, भिक्षापात्राणि, वटवृक्षाश्च। वृक्षस्याधस्ताद् पञ्च[1] भिक्षवः सिद्धार्थेन सह चर्चां कुर्वन्ति। 2. सिंहासनस्थो राजा बिम्बिसारः प्रविशति।)

(नेपथ्ये-प्रावेशिकी ध्रुवा गीयते)

सूर्यप्रकाशे मुकुलानि सद्यो भवन्ति पद्मानि मुदान्वितानि।
विकीर्णहास्यानि दिनावसाने, निमेषमात्रेण गतं क्व सर्वम्।। ३-३।।

ध्याने च मग्नो स्थित एव नित्यं, छाया गता कुत्र न बुध्यते वा।
नाम्नाङ्कितो भो अवलोकितेश! गवेषितं तद्रहसि स्थितं यत्।। ३-४।।

द्वारपालः- जयतु जयतु महाराजः। द्वौ नगरपरीक्षकौ भवन्तं द्रष्टुकामौ समागतौ स्तः।

बिम्बिसारः- प्रवेशय तावुभौ।

नगरपरीक्षकः-1- महाराज, भवद्भिरट्टालिकातो दृष्टो राजकुमार इव परिलक्षितो यो भिक्षुकः,स पाण्डव-वने पर्णकुटिरं निर्माय निवसतीति प्रतीयते। तञ्च दृष्ट्वा गृहस्थाश्चकित-चकिता इव तिष्ठन्ति। नावबुध्यते कोऽयं स्यात्? भिक्षुको वा राजकुमारो वेति निर्णेतुं न शक्यते।

नगरपरीक्षकः-2- महाराज, देवकल्पः परिव्राजकः कपिलवस्तुनगरस्य राजकुमार एव स्यादिति प्रतीयते। यतो हि तमेवोद्दिश्य ज्योतिर्विद्भिः कथितं यदयं परिव्राजको भवेदुत वा चक्रवर्ती सम्राट्। राजप्रासादं त्यक्त्वा तेनैव पाण्डववने तपः समारब्धमिति संभाव्यते।

नगरपरीक्षकः-1- महाराज, किन्तु तेन सहान्येऽपि पञ्च भिक्षवः सन्ति। मन्ये तैरपि गृहं त्यक्त्वा, सिद्धार्थेन सह भिक्षुमण्डली रचिता। अतः संशोधनीया सापि मण्डली।

बिम्बिसारः- तर्हि स्वयमेव गत्वा, तेन सह चर्चा कर्तव्या, द्रष्टव्या च भिक्षुमण्डली।

(बिम्बिसारः सिंहासनादुत्थाय परिक्रमणं करोति। नगरपरीक्षकावपि तस्यानुगमनं कुरुतः। रंगभूमावपरतश्च गत्वा भिक्षूणां निरीक्षणं क्रियते।

ततः नगरपरीक्षकः सिद्धार्थं प्रति अङ्गुलिनिर्देशं करोति।)

बिम्बिसारः- महात्मने तापसाय नमो नमः। *(सर्वे सिद्धार्थस्य सम्मुख उपविशन्ति। द्वावपि परस्परम् अनिमेषनेत्राभ्यां पश्यतः।)*

---

1. पञ्चवर्गीय-भिक्षूणां नामानि-1. कौण्डिन्यः, 2. महानामः, 3. अश्वजितः, 4. भद्रिकः, 5. बाष्पश्च।

बिम्बिसारः- भवतो विशालो भालप्रदेशः मुकुटशोभावहो दृश्यते। परिपुष्टं भुजद्वयं शरसन्धानाय कल्पते। न तदेतद् भिक्षापात्रग्रहणाय कल्पितम्। भोगविलासेन सम्मानयतु यौवनमेतत्। गतं यौवनं पुनर्नायाति। *(किञ्चित्कालं मौनमाकलय्य)*

यौवने भोगरताः स्युः युद्धचर्या यशस्विनी।
भुक्तभोगाय वृद्धाय विश्रान्तिस्तु सुशोभते।। ३-५।।

यौवने शोभते नित्यं बाणवर्षा निरन्तरा।
यौवने न श्रुता दृष्टा तपश्चर्या कुतश्चन।। ३-६।।

यदि पित्रा सह काऽपि विप्रतिपत्तिः, अनुशासनस्याधिक्यं वानुभूयते तर्हि निवसतु भवान् मम राजमन्दिरे। मम राज्यस्यार्धमपि भवते प्रदातुं तत्परोऽस्मि।

(पुनरपि किञ्चित्कालं मौनमाकलय्य)

यदि स्वकुटुम्बिनां पारलौकिकं कल्याणं वाञ्छसि, तर्हि यज्ञ-यागादिकर्मणि संन्नद्धो भव। यज्ञैरेवाऽभ्युदयो भवति। अभ्युदयादूर्ध्वम् स्वर्गप्राप्तिस्तु सुनिश्चिता।

सिद्धार्थः- राजन्, भवांस्तु शाक्यानां हितैषी मित्रमस्तीत्यत एतादृशमौदार्यं प्रकटीक्रियते। सम्पत्सु सत्सु सर्वैः स्नेहातिशयः प्रदर्श्यते, किन्त्व-सम्पन्नायामप्यवस्थायां दुर्लभो भवति सहायः। साधुवादैरभिनन्दामि भवन्तम्।

बिम्बिसारः- तर्हि स्वीकुरु मम सख्यम्।

सिद्धार्थः- राजन्! सुखे सुखं न प्राप्यते।[1] महान्तः प्रासादा सुखसाधनानीत्युच्यन्ते, किन्तु तान्यपि शीतातपादीनां प्रतीकारमात्रम्। भोगाश्च रोगखचिता दृश्यन्ते। "इदं सुखम्, इदं सुखमिति" विचार्य तत्प्रति धावमाना मनुष्याः सुखस्य मृगमरीचिकां नावबुध्यमानाः सततं सीदन्ति।

(क्षणिकं मौनमाकलय्य)

जीर्णतां नयतीति जरा, रुजमावहतीति रोगः, मृत्काम्यते येन स मृत्युरिति पदार्था मया यदा साक्षात्कृताः, ततः प्रभृति विचलितोऽस्मि। गजनिमीलिकायै न कल्पत एतज्जीवनम्।

---

1. मय्हम्पि खो, राजकुमार, पुब्बेव सम्बोधा अनभिसम्बुद्धस्स बोधिसत्तस्सेव सतो एतदहोसि-न खो सुखेन सुखं अधिगन्तब्बं, दुक्खेन खो सुखं अधिगन्तब्ब न्ति।-बोधिराजकार कथा, राजवग्ग, मज्झिमनिकाये, विपश्यना रिसर्च इन्स्टी. ओन-लाईन, www.tipitaka.org (पृ.157)

बिम्बिसारः- अत इहलोकस्याभ्युदयं वर्जयित्वा, पारलौकिकं कल्याणं तु साधनीयमेवेति मे मतिः।

सिद्धार्थः- अयथार्था च वार्ता पारलौकिकस्य कल्याणस्य, यस्य कृते क्रियन्ते पशुयागाः। पशुबलिना स्वर्गं प्राप्यत इति वचनं न कस्यापि स्वानुभव-सिद्धम्। अतो नाहं विश्वसिमि यज्ञकर्मणि।

बिम्बिसारः- सिद्धार्थ! अस्माकं पितृपितामहैः सुख-प्राप्त्यर्थम् एतेषामेवावलम्बनं क्रियते स्म। अतः कुमार! पुनरप्येकवारं विचार्यताम्।

सिद्धार्थः- सर्वथा चिन्तितं मया-

मुक्ताकाशे विहग-हननात् प्राप्यते नैव सौख्यम्
युद्धं कृत्वा सकलजगतां रोहिणीं वा न काङ्क्षे।
व्यर्थो यत्नो यजनविधिना, गम्यते किं द्युलोकं
दुःखं ज्ञातुं कथमभिमुखो ना भवेयं सुतप्तः॥ ३-७॥

बिम्बिसारः- इदानीं नास्ति मे वचनावकाशः। एतदेवाभिकाङ्क्षे सफलीभवतात् समुद्योगः। किन्तु प्राप्ते कस्मिन्नपि ज्ञानप्रकाशे मम राजगृहं न विस्मर्तव्यम्, पुनरपि समागत्य पुनातु च तत्।

(बिम्बिसारो नगर-परीक्षकैः सहोत्थाय सिद्धार्थस्य वन्दनां करोति। आत्मगतम्)-

प्राज्ञः सिंहासनं त्यक्त्वा, विज्ञातुं दुःखकारणम्।
तपस्तप्तुं प्रवृत्तोऽयं, ध्रुवतार इवाचलः॥ ३-८॥

(परिवर्त्य पुनरपि पश्यति)

सिद्धार्थः- राजन्! किमपि प्रष्टुकाम इव परिलक्ष्यते भवान्।

बिम्बिसारः-आम्। भवतां संनिधौ ये चान्ये संमिलिता भिक्षवः, किं तेऽपि मोक्षमधिगन्तुं यतन्ते?

सिद्धार्थः- बाढम्। तेऽपि समानधर्माणो भिक्षवः।

बिम्बिसारः-धन्योऽस्मि, धन्यञ्च मदीयं राजगृहम्। भविष्यति कालेऽपि भवतु मे राजगृहं धन्यतरम्।

(निष्क्रामन्ति बिम्बिसारः नगर-परीक्षकाश्च।)

(क्षणं यावद् अन्धकारो वितन्यते, ततः पुनरपि प्रकाशः क्रियते।)

पञ्चवर्गीया भिक्षवः- अल्पविद्यं गुरं त्यजेदिति विचार्य "आलाम-कालामम्", "उद्दक-रामपुत्र" ञ्च त्यक्त्वा भवान् अत्र संप्राप्तः, तदस्माकं कृत उपकाराय भविष्यति। भवन्तञ्च ज्ञात्वा राजपक्षतोऽपि न कश्चिद् उपद्रवो जातः।

महानामः- इदानीं प्रकृतमनुसरामः।

वर्गिकः- कौण्डिन्य! प्रथमं कथयतु, योऽमात्येन उदायिना कपिलवस्तुतो निष्कासित स भवतो मित्रं माण्डव्योऽत्रागत्य किं संदिष्टवान्?।

कौण्डिन्यः- माण्डव्येनात्रागत्य कुटिलता प्रदर्शिता। स मह्यं कथितवान् कपिलवस्तुनगरे यो रोहिणीनदीमभिलक्ष्य विवाद आसीत् स इदानीं समाधिं प्राप्तवान्। अतः सिद्धार्थो यदि प्रव्रज्यातः प्रत्यावर्तनमिच्छति, तर्हि तदपि कर्तुमर्हतीति।

चत्वारो भिक्षवः- *(सिद्धार्थं प्रति)* कुमार! किं भवता श्रुतैषा वार्ता?, अगृहीभवितुकामेन द्विर्विचारणीयम्।

सिद्धार्थः- य आत्मानं शृण्वन्नपि न शृणोति, अन्यच्च शृणोति, स एव द्विर्विचारयति। किं भवद्भिर्न श्रुतं यन्मया राज्ञे बिम्बिसाराय कथितम्? पुनरपि कथयामि-

संवेगाद्बहिरायातो, युद्धान्न च पलायितः।
गृहं नैव गमिष्यामि, योत्स्येऽहं दुःखसेनया।। ३-९।।

चत्वारो भिक्षवः- *(परस्परम्)* नास्तीदानीं विकल्पस्यावकाशः। अतोऽस्माभिः सेवितव्योऽयं साधुः।

महानामः- तर्हि देहदमनाय संनद्धा वयम्, अनशन-पूर्विकां तपश्चर्यां विधास्यामहे।

सिद्धार्थः- न हि, न हि। अनशनव्रतेन तत्त्व-चिन्तनं कर्तुं न पार्यते। अवबुद्धञ्च मया युक्ताहारविहारस्यैव योगो भवति सुलभ इति।

भद्रिकः- न श्रुतपूर्वोऽयं मार्गः। कथं जानीमो यद् भोजनाद् ऋते योगो न साध्यते? किमस्ति प्रमाणम्?

सिद्धार्थः- पूर्वं मयापि तदेवाचरितम्। येन च कृशकायेन मया नाभितो मेरुदण्डस्य स्पर्शोऽपि विहितः।[1] किन्त्वन्ते मया निर्णीतं यद्-बोधि-ज्ञानाय केवलम् अनशनं नोपकारकमिति।

पञ्च वर्गीया भिक्षवः- *(सर्वे वदन्त एवोत्तिष्ठन्ति)* किमिदं श्रूयतेऽस्माभिः? किमनशनं परित्यज्य योगी भवितुमिच्छति तपस्वी? कथं भोगलिप्ता मतिस्तत्त्वदर्शनं कर्तुं शक्नुयात्?, नैवम्... नैवम्।

---

1. सो खो अहं, सारिपुत्त, उदरच्छविं परिमसिस्सामी ति पिट्ठिकण्टकं येव परिग्गण्हामि। -मज्झिमनिकाये, महासिंहनाद सुत्तं। (बोधिराजकुमारसुत्तमित्यत्रापि द्रष्टव्यम्)

सिद्धार्थः- *(आकाशं पश्यन् भणति)* यतः प्रभृति शरीरयात्रार्थं किञ्चिद् भोजनमुररीकृतम्, तदारभ्य कानिचिन् मार्मिकाणि स्वप्नानि दृश्यन्ते। तद्यथा--

उदेति सूर्यो नवरश्मियुक्तः,
पद्मातपत्रं च गिरौ विभाति।

पादौ स्फितौ क्षालयते समुद्रः,
शृणोमि संगीतरवं च दिव्यम्॥ ३-१०॥

अत आप्रभातात् विश्वस्तोऽहं बोधिसंभवाय। इदानीमश्वत्थवृक्षस्याधस्तात् समाधिस्थो भवामि।

(उत्थायाश्वत्थवृक्षस्याधस्तात् गच्छति, भिक्षापात्रं समीपे स्थापयित्वा, पद्मासनस्थो भवति सिद्धार्थः।)

अश्वजितो वर्गिकश्च- हन्त! तपश्चरणात् परिभ्रष्टोऽयं तपस्वी। पतनभयाच्छरीरस्य संकल्पितमनेन यद् अनशनं न कार्यमिति। मन्यावहेऽनेन सहास्माकं निवासो नोपकाराय भवेत्। अन्वेष्टव्या काचिदन्या तपःस्थली।

अन्यौ द्वौ तपस्विनौ- भवतोः परामर्शः समीचीनः प्रतिभाति। ऋषिपत्तने मृगदावं प्रति गमिष्यामः।

कौण्डिन्यः- अहमपि सर्वेषाम् अनुगामी भवामि।

(सर्वे तिर्यग्-दृष्ट्या सिद्धार्थं प्रति दृष्ट्वा निष्क्रामन्ति।)

(रंगभूमौ तिमिराच्छादनं क्रियते।)

(द्वितीयं दृश्यम्)

(वैशाखमासस्य पूर्णिमायां तिथौ शशांक उदेति, शनैश्च देदीप्यमानो भवति।)

पूर्णा नाम दासी- भगिनि सुजाते! महदाश्चर्यमनुभूयते। भवदाज्ञया सम्मुखेऽश्वत्थवृक्षस्य वेदिकां संमार्जयितुं गता, तदा तत्रासीदेकः देवतुल्यः कश्चित्तपस्वी। मन्ये यया मनःकामनया वनदेवतामर्चितुमिच्छति भवती, स देवः स्वयमेव तत्र समागतः।

सुजाता- पश्य च, सम्मुखे वैशाखीपूर्णिमाया उदेति चन्द्रमाः। तर्हि विना विलम्बं, सुवर्णपात्रे पायसं गृहीत्वा तत्र गच्छामि, प्रदास्यामि च वन्दनापुरस्सरं तस्मै देवाय पायसमिदम्।[1]

---

1. अङ्गुत्तरनिकायस्य "प्रत्येकं निपाते" सुजाताया नामनिर्देशो वर्तते। तद्यथा-एतदग्गं भिक्खवे, मम साविकानं उपासिकानं पठमं सरणं गच्छन्तीनं यदिदं सुजाता सुताति धीता॥

(सुवर्ण-पात्रे पायसं, पूजा-सामग्रीं च, नानाविधानि पुष्पाणि गृहीत्वा सा चलति। मन्दगत्या सुजाता सिद्धार्थस्य समीपे गत्वोपविशति। पूजार्चनं नाटयति। सुवर्ण-पात्रं सिद्धार्थस्य चरणयोः स्थापयति। तदा सिद्धार्थस्य मृत्पात्रं वेगेन नभसि विलीयते। चमत्कारं दृष्ट्वा सुजाता भणति।)

सुजाता- अयि देव! समर्पितं सुवर्णपात्रेण सहितं पायसम्। प्रतिगृह्यताम् तत्पायसम्। यथा मदीयाभ्यर्थना साकारीभूता, कच्चित् भवतोऽपि मनःकामनाऽद्य परिपूर्णा स्यात्। भवते शुभाशंसां प्रयच्छामि।

सिद्धार्थः- हे कल्याणि! स्वस्ति भवत्यै।

(सिद्धार्थः पानक्रियामभिनयति शनैः। सुजातापि वन्दनं कृत्वा निष्क्रामति।)

(अश्वत्थवृक्षस्याधस्तात् बोधिसत्त्वः पद्मासने निमीलितनेत्र उपविष्टः)

(नेपथ्ये-आक्षेपिकी ध्रुवा गीयते)

कमलनिकरे त्वाकृष्टो यः करी विगताङ्कुशः
विहगवसतौ संक्रान्तो यः करालभुजङ्गमः।
अभिमुखगतो हन्तुं वन्यं योऽयं युवशार्दुलः
सकलभुवनं भेत्तुं स्थितो, नान्योऽन्तक एव सः॥ ३-११॥

(अपटीक्षेपेण प्रविशति गृहीतपुष्पबाणासनो मारः।
तस्य च स्कन्धोपरि वर्तत एका वीणा।)

मारः- अयमयं भोः! मुनीनां मारोऽहम्। नवजलधरप्रविष्टतडित्ताण्डवमिव संक्षोभयामि जगत्सर्वम्। सिद्धानां मुनिवराणां च तपोभङ्गाय सदैव समुपस्थितः।

(सिद्धार्थस्य समीपं गत्वा)

मारः- *(सिद्धार्थमुद्दिश्य)* अयि भोः शाक्यसिंह! क्षत्रियोऽपि सन् किं मृत्योर्भीतः?, युद्धाच्च पलायितः?। *(किञ्चद् विरम्य)* इदानीं ध्यानाडम्बरनिपुणो भूत्वा त्वं कदाचिद् भैक्ष्यं चरसि, कदाचिद् बुभुक्षितः सन्नितस्ततः भ्रमसि।..... सर्वं पश्यामि।....किं जानासि त्वं मां बहुरूपधारिणम्?।

सिद्धार्थः- *(आत्मगतम्)* कथमिमं नाहमभिजाने?, बहुकालान्मां तपश्चरणाद्वि-चालयितुं प्रवृत्तोऽयं मारः।

कामस्ते प्रथमा सेना, द्वितीया चारतिर्मता।
क्षुत्पिपासा तृतीयेयं, तृष्णा सेना ततोऽपरा॥ ३-१२॥[1]

1. कामा ते पठमा सेना, दुतिया अरति वुच्चति। ततिया खुप्पिपासा ते, चतुत्थी तण्हा पवुच्चति॥-सुत्तपिटकस्य सुत्तनिपाते महावग्गे पधानसुत्तं, 436

मारः- अतुलनीयं मम सैन्यबलम्। को न याति वशं लोके दुर्जेयया कामसेनया?। *(विचिन्त्य)* प्रथमं तु काममेव संप्रेषयामि। *(वीणावादनेन नर्तकीवृन्दं समाह्वयति)* हे रते, हे प्रीते, हे गीते! शृणुत सर्वाः। एतस्य यतिनस्तपोभङ्गाय यूयं समाहूताः। आरभ्यताम्, नृत्यमेकम्। परितो भ्रमत, वामतो दक्षिणतश्च भ्रमत संमोहयितुमेतम्।

(वीणावादनेन सह वर्तुलाकारेण भ्रमति। वदति च-)

अयि भोः! मन्मथोऽस्मि। त्रिभुवनविजेता कन्दर्पोऽस्मि।

(नृत्यन्ति सर्वा नर्तक्यः, नेपथ्ये गीयते--)

तडित्समेयं समुपागतेयं शीघ्रं हि दृश्या सुखदायिनी सा।
पयोधरेयं त्वयि! दुर्लभेयं, वाञ्छन्ति सर्वे मुनयोऽपि नाके।। ३-१३।।

सुहासशुभ्रां नयनाभिरामाम् इन्द्रोऽपि तन्वीं न जहाति कान्ताम्।
सुखस्य मूलं कथिता च नारी, रामा हि सेव्या विरतिश्च गर्ह्या।। ३-१४।।

(ततः शरसन्धानं नाटयति। बाणस्य वेगध्वनिः श्रूयते।)

(ध्यानमग्नः सिद्धार्थोऽक्षोभ्य एवोपविशति।)

अहो आश्चर्यम्! किमनेन बाणेन सिद्धार्थो न संक्षुब्धः?। *(नेत्रे विस्फार्य)* किं नैव विचलितोऽयम्?, *(मारो निराशो भूत्वा पादौ प्रसार्योपविशति, निःश्वसति च।)* असम्भाव्यमेतत्।

मारः- *(नर्तकीवृन्दम् उद्दिश्य)* न सिद्धं मदीयं कार्यम्। गच्छत गच्छत यूयम्। *(नर्तक्यो निष्क्रामन्ति)*

मारः- नमुचिरस्मि, न मोचयिष्याम्येनं वैरागिणम्। *(उत्त्थाय दीनवचसा भणति)* किं पश्यसि तव शरीरं, कीदृशो दुर्वर्णो जातोऽसि? सन्तिके मरणं तव। भो तपस्वि! जीव। जीवितं हि श्रेयस्करम्। यागादिना पुण्यानि च चिनुतान्नित्यम्।[1]

सिद्धार्थः- *(आत्मगतम्)* अयि मार! यदि जीवितलोभेन च्युतसंकल्पः स्याम्, तदा व्यर्थमेव मे जीवनम्। तव प्रत्येकं सेना मृत्तिकया रचितो घट इव, ताञ्चाहं मम प्रज्ञापाषाणेन विखण्डयामि।[2]

---

1. नमुची करुणं वाचं भासमानो उपागमि। "किसो त्वमसि दुव्वण्णो सन्तिके मरणं तव।।, सहस्सभागो मरणस्स, एकंसो तव जीवितं। जीव भो, जीवितं सेय्यो, जीव पुञ्ञानि काहसि।। सुत्तनिपातस्य महावग्गे पधानसुत्तं, गाथा क्र. 426-427.
2. यन्तेतं नप्पसहति सेनं लोको सदेवको। तं ते पञ्ञाय गच्छामि आमं पत्तं व अस्मना।। पधानसुत्तं, गाथा-443 (सम्मुखे ते न तिष्ठेद्वै मनुष्योऽथवा सुरः। मृत्पिण्डमश्मनेव त्वां विभिनद्मि सुनिश्चितम्।।)

मारः- अयं हठी। तथाप्यास्वादितरतिसुखमेतं सिद्धार्थं तु वञ्चयितुं पारयिष्याम्येव।

(परिक्रमणं करोति, चिन्तयति च)

किं किं कया रीत्या विनियोजयिष्यामि, तच्छ्रूयताम्-----

विस्मृत्या जनयामि रागरिपुणा सद्धर्महानिं सदा
संस्मृत्या वितनोमि सौख्यशतकं प्रासादकक्षे स्थितम्।
स्वप्ने दृष्टयशोधरं मुनिवरं संजातपीडान्वितं
गर्विष्ठोऽस्मि मदीयसैन्यसहितो मथ्नामि वैरागिणम्।। ३-१५।।

(धृतधनुर्मारः स्वहस्तौ वर्तुलाकारेण भ्रामयति। सिद्धार्थं परितो भ्रमति, कुसुमशराणि विकिरति)

(सिद्धार्थोऽक्षोभ्य एवोपविशति। मारस्तं पुनरपि निरीक्षते।)

स्याद्वाऽयं किमप्यचेतनं काष्ठमयं प्राणिजातम्। नान्यथा मदीयो यत्नो निरर्थकः स्यात्।

(परिक्रमणं कृत्वा) पुनरप्येकवारं प्रयतिष्ये।

मारः- अधुना भयप्रदां सेनाम् आह्वयामि। *(मारो ध्यानं नाटयति।* **नेपथ्ये-** कोलाहलः श्रूयते)

(पार्श्वतः प्रविशन्ति विरूपाः, वामनाः, कपिमुखाः, सिंहमुखाश्च भूताः।)

भूतगणः- *(आङ्गिकाभिनयेन भयं नाटयति। वृक्षाणां शाखा अपि विकीर्यन्ते सिद्धार्थस्य सम्मुखे।)*

(तस्य सम्मुखे गत्वा ताः प्रत्यावर्तन्ते, भूमौ च निपतन्ति।)

सिद्धार्थः- *(आत्मगतम्)* नाहं कस्मादपि भयभैरवाद् बिभेमि। यतो हि-हिंस्त्रप्राणिभिः प्रपूरिते निर्जनेऽरण्ये, निशीथान्धकारे श्मशाने चोषित्वा विजितो मया भयभैरवो बहुकालात्पूर्वमेव।[1] *(सिद्धार्थस्तु तत्रैवाश्वत्थ-वृक्षस्याधस्तान् निश्चल उपविष्टो वर्तते।)*

मारः- वह्निवृष्टिं विना नास्ति कोऽप्यवशिष्टो मार्गः। *(ध्यानं नाटयति।)*

(आकाशात् पतन्ति सर्वतोऽग्नि-स्फुलिंगानि।)

सिद्धार्थः- *(मैत्रीपूर्णाभ्यां नेत्राभ्यां केवलं पश्यति। स्फुलिङ्गानि च परिवर्तन्ते कमल-पुष्परूपेण।)*

(तस्य चासनं शनैः शनैरुच्चैर्गच्छति।)

---

1. द्रष्टव्यः--महासिंहनादसुत्तं। (मज्झिमनिकाये मूलपण्णास, मूलपर्यायवग्गो)

मारः- *(चकितचकित इव सर्वं निरीक्षते, ततः नतमस्तकीभूय भूमौ पतति।)*

(नेपथ्यतः- नभोवाणीरूपेण प्रासादिकी-ध्रुवाया गानं श्रूयते-)

सर्वाश्रयं विकसितं प्रथमैकवारं
ज्ञानद्रुमं परिणतं नवधर्मयुक्तम्।
पुष्टिं प्रयातु सकलेषु धरातलेषु
हे मार! नार्हसि कदापि छलेन छेत्तुम्।। ३-१६।।

प्रज्ञान्वितो दिनकरो भव-तारकोऽयम्
भो सिंहिकासुत! तवैव विलोप आस्ते।
व्याप्नोतु बोधिकिरणो भुवि दुःखशान्त्यै
जायेत रत्नमिव जङ्गमकल्पवृक्षः।। ३-१७।।

अयि मार! अयं बोधिसत्त्वः करुणापूर्णेन मनसा प्राणिनां दुःखनिवृत्त्यर्थं यतते। महाभिषगयं ज्ञानौषधिं संप्राप्तुम् उद्यतः। मा भूत्तस्य मार्गे कश्चिद् विघ्नः।

(पुनरपि नेपथ्ये-)

हे मार! नास्त्ययं साधारणः तपस्वी यो विचालयितुं शक्यः। वृद्धिंगतोऽयं ज्ञानद्रुमः, तस्य च शाखासु जायेरन् धर्मपुष्पाणि, विरतिपूर्णानि च फलानि। अतो नोचितमस्योन्मूलनम्।

मारः- सप्त वर्षाणि यावत् पदात् पदम् अन्वगच्छम् एनम्। न चास्य स्मृतिमतो भगवतः सम्बुद्धस्यैकमपि छिद्रं मयाऽधिगतम्[1]। सदैव पराभूतोऽनेन महात्मना।

(मार उत्तिष्ठति, तस्य हस्तान्निस्सरतः पुष्पधनुर्वीणा[2] च।

क्रमशो मारो भूतगणश्च निष्क्रामतः।

अन्ते चाकाशात्पुष्पवृष्टिर्जायते।)

(नेपथ्ये- सिद्धार्थस्य स्तुतिः प्रस्तूयते--)

रति-भीति-प्रयोक्तासौ, दुर्जेयो मार-नामकः।
जिनशत्रुर्जितो येन, तं वन्दे विश्वतारकम्।। ३-१८।।

---

1. सत्त वस्सानि भगवन्तं अनुबन्धिं पदा पदं। ओत्तारं नाधिगच्छिस्सं सम्बुद्धस्स सतीमतो।-पधानसुत्तं, 446
2. तस्स सोकपरेतस्स वीणा कच्छा अभस्सथ। ततो सो दुम्मनो यक्खो तत्थेवन्तरधायथा ति। पधानसुत्तं, 449

सिद्धार्थः- *(सुदीर्घं निःश्वस्य.... नेत्रे विस्फार्य, नेत्रतारके उच्चैः कृत्वा, ततो नासिकाग्रे दृष्टिं स्थापयति।)*

(नेपथ्ये)

अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।। ३-१९।।

गहकारक! दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि। *(गद्य वाक्यरूपेणोच्चारणं क्रियते।)*

सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं।।
विसङ्खार-गतं चित्तं तण्हानं खय-मज्झगा।।[1] ३-२०।।

सिद्धार्थः- अयि गृहकारिके तृष्णे! त्वामन्विष्यन् नैकवारं दुःखसागरे जन्म लेभे। त्वमिदानीमामूलचूलं दृष्टा मया। न त्वमितः परं शरीरगृहं निर्मातुं पारयिष्यसि। दुःखजनयित्री शृङ्खला प्रणष्टेदानीम्। मदीयं चित्तं निर्विकारं जातम्। तृष्णां छित्वा "अर्हदि"ति पदं प्रविष्टोऽस्मि। तथागतोऽस्मि, सम्यक् सम्बुद्धोऽस्मि।।

(बुद्धस्य मुखे तेजोमण्डलं परिभ्रमति)

(नेपथ्ये)

मध्यमं मार्गमाश्रित्य दृष्टवान् दुःखकारिकाम्।
जागृतोऽयं प्रबुद्धोऽयं तृष्णामुक्तो निरागसः।। ३-२१।।

(आकाशे वैशाखी-पूर्णिमायाश्चन्द्रमाः दृश्यते।)

(तृतीयं दृश्यम्)

(अश्वत्थवृक्षस्याधस्तात् गौतमो बुद्धो ध्यानमुद्रामाश्रित्योपविष्टः।)

गौतमो बुद्धः- *(नेत्रे उद्घाट्य, नभो लक्ष्यीकृत्यात्मगतम्)* बहुचिन्तनानन्तरं मया सद्-धर्मस्य दर्शनं कृतम्। स एवेह लोके दुःखहानये प्रभविष्यति। तृष्णाच्छेदेन चान्ते निर्वाणमधिगमिष्यन्ति सर्व इति मे दृढा मतिः।।

---

1. सम्बोधिपत्ति, अविदूरे निदान, बुद्धघोषाचरियरचिते जातकट्ठकथा, पृ.196, तथा धम्मपद, 153-154 एतासां गाथानां संस्कृतच्छाया एवं स्युः-"अनेकं जातिसंसारं समधाविषं अनिविशमानः। गृहकारकं गवेषयन्, दुःखा जातिः पुनः पुनः। हे गृहकारक (तृष्णे)! दृष्टोऽसि पुनर्गेहं न करिष्यसि। सर्वास्ते पार्श्विका भग्ना गृहकूटं विसंस्कृतम्। विसंस्कारगते चित्ते तृष्णानां क्षयमध्यगात्।।-*धम्मपद*, 11-8-9, मोतीलाल ब., दिल्ली, 1977.

गौतमो बुद्धः- *(कतिपयकालं मौनमाकलयति। ततो वदति)* किन्तु झटित्येव सद्धर्मस्योपदेशं वितनिष्यामि, तर्हि जनसमूहः कदाचिन् नावबुध्येत। यदि साधारणो जनो बुध्येत, तथापि तं पूर्णरूपेण गृहीतुं सफलो न भवेत्। ग्रहणं कृत्वापि यदि तदनुसारं न यापयेज्जीवनम्, तदापि महती विनष्टिः। दुःखहानिः कथमपि न संभवेत्।।

(कतिपयकालादनन्तरम्)

अतश्चिन्त्यते- आस्ताम् तावद् उपदेशकरणात्। केवलं भिक्षुकजीवनेन कालं यापयिष्यामि। अन्ततो गत्वैवमेव निर्वाणं प्राप्स्यामि।

(नेपथ्ये- *नभोवाणी*)

"तृषितां प्रजां तर्पय लोकनाथ
अदृष्टपूर्वोऽसि कथंचिद् दृश्यसे।
औदुम्बरं पुष्पं यथैव दुर्लभं
तथैव दृष्टोऽसि कथंचिन्नायक"।।[1] ३-२२।।

भगवन्! कृपां करोतु, ... दयां वितनोतु, ... अन्तर्मुखीभवितुं नार्हति . ... स्वीकुर्वन्तु प्रार्थनामिमाम्। देवलोकादपि उपरि स्थितं बुद्धत्वम्। अतो तद् बुद्धत्वं मौने मा विलीयेत।

(ब्रह्मदेवः प्रविशति)

ब्रह्मदेवः- प्रभो! इतः प्रभृति न भवान् सिद्धार्थो गौतमः। इदानीं भवांस्तु सम्यक् सम्बुद्धः। संसारोऽयम् अन्धकाराद् बहिर्नेतव्यः। भोः गौतम बुद्ध! मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाभिः चतुर्भिर्ब्रह्मविहारैर्युक्तस्य सद्धर्मस्य प्रजासु वृष्टिः कर्तव्या। *(ब्रह्मदेवोऽन्तर्हितो भवति)*

गौतमो बुद्धः- *(आत्मगतम्)* सद्-धर्मस्योपदेशः कस्मै कर्तव्यः? कोऽस्ति, यस्तं सम्यक्तया गृहीतुं शक्नुयात्। *(विचिन्तयति)* आम्, ज्ञातम्। पप्रथमम् आलार कालामस्य समीपे गन्तव्यम्। यतो हि-तस्मान्मया "आकिञ्चन्य-समाधिः" समधिगतः। स एव मदीयं ज्ञानं ग्रहीतुं शक्नोति।

(नेपथ्ये-) "भोः तथागत! आलार-कालामस्तु विगते सप्ताहे कालं कृतः।"

गौतमो बुद्धः- तर्हि, उद्दक रामपुत्रस्याश्रमं प्रति गन्तव्यम्। यतो हि-स मां "नैवसंज्ञानासंज्ञायतन" इति नाम नूतनं समाधिम् उपदिष्टवान्। सोऽपि साधनारत आसीत्।

---

1. सद्धर्मपुण्डरीकम्, पूर्वयोगपरिवर्त, श्लोक-40

(नेपथ्ये-) "भोः तथागत! सोऽपि ह्यः रात्रावेव कालग्रस्तोऽभवत्।"

गौतमो बुद्धः- तर्हि, त एवान्वेष्टव्याः, पञ्चवर्गीयास्तपस्विनः, ये मां परित्यज्य काशीं प्रति गतवन्तः।

(रंगे-गौतमो बुद्धः परिक्रमणं करोति)

पंच वर्गीयो भिक्षुः-१- पश्यन्तु सम्मुखम्, तपश्चरणात् परिभ्रष्टः स गौतमः श्रमणः समायाति।

पंच वर्गीयो भिक्षुः-२- नास्य सम्मुखे तिष्ठेम। व्रताचरणाद्यो हीनो बाहुलिकः स न संमान्यः।

पंच वर्गीयो भिक्षुः-३- नैवम्, मन्येऽहं-तस्मै एकमासनं देयमुपवेष्टुमिति।

पंच वर्गीयो भिक्षुः-४- न्यूनातिन्यूनमेतद् अपेक्षतेऽभ्यागताय।

कौण्डिन्यो भिक्षुः-५- आसनादधिकम् अपि किञ्चित् कर्तव्यम्। अभ्यागताय जलादिकमपि देयम्।

(गौतमो बुद्धः शनैरग्रे गच्छति, तथैव पञ्चभिक्षुकाणां मनस्सु संक्षोभो जायते। द्वौ भिक्षू तिष्ठतः नतमस्तकौ भूत्वा हस्ताभ्यां बुद्धस्य स्वागतं कुरुतः। तृतीयो भिक्षुक आसनं प्रसारयति)

पञ्च वर्गीयो भिक्षुः-४- (कमण्डलुं गृहीत्वा) आयुष्मन् गौतम! कुरु जलेन पादयोः प्रक्षालनम्।

गौतमो बुद्धः- भो भिक्षवः! मा मह्यं नाम्ना, आयुष्मन्निति वादेन वा समुदाचरथ।[1] इदानीमर्हत्, तथागतोऽहम्। किमधिकं वच्मि?, सम्यक् सम्बुद्धोऽस्मि। न च पूर्वं कदाप्येवमवादिषम्।

(पादं प्रक्षाल्य, वेदिकायां गौतमो बुद्ध उपविष्टः, सर्वे च भिक्षवः तस्य वन्दनां कुर्वन्ति। परित उपविशन्ति च।)

गौतमो बुद्धः- अरे भिक्षवः! मन्मनसि तन्नूतनस्य सद्-धर्मस्याविष्कारोऽभवत्, यमन्वेष्टुं प्रव्रजित आसम्।

पञ्च भिक्षवः- भगवन् तथागत! कृतार्थीक्रियताम् तदुपदेशेनास्मान् सर्वान्।

गौतमो बुद्धः- हे भिक्षवः, यदा मयाऽनशनं परित्यज्य किञ्चद् भोजनमुररीकृतं, तदा मदीयमिमं मध्यमं मार्गम् अज्ञात्वैव भवद्भिः परित्यक्तोऽहम्।

---

1. *मा भिक्खवे, तथागतं नामेन च आवुसोवादेन च समुदाचरथ। अर्हम् भिक्खवे, तथागतो सम्मा सम्बुद्धो।*-पालि विनयपिटके महावग्गे, पृ. 7 (विपश्यना रिसर्च इन्स्टीट्युट प्रकाशन, www.tipitaka.org)

कौण्डिन्यः- तर्हि कथयत्वस्मभ्यं कोऽस्ति सो मध्यमो मार्ग इति?।

गौतमो बुद्धः- यः समाधिर्जम्बुवृक्षस्याधस्तात्[1] संप्राप्त आसीत्, तदा नासीत्केवलम् अनशनं, न चासीत् तस्यां किशोरावस्थायां भोगविलासादीनाम् अतिशयता। अस्यैव स्मरणात् तदानीं काले मया किञ्चिद् भोजनम् अङ्गीकृतम्। येन च संबोधिः सफलीभूता। निष्कर्षरूपेणेदम् आयाति-

रोग इन्द्रियभोगेन, योगो नानशनेन वै।
अतिद्वयं[2] सदा त्याज्यं, मार्गोऽयं खलु मध्यमः॥ ३-२३॥

एतस्मिन्नेव मार्गे स्थित्वा मया संबोधिः सम्प्राप्ता।

वर्गीयो भिक्षुः- भगवन्, एतावत्पर्यन्तमस्माभिः "अनशनपूर्विका कठिनातिकठिना तपश्चर्या हीष्टार्थसाधिके"ति श्रुतम्। अतश्चास्माभिः परित्यक्तो भवान्।

गौतमो बुद्धः- तस्मिन्नेव मध्यम-मार्गे स्थित्वा, चत्वारि चार्यसत्यानि मया समधिगतानि। शृण्वन्तु सर्वे सावधानाः--

(हस्तद्वयं मेलयित्वा मुद्रामभिनयति। एकैकशो वाक्येन चतसृणामङ्गुलीनां गणनां करोति।:-)

1. *(प्रथमाङ्गुलिं संस्पृशन्)* अयि भिक्षवः! सर्वं दुःखमिति नामकं प्रथममार्यसत्यम्। जन्म दुःखकरम्। जरापि दुःखकारिणी। व्याधिश्च दुःखकारकः। मरणन्तु दुःखकरमेव च[3]।

पुनश्च श्रूयताम्-

दुःखकृदप्रियं भाति, प्रियस्यापि वियोजनम्।
अप्राप्तिरीप्सितस्य या, प्राप्तिर्भवेदवाञ्छिता॥ ३-२४॥[4]
आदौ सुखं प्रतीयेत, तद् दुःखेनानुगम्यते।
सर्वं दुःखान्वितं मन्ये, गतदुःखं न विद्यते॥ ३-२५॥

---

1. जम्बुच्छायाय निसिन्नो.... पठमं झानं उपसम्पज्ज... एसो मग्गो बोधायाति।- मज्झिमनिकाये बोधिराजकुमारसुत्तं॥
2. अतिद्वयम् = दो आत्यन्तिकताएं। द्वेमे, भिक्खवे, अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा। कतमे द्वे। यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोदुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो, यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो। एते खो भिक्खवे, उभो अन्ते अनुपगम्म, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा। (विनयपिटके महावग्गे धम्मचक्कपरिवर्तन, पृ. 8. www.tipitaka.org
3. इदं खो भिक्खवे! दुक्खं अरिय सच्चं, जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, ब्याधि पि दुक्खो, मरणमपि दुक्खं।।--विनयपिटके महावग्गपाळी, महाक्खन्धको, गद्यखण्ड-14.
4. अप्पियेहि संप्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तमपि दुक्खं। संखितेन, पञ्चु-पादान क्खन्धा दुक्खा।।(--विनयपिटके महावग्गपाळी, महाक्खन्धको, गद्यखण्ड-14.)

2. *(द्वितीयाङ्गुलिं संस्पृशन्)* हे भिक्षवः! क्षणे क्षणे समुपद्यमाना, विषयेषु च रममाणा कामतृष्णा दुःखानाम् उद्भवकारणम्। द्वितीयम् इदम् आर्यसत्यम्।[1]

3. *(तृतीयाङ्गुलिं संस्पृशन्)* त्याज्या चेयं तृष्णा सम्पूर्णेन वैराग्येण। तत एव दुःखमुक्तिः स्यात्। इदञ्चोच्यते-दुःखनिरोधं नाम तृतीयम् आर्यसत्यम्।[2] नष्टे च कारणे दुःखनिरोधनं कर्तुं शक्यते। अतो मा भवन्तु सर्वे निराशाः। दुःखस्य यात्यन्तिका निवृत्तिः, तदेव निर्वाणम्।

4. *(चतुर्थाङ्गुलिं संस्पृशन्)* दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा नाम चतुर्थम् आर्य-सत्यम्।[3] अत्र च सम्यक् दृष्टिः, सम्यक् संकल्पः, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीवः, सम्यक् व्यायामः, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधिश्चेति रचितोऽष्टांगिको मार्गः।[4] तत्र कथं प्रवर्तनीयं जीवनमिति- उपदिशामि।

पञ्च-वर्गीया-भिक्षवः- कथं जानीमो "सांख्यादीनां दर्शनमनर्थकम् अनुपकारकं वे"ति?।

गौतमो बुद्धः- नास्ति मे मनसि मम दर्शनं प्रति कश्चित् पक्षपातः। प्रत्युत मामकीनस्य दर्शनस्य कठोरातिकठोरा परीक्षा करणीया, यदि मम वचनानि युक्तिसंगतानि न स्युः, तर्हि त्यक्तव्यानि तानि।

तापात् छेदात् च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्[5]।। ३-२६।।

कौण्डिन्यः- संक्षेपेण किं कथनीयं वर्तते?

---

1. इदं खो पन, भिक्खवे! दुक्खसमुदयं अरिय सच्चं, यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दीरागसहगता तत्रतत्रा-भिनन्दिनी, सेय्यथिदं कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा। (-विनयपिटके महावग्गपाळी, महाक्खन्धको) (शब्दान्तरेण-प्रतीत्यसमुत्पादः।)
2. इदं खो पन भिक्खवे! दुक्खनिरोधं अरिय सच्चं, यो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो, पटिनिस्सग्गो, मुत्ति, अनालयो। (-विनयपिटके महावग्गपाळी, महाक्खन्धको)
3. ललितविस्तर का 26वाँ अध्याय, एवं मज्झिमनिकाय, मूलपालि, सं. पी. वी. बापट, पृ. 235 से 242 में यह अंश वर्णित है। तथा विनयपिटक के महावग्ग-खन्धक में भी यही अंश पुनरुक्त किया है। द्रष्टव्यः-विनयपिटक का हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1935, पृ. 80-81
4. इदं खो पन, भिक्खवे! दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरिय सच्चं, अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो सेय्यथिदं सम्मा दिट्ठि, सम्मा संकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्माजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मा समाधि। (-विनयपिटके महावग्गपाळी, महाक्खन्धको)
5. तत्त्वसंग्रहकारिकायां ज्ञानसारसमुच्चये, 31

गौतमो बुद्धः- संक्षेपेण यदि उच्येत तर्हि- *आत्मदीपो भव।* स्वयमेव आत्मनो दीपको भवितुमर्हसि।

पञ्च वर्गीयो भिक्षुः- *(उत्तिष्ठन् बुद्धस्य वन्दनां कुर्वन्)*

प्रज्वालितः सुतर्केण, स्याद् दीपोऽस्मत्प्रकाशकः।
उपदिशति सद्धर्मं, तं नुमो विश्वतारकम्।। ३-२७।।

गौतमो बुद्धः- ऋषिपत्तनेऽद्य यन्नवीनस्य धर्मस्य चक्रं प्रवर्तितं तत्संरक्ष्यम्। अस्यैव धर्मचक्रस्य प्रवर्तनाय समुद्यताः भवत। ग्रामे ग्रामे, नगरे नगरे च प्रथमं तु **पञ्चशीलानां शिक्षा** नित्यं प्रदेया। तद्यथा-

अहिंसामुत्कृष्टां प्रथयतु मुदा स्वं त्यजतु वा
न दत्तं न ग्राह्यं, भवतु मरणं दैन्यसहितम्।
स कामोऽसंतोष्यो, विरमतु सदैव व्यभिचरात्
न पेया वाच्यं वाऽमधुरमदिरा वाऽनृतवचः[1]।। ३-२८।।

पञ्च वर्गीयो भिक्षुः- *(गौतम-बुद्धस्य वन्दनां करोति)* शास्तुर्देशनाया विस्तरः सदैव कर्तव्यः।

गौतमो बुद्धः- हे भिक्षवः, चत्वारि आर्यसत्यानि, शीलानि चोपदिशन्तु। जानपदेषु मानुषेषु ये सद्धर्मस्य जिज्ञासवः सन्ति, ये चोपसम्पदामभिलषन्ति तान् सर्वान् मम सन्निधावानयत।

*(**नेपथ्ये**-चरथ भिक्खवे! बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, अक्खयाय सुखाय देवमनुस्सानं। मा एके द्वे अगमिन्ख।)*

हे भिक्षवः! एकस्यां दिशि द्वाभ्यां भिक्षुभ्यां नैव गन्तव्यम्। सर्वैः विभिन्नासु दिक्षु गन्तव्यम्। भो अश्वजित! त्वया वाराणसीं गत्वा, प्रथमं तस्मात् स्थानात् सद्धर्मयात्रा समारब्धव्या।

अश्वजितः- भगवन्! गृहीतं भवतां वचनम्।

पञ्च वर्गीयो भिक्षुः- सद्-धर्मस्य ये श्रोतारः सन्ति, तेषामयं प्रथमः "संघः" संघटितः।

---

1. पञ्चशील-यो खो ब्राह्मण, पसन्नचित्तो सिक्खापदानि समादियति-पानातिपाता वेरमणिं, अदिन्नादाना वेरमणिं, कामेसु मिच्छाचारा वेरमणिं, मुसावादा वेरमणिं, सुरा-मेरय-मज्ज-पमादत्थाना वेरमणिं।-दीघनिकाये, महावग्गो। [सुरा, मेरय एवं मद्य-में से "मेरय" एक विशिष्ट मादक द्रव्य है। जिसका विवरण श्री वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने "पाणिनिकालीन भारतवर्ष" (तृतीयावृत्ति, पृ. 128) में दिया है।]

(सर्वैः संमिल्य नैष्क्रामिकी ध्रुवा गीयते)

समारब्धे च बुद्धेन धर्मचक्र-प्रवर्तने।
पञ्चवर्गीयभिक्षूणां संघरत्नं[1] प्रकाशितम्।। ३-२९।।

सदा संघे भवेच्छक्तिर्ज्ञानं देष्टुं सुबोधिजम्।
तृतीयं कान्तिमद्रत्नं शरण्यं सततं तथा।। ३-३०।।

*(गौतमो बुद्धः स्वकीय आसन एवोपविष्टः,
किन्तु पञ्च वर्गीया भिक्षवो भिन्नासु दिक्षु निष्क्रामन्ति।)*

।। इति धर्मचक्र-प्रवर्तनं नाम तृतीयोऽङ्कः।।

---

1. एवं हि द्वादशाकारं धर्मचक्रं प्रवर्तितं। कौण्डिन्येन च आज्ञातं निर्वृत्ता रतनत्रयः (याः)॥ अ. 26, श्लो. 1461 बुद्धो धर्मश्च संघश्च इत्येद् रतनत्रयं (रत्नत्रयं)। परम्परांगतः शब्दो यावद् ब्रह्मपुरालयं॥ श्लो. 1462 वर्तितं विरजं चक्रं लोकनाथेन तायिना। उत्पन्ना रतना (त्नानि) त्रीणि लोके परमदुर्लभा(नि)॥ श्लो. 1463, द्रष्टव्य- ललितविस्तरः, धर्मचक्र-प्रवर्तनपरिवर्त, अध्याय 26

॥ चतुर्थोऽङ्कः॥

॥ सद्-धर्मोपदेशो नाम चतुर्थोऽङ्कः॥

(प्रवेशकः)

विदूषकः- ही ... ही... भोः! महदाश्चर्यम्! बुद्धस्य यानं तदेव यानमिति सर्वैरङ्गीकृतम्। कीदृशं चैतन्महद् यानं स्यात् यत्तदेव सर्वान् समारोहयितुं प्रभवति। यानान्तरं त्यक्त्वापि किं सर्वेऽत्रैव समायान्ति।

(सम्मुखत आगच्छन्तं भिक्षुमश्वजितं दृष्ट्वा) भन्ते, नमो बुद्धाय।

भिक्षुरश्वजितः- आयुष्मन्! नमो बुद्धाय।

विदूषकः- इदानींतने काले पूर्वतः पश्चिमत उत्तरतो दक्षिणतश्च बौद्धभिक्षव एव दृष्टिपथमायान्ति। अतः किञ्चित्प्रष्टुकामोऽस्मि।

भिक्षुरश्वजितः- आयुष्मन्! निर्बाधम् पृच्छतु भवान्। यावज्जानामि तावन्निवेदयिष्यामि।

विदूषकः- एकतो नग्नक्षपणका विचरन्ति। अपरतश्च गोशालको मङ्खलीपुत्रः प्रजासु प्रभावं जनयति। अन्यतश्च त्रयः काश्यपबन्धवोऽहर्निशमग्निहोत्रं प्रवर्तयन्ति। तदा किमपूर्वस्य बुद्धस्य धर्मदेशनां गृहीतुमागच्छन्ति जनाः?

भिक्षुरश्वजितः- अवश्यमेव। कतिपयमासात्पूर्वं वाराणसीं परिव्रजन्नासम्। तत्र सुखप्रासादे निवसन्नपि यशो नाम धनाढ्यपुत्रः स्वगृहे सुखी नासीत्। अतः बुद्धात् सद्धर्मं ज्ञात्वा तत् क्षणमेव प्रव्रजितः। ततस्तस्य चतुर्णां मित्राणामपि प्रव्रज्याऽभवत्। ततः पञ्चाशत् जानपदास्त्रिंशत् भद्रवर्गीयगृहस्था अपि बौद्धसंघे संमिलिताः।

विदूषकः- *(आत्मगतम्)* निश्चयेन बुद्धेन किमप्यपूर्वं ज्ञानं समधिगतं स्यादिति मन्ये। नान्यथा सर्वे जनाः प्रव्रजेयुः। (प्रकाशम्)प्रज्ञावन्तोऽपि जनाः केन कारणेन बुद्धमनुसरन्ति?

भिक्षुरश्वजित्- दुःखसागरे निमग्नोऽयं लोकोऽनादिकालात् सुखमिच्छति। सुखञ्च कुत्रापि नावाप्यते। बुद्धेन दुःखस्य मूलं ज्ञातं, तस्य च निरोधः कथं कर्तुं पार्यत इत्युपदेष्टुं समारब्धम्। अतः सर्वे बुद्धस्य शरणमिच्छन्ति। यदा शारिपुत्रेण बुद्धस्य मुखादिदं वचनं श्रुतं यद्-

ये धम्मा हेतुप्पभवा, तेसां हेतुं तथागतो आह।
तेसाञ्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ति॥[1] ४-१॥

तदा प्रभृति तेन, स्वमित्रेण मौद्गल्यायनेन सह प्रव्रज्या स्वीकृता।

विदूषकः- ताभ्यां शिष्याभ्यां बौद्ध-संघं प्रविश्य किं संप्राप्तम्?

भिक्षुरश्वजितः- अल्पेनैव च कालेन "अर्हत्" पदमेव संप्राप्तम्। इदानीं बौद्ध-संघे त्वन्येऽपि युवान आनन्दादयो नैके भिक्षवः संमिलिताः। यद्यधिका जिज्ञासा स्यात् तर्हि भगवन्तं श्रोतुमागन्तव्यम्। मध्याह्ने तेषां भवति प्रवचनम्। अधुना वर्तते मे गमनवेला। इदानीं साधयामि, नमो बुद्धाय।

(रंगान्निष्क्रामति)

विदूषकः- *(आत्मगतम्)* बौद्ध-संघे भिक्षूणां प्रतिदिनं वृद्धिर्जायत इति श्रुत्वा मम मनसि पौनःपुन्येन देवदत्तस्य स्मरणं जायते।

(नेपथ्ये- आक्षेपिकी ध्रुवा गीयते)

व्याधो जाले ग्रसति हरिणं, मोचनं नो भवेद्वा
पूर्णश्चन्द्रो नभसि सुगतो ग्रासमुक्तो न जातः।

भूयः सिक्त्वा मधुरसलिलं जीवनं वाहयन्त्यो
दिव्या नद्यस्तदपि पतनं रोधनं दुःसहन्ते॥ ४-२॥

(अपटीक्षेपेण माण्डव्यः प्रविशति।)

माण्डव्यः- कुत्रास्ति ज्योतिर्विज्ञानं दूषयन् विदूषकः? *(इतस्ततो दृष्ट्वा)* अत्रैव स्थितः। *(समीपम् उपसृत्य)* कथं त्वं चिन्तामग्नो दृश्यसे।

विदूषकः- सिद्धार्थेन सह बाल्यावस्थायां येन वैरं प्रतिज्ञातं, तस्माद् देवदत्तात् किमप्याशंकते मे मनः। अतोऽस्मि चिन्तामग्नः। किन्तु त्वं कथमुद्विग्न इव धावन् प्रविष्टोऽसि?

माण्डव्यः- मयापि किमप्यकल्पनीयं श्रुतम्। यच्च तवाशंकितेन भयेन सह संगच्छते। तत् त्वां झटिति विनिवेदयितुं समागतः।

विदूषकः- किमस्ति तद्रहस्यम्।

माण्डव्यः- राजगृहं प्रति गच्छन् देवदत्तः संप्राप्तः। स च एवं जल्पनां कुर्वन्नासीत्:- *"गौतमो बुद्धो वृद्धोऽपि जातः, जीर्णोऽपि जातस्तथापि दानेत्यलीकेन*

---

1. विनयपिटके महावग्ग, सारिपुत्त-मोग्गल्लान-पब्बज्जा-कथा, पृ. 27, (विपश्यना ओन-लाईन आवृत्ति)

नाम्ना भोग-सत्कारसामग्रीम् एव पार्श्वे करोति"। पुनरपि निगदितं तेन- *"याचितोऽपि संघः, स मह्यं न दत्तवान्"*[2]।

विदूषकः- देवदत्तस्य वचनानि पुनरप्युद्वेजयति मे मनः। नोचितानि बुद्धस्य कृत एतानि वचनानि।

माण्डव्यः- श्रुत्वा देवदत्तं, मदीयं मनः कथयति यद्-ग्रहादिभिः प्रेरितो देवदत्तः संघं भेत्तुमुद्यतो वर्तते। एवं स्थिते, बुद्धः किं करिष्यतीति मे प्रश्नः। मन्मते तु-

दीपशिखा विलीयेत नष्टेषु तैलबिन्दुषु।
भिक्षूणां संघनाशात्तु शाक्यानां शरणं गृहम्॥ ४-३॥

(एकामङ्गुलिमुच्चैः कृत्वा नृत्यति, प्रकाशम्)

ग्रहनक्षत्रादीनां गतिरनतिक्रमणीया।

विदूषकः- ग्रहनक्षत्राणि मनुष्यलोकं भ्रामयन्तीत्येका विचारणा। अपरतश्च काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सराः[2] संसारचक्रं चालयन्तीति दार्शनिकाः। उभावपि मिथो न संगच्छतः। इदानीं द्रष्टव्यमेवास्ति-बोधिज्ञानयुतेन बुद्धेन प्रतीकारस्य कश्चिन्नूतनो धर्मोपायश्चिन्तितो न वेति।

माण्डव्यः- विमर्शस्य नास्ति कोऽप्यवकाशः। ग्रहनक्षत्राणि यत्कुर्वन्ति तन्नान्येन कर्तुं शक्यते।

विदूषकः- कदाचिन्न्यग्रोधारामं गमिष्यावः, दूरादेव प्रेक्षिष्यावस्तत्र किमुच्यते भगवतेति।

(द्वावपि परिक्रमणं कृत्वा, रंगान्निष्क्रामतः)

(इति प्रवेशकः)

(प्रथमं दृश्यम्)

(न्यग्रोधारामे भिक्षुत्रयेण परिवृतो बुद्ध उपविष्टः प्रविशति।)

शारिपुत्रः- *(स्वस्थान उत्थाय)* भो भगवन्, कया भावनया भावितेन मनसा कथं व्यवहर्तव्यमस्माभिः।

गौतमो बुद्धः- अयि भिक्षवः! प्रथमं तावद् भवद्भिरानापानस्य क्रिया सम्यक्-तया सम्पादनीया। ततो ध्यानावसाने सति-

---

1. "जिण्णो भन्ते, भगवा,वुड्ठो महल्लको .... ममं भिक्खुसंघं निसज्जतु"।।-विनयपिटकस्य चुल्लवग्गे (दुतियभाणवरो, पकासनीयकम्मं) कथैषा प्राप्यते। पृ. 182)
2. एतेषु षट्सु रिपुषूत्तरोत्तरस्य बलीयस्त्वमपि दार्शनिकैरुक्तम्।

(क) उपेक्षा-भावनां भावयत नित्यम्। उपेक्षां भावयतां मनोद्वेगः प्रणश्यति।

(ख) मुदिता-भावनां भावयत नित्यम्। मुदितां भावयताम् अरतिः (असूया) प्रणश्यति।

(ग) मैत्री-भावनां भावयत नित्यम्। मैत्रीं भावयताम् व्यापादो (द्वेषः) प्रणश्यति।

(घ) करुणा-भावनां भावयत नित्यम्। करुणां भावयतां परहिंसनं प्रणश्यति।

(ङ) अशुभ-भावनां भावयत नित्यम्। अशुभं भावयतां रागः प्रणश्यति।

(च) अनित्यसंज्ञा-भावनां भावयत नित्यम्। अनित्यसंज्ञां भावयतामस्मिमानता प्रणश्यति।[1]

आनन्दः- भगवन्! उररीकृता भवतां देशना। प्रयतिष्याम एतासां भावनानां विकासाय।

शारिपुत्रः- *(आत्मगतम्)* एताभिर्भावनाभिरस्माकं मनस्सु ब्रह्मविहार एवानुभूयेतेति मे मतिः।

गौतमो बुद्धः- यद्येताभिर्भावनाभिश्चेतो-विकास न क्रियेत, तर्हि काम-क्रोधादिभिर्जरादिभ्योऽन्यान्यपि दुःखबीजान्यङ्कुरायन्ते, तानि च गच्छता कालेन वटवृक्षायन्ते। अतः सततं स्मर्तव्यम्-

व्यापादो शमनीय एव मनसो, मैत्र्या प्रदेयं शुभम्
न स्याद् व्यग्र उपेक्षया च मनुजो, वैरं न भूयात्कदा।

कल्याणी करुणा तथा च मुदिता सेव्याः सदा यत्नतो
दुःखं वर्धयितुं च वप्तुमथवा वाञ्छन्ति चेन्नो जनाः॥ ४-४॥

शारिपुत्रः- ज्ञातमस्माभिर्यद् असूयया पीडितेन देवदत्तेनाजातशत्रुं प्रेरयित्वा, भगवतो वधं कर्तुं कोऽपि हिंसको व्याधः संप्रेषित आसीत्। यद्यपि गुरुणा योगबलेन तमागच्छन्तमेव ज्ञात्वा स्ववशीकृतो विनिवर्तितश्च। *(आनन्दो मौद्गल्यायनश्च कम्पनम् अनुभवतः .....)*

ततो निराशीभूतो देवदत्तः स्वयमेव गृध्रकूटादेकां महतीं शिलां तत्राधस्ताद् चंक्रमणं कुर्वन्तं भगवन्तं हन्तुं प्रक्षिप्तवान्नपि। किन्तु सा शिला कूटद्वयमध्य एवावरुद्धा।

(पुनरपि शिष्यौ-आनन्दश्च मौद्गल्यायनश्च-चीत्कारं कुरुतः)

मौद्गल्यायनः- अनेन वृत्तान्तेन तु भगवतो धर्मचक्रस्य प्रवर्तनमेव संशय आपतितमिति सीदति मे मनः।

---

1. (सुत्त-पिटके) मज्झिम-निकायस्य भिक्खु-वग्गे "महाराहुलोवाद सुत्तन्त, 2-2-2॥

आनन्दः- सत्यम् ... मूलो नास्ति कुतः शाखा?, तर्ह्यस्माभिर्गुरोः परिरक्षणाय कापि योजना विधेया।

मौद्गल्यायनः- भगवान् यत्र कुत्रापि विहरेत् तत्र तत्र सर्वैर्मिलित्वा महता रवेण सूत्रपाठो विधेय इति।

गौतमो बुद्धः- अलम् उद्वेगेन। कस्याप्युद्योगस्य नास्त्यावश्यकता। तथागतः समयात्पूर्वम् न केनापि हन्तुं शक्यते। अत एतस्य देवदत्तस्योपेक्षैव कर्तव्या।

शारिपुत्रः- भगवन्! देवदत्तोऽस्माकं संघस्याभिवृद्धिं न सहते। तस्य मनसि वर्तमाना याऽरतिः, सा पुनरपि कीदृश्यनर्थकारिणी भविष्यतीति कल्पयितुं न प्रभवामः।

मौद्गल्यायनः- *(जनान्तिके)* सौम्य शारिपुत्र! पश्य, भगवतो मनसि तु न वर्तते कुत्रापि देवदत्तः। स तु "सद्धर्मं वितनोतु नित्यम्" इत्येव जपते। येन-

लक्ष्यसिद्धिमवाप्नोति प्राज्ञो भिक्षुरुपेक्षया।
न शुना न दुन्दुभिना[1] गजराजो विचाल्यते।। ४-५।।

गौतमो बुद्धः- अस्मात्प्रसंगात् किमवबुध्यते?-कस्यचिद् अभ्युदयं प्रति यदि भवतां मनस्सु साऽरतिः प्रजायेत, तर्हि दुष्कृत्याय तूद्विजेरन् मनांसि। यथा देवदत्त उद्विग्नो प्रविचरति।

आनन्दः- भगवन्! अरतेः परिणामं सम्मुखे दृश्यते। किन्तु मुदितायाः महिमानमपि श्रोतुं वयम् अभिलषामः। यया भावनया, सर्वे जना दुष्कर्मणो विरमणम् प्राप्नुयुः।

गौतमो बुद्धः- शृणु त्वम्। पूर्णिमासु कलावन्तं शशाङ्कं दृष्ट्वा, समुद्रः कदापि विषादं नाधिगच्छति, स तु सर्वदा प्रमुदितः प्रफुल्लित एव भवति। तद्वद् अस्माभिरपि संघे समाजे च व्यवहर्तव्यम्।

शारिपुत्रः- भगवन्, क्षम्यतां व्यवधानकारि वचनम्। किन्तु तदकथने महती हानिः स्यादिति मन्ये।

गौतमो बुद्धः- अयि अनागस! मदीयं धर्मसेनापतिं त्वहं सदैव श्रोतुं तत्परोऽस्मि।

शारिपुत्रः- देवदत्तेन न केवलं भगवतो वधं कर्तुं दुष्कर्माचरितम्। तेन त्वस्माकं संघे कुटनीत्या भेदः कृतः। स्वेन सह कांश्चन भिक्षून् नीत्वा संघाधिपतिं भवितुमितो ग्रामान्तरं पलायितोऽपि।

---

1. न निन्दया, न च स्तुत्येत्यर्थः।

गौतमो बुद्धः- अहो प्रमादः। सर्वे च ते परमं दयनीयाः। अस्माकं सद्धर्मे श्रद्-दधानस्ते कथमेवमेव विपन्नाः स्युः?, दुःखान्मुक्तिमभिलषन्तस्ते कथं पुनरपि भोगान् समाश्रित्य भूयोऽपि दुःखसागरे निमज्जनं करिष्यन्ति?।

शारिपुत्रः- न हि, न हि। *"सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं शून्य"* मिति दर्शनं विस्मर्तुं नार्हति कोऽपि जनः। किमादिश्यते दयालुना गुरुणा?

गौतमो बुद्धः- त्वमेवालं विपथगामिनां प्रत्यावर्तनाय। मौद्गल्यायनेन सह तत्र गत्वा स्वकीयं कौशलं प्रकटय।

शारिपुत्रः- भगवन्! त्रिरत्नानां परिरक्षणमस्माकं प्रथमं कर्तव्यम्। यतो हि-यथा कान्तारेण सिंहः परिपोष्यते, तथैव संघेनापि सद्धर्मः परिपोष्यते। किन्तु वृक्षसंघानामभावे कुतः कान्तारः, कुतः सद्धर्मः?। अद्यैव प्रस्थानं करिष्यावः।

गौतमो बुद्धः- भवतु समेषां सर्वथा मङ्गलम्।। *(सर्वे परिक्रमणं कुर्वन्ति)*

(द्वितीयं दृश्यम्)

(वृक्षाणां मध्ये बौद्ध-भिक्षुकाणां विहार-स्थानम्, यत्र न्यग्रोधवृक्षस्याधस्ताद् गौतमो बुद्धः पूर्णेनानन्देन च सहोपविष्टः।)

पूर्णः शिष्यः- भगवन्, चत्वारि आर्य-सत्यानि मयाधिगतानीति मन्ये। शीलानामपि सुदृढं परिपालनं कर्तुं प्रयते। यदि भवत अनुज्ञा स्यात्, तर्हि धर्मोपदेशाय सुवर्ण-पुरं प्रति गन्तुं समीहे।[1]

गौतमो बुद्धः- भद्र पूर्ण, सुवर्ण-पुरे ये जनाः निवसन्ति तेऽतीव क्रौर्यम् आचरन्ति।[2] अतोऽनुमोदनां दातुं न प्रभवामि। ते जनाः निरर्थकमाक्षिपन्ति, कलहं जनयन्ति, अपशब्दांश्च वदन्ति। भिक्षूणाञ्च सततं तर्जनां कुर्वन्ति। धर्मोपदेशाय नोचितं तन्नगरम्।

पूर्णः शिष्यः- भगवन्, मयाप्येवमेव श्रुतम्। सुवर्ण-पुरे निष्ठुरा जना वसन्ति। किन्तु तत्रैव सद्धर्मस्यातीवावश्यकतास्तीति दृश्यते। अतस्तत्रैव सद्-धर्मस्य प्रचाराय गन्तुमिच्छामि। मह्यमनुज्ञां दातुमर्हति भवान्।

गौतमो बुद्धः- पूर्ण, पुनरपि कथयामि यत् तत्रस्थाः जनाः त्वामुद्दिश्य अभद्रामेव

---

1. अत्थि सुनापरन्तो नाम जनपदो, तत्थाहं विहरिस्सामी ति।-मज्झिमनिकाये, सळातनवग्गो पुण्णोवाद
2. चण्डा खो, पुण्ण, सुनापरन्तका मनुस्सा, फरुसा खो। मज्झिमनिकाये उपरिपण्णासे सळातनवग्गो।

वाणीं प्रयोक्ष्यन्ते, निन्दां च करिष्यन्ति। तर्हि त्वं कथमेतत् सर्वं सहिष्यसे?

पूर्णःशिष्यः- हे भगवन्, तस्मिन् क्षणे चिन्तयिष्यामि यदेते जनाः साधव एव सन्ति। यतो हि-तैः न कश्चित् प्रहारः मयि कृतः। शारीरिकी हानिः न कृता, अतस्तेऽसाधवो न सन्ति।

गौतमो बुद्धः- यदि ते जनाः हस्तैस्तव शारीरिकं ताडनं करिष्यन्ति, तर्हि किम्?

पूर्णः शिष्यः- हे भगवन्, तस्यां स्थितावपि चिन्तयिष्यामि यदेते जना असाधवो नैव सन्ति, यतो हि-तैस्तु दण्डेन न प्रताडितोऽस्मि[1]।

गौतमो बुद्धः- किन्तु यदि ते दण्डेन प्रहारं करिष्यन्ति, तर्हि किं ते न क्रूराः?।

पूर्णः शिष्यः- हे भगवन्! न हि न हि, कथं ते क्रूरपदवाच्याः भविष्यन्ति? यतो हि तैस्तु नाहं केनापि शस्त्रेण प्रहृतः। अतस्ते निश्चयेन नासाधव इत्येव मे मतिः स्यात्।

गौतमो बुद्धः- किन्तु यदि तैः शस्त्रेणैव प्रहारो विधीयते, भवतश्च वधः क्रियेत, तदा व्यर्थं ते जीवनं स्यात्। ते च निश्चयेन क्रूरतराः तव वधाय प्रभविष्यन्ति।

पूर्णः शिष्यः- हे भगवन्, जाते च मृत्यावेतदेव चिन्तयिष्यामि-सुवर्णपुरस्य जनाः साधव एव। यतो हि-रुग्णो जनो दुःखमुक्त्यै यदि मृत्युमप्यभिलषति, कदाचिच्चात्मानमपि त्यजति, तर्हि एतैस्तु मां हत्वा जरा-व्याधीत्यादीनां दुःखतो मह्यं मुक्तिः प्रदत्तेति। भवतु मैत्री मम मनसि तदानीमपि।

गौतमो बुद्धः- साधु संकल्पितं त्वया। उपेक्षा पृथिव्याः, मैत्री च जलस्य मानवैः कदापि न विस्मर्तव्या। कुतः-

भ्रष्टीकर्तुं क्षिपति मलिनं मानुषो हा धरित्र्यां
मौनं धृत्वा तदपि सहते धन्यधन्या तितिक्षा[2]।
निन्द्यः पापी पिबति सलिलं पुण्यशाली यथैव
पानाच्छोधाद् भुवनसरिता वार्यते नैव कश्चिद्[3]॥ ४-६॥

---

1. (पूर्णः)-सुभद्दका वतिमे सुनापरन्तका मनुस्सा, यं मे न यिमे दण्डेन पहारं देन्ती ति। मज्झिमनिकाये तत्रैव
2. राहुल, पथवियां सुचिम्पि निक्खिपन्ति, असुचिम्पि निक्खिपन्ति,... मुत्तगतम्पि ...न च तेन पथवी अट्टीयति वा हरायति वा जिगुच्छति वा। राहुल, पथवीसमं भावनं भावेहि।-मज्झिमनिकाये राहुलोवादसुत्तं, 2-2-2
3. राहुल, आपस्मि सुचिम्पि धोवन्ति, असुचिम्पि धोवन्ति, न च तेन आपो अट्टीयति वा हरायति, जिगुच्छति वा.. एवमेव राहुल, त्वं आपोसमं भावनं भावेहि।।-मज्झिमनिकाये, महाराहुलोवादसुत्तं, 2-2-2

आनन्दः- *(आत्मगतम्)* नदीनां जलं तु यथा सज्जनानां तथैव दुर्जनानामप्युपकारायैव भवति।

गौतमो बुद्धः- हे सौम्य! इदानीं त्वं मैत्रीभावेन परिपूर्णः। एतादृशैः शान्तैश्च दान्तैश्च परिव्राजकैर्निखिलोऽपि संसारो विनेय इत्येषा मेऽभीप्सा। शीलस्य ये शिक्षा-ग्रहीतारः स्युस्तेषु प्रथमं मैत्री-भावनैव दृढीकर्तव्येति मे मतिः।।

पूर्णः शिष्यः- भगवन्, सद्-धर्मस्य प्रचारायैतादृशीं मैत्री-भावनामुररीकृत्य सुवर्ण-पुरं[1] यास्यामि।

भवद्भिरुक्तञ्च-

अक्रोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं[2]।। ४-७।।

अर्थात्-क्रोधम् अक्रोधेन, असाधुञ्च साधुतया, कार्पण्यञ्च दानेन, असत्यञ्च सत्येन जेतव्यम्। शास्तुः सद्धर्मस्येदमेव लक्षणम्।।

गौतमो बुद्धः- *सर्वसत्त्वमैत्रीविहारः खलु मम निलयम्। महाक्षान्तिः खलु मम चीवरम्[3]।*

पूर्णः- तदेव चीवरं धृत्वा साधयामि। *(पूर्णो निष्क्रामति)*

आनन्दः- भगवन्! राजा विश्वजितो भगवतो वन्दनां कर्तुं समागच्छति।

गौतमो बुद्धः- भवतु। नास्ति काचिद् बाधा। प्रवेशयतु राजानम्। अभिकाङ्क्षे सर्वतो मङ्गलम्।

(भिक्षुरानन्दो निष्क्रान्तः)

(तृतीयं दृश्यम्)

(राजा विश्वजितः शिष्येणानन्देन सह प्रविशति, यत्रोपविष्टः गौतमो बुद्धः)

---

1. *भद्दका वतिमे सुनापरन्तका मनुस्सा सुभद्दका वतिमे.... यं मे नयिके दण्डेन पहारं देन्ति ति। एवमेत्था, भगवा भविस्सति, एवं मेत्था सुगत भविस्सति ति।।*-मज्झिम-निकाये उपरिपण्णास, सळायतनवग्गे कथेयं प्राप्यते।। (द्रष्टव्यः-ओल-लाईन त्रिपिटक, विपश्यना रिसर्चइन्स्टी., पृ. 157-159)
2. धम्मपद, 223, कोधवग्ग
3. सद्धर्मपुण्डरीकम्, धर्मभाणकपरिवर्त, पृ. 237

विश्वजितः- *(आत्मगतम्)* राजनीतिः शिक्षयति राजभिः प्रजाकल्याणार्थं राजधर्मस्य परिपालनं कर्तव्यम् इति। किन्तु विश्वविजयित्वं कथं प्राप्तव्यमिति सा नोपदिशति। कोऽस्य वेत्ता स्यात्? अद्यावधि न संप्राप्त उपदेष्टा।

(वटवृक्षस्याधस्तात्, गौतमबुद्धस्य समीपे गत्वा प्रणामाञ्जलिं निवेदयति।)

विश्वजितः- भगवन्, सम्यक् संबुद्धो भवान्। उपदिश्यतां मह्यं परमो मार्गः येनाहं विश्वविजयी भवेयम्।

गौतमो बुद्धः- राजन्, प्रथमं काम-वासनातो दूरे स्थेयम्। कुत इति चेत्-

भीमा करोति वासं न व्याघ्री संदीपिते वने।
शुभकारिणी प्रज्ञापि न पुरुषेषु कामिषु।। ४-८।।

अतः ब्रह्मचर्यं निरन्तरं परिपालनीयम्। ततो जीवमात्रं प्रति सदैव करुणा प्रदर्शनीया।

विश्वजितः- *(क्षणार्धं विरम्य)* कस्यापि राज्ञः मनसि कथं सदैव करुणाऽनपायिनी स्यात्?। एतत्तु सुतराम् अशक्यमिव प्रतिभाति। दण्डनीतिरेव सर्वार्थसाधिकेत्युच्यते।

गौतमो बुद्धः- राजन्, नेदं युक्तम्। पुराकाले देवराजस्येन्द्रस्यैकवारं दानवैः सह युद्धम् अभूत्, तद् योगज–प्रत्यक्षमिव भवन्तं प्रदर्शयामि। केवला करुणैव सर्वार्थसाधिका भवति। राजन्, पुरतः पश्यतु।

(बुद्धः हस्तस्याङ्गुलिना किञ्चिन्निर्दिशति।)

(रंगस्यापरभागे प्रकाशः प्रसरति। समारभ्यते च तत्रैकः युद्धप्रसंगः)

"दानव-समूहः- (गदा-खड्गादीनि हस्तयोरुद्यम्य) अयि मायाविन् इन्द्र! कियत्कालपर्यन्तं धावितुं शक्नोषि? अद्य न भवसि। मृत्योर्मुखे निपतितोऽसि त्वम्।

(देवसेना पराङ्मुखीभूय विकीर्णा भवति, चीत्कारं च करोति)

मातलिः- देवराज! दानवैरस्माकं ध्वजच्छेदनं कृतम्। देवानां मुकुटा अपि वृक्षशाखाभिरुत्पाट्यन्ते। देवबलम् अस्तगतमिति दृश्यते। शीघ्रातिशीघ्रं रथं प्रत्यावर्त्य पुनः स्वर्गलोकं प्रविशावः।

(रथं प्रत्यावर्तयति)

दानव-समूहः- अयि, अवरुन्धन्तु सर्वे देवराजेन्द्रम्, कच्चित्पलायितो भवेत्।

(इन्द्ररथमनुसरन्ति दानवाः)। (नेपथ्यतः कोलाहलः श्रूयते।)

मातलिः- भो देव इन्द्रराज! अवरुद्धोऽस्माकं स्वर्लोकमार्गः। दानवानाम् उल्कापातैर्नैके वृक्षा भूमौ निपतिता दृश्यन्ते। तथापि यतिष्ये, ता वृक्षशाखा अतिक्रमितुम् रथचक्राणि वेगेन संचालयामि।

देवराज इन्द्रः- न हि, न हि.... स्थीयताम्।

दृश्यन्ते तृणनीडपूर्णतरवो गच्छेद्रथो मे कथं
भक्ष्यान्वेषणबुद्धयः ख-गमना आशान्विताः संततौ।

सायंकालसमागमे हतशिशून्दृष्ट्वा मरिष्यन्ति ते
मृत्युः कोटरपक्षिणां न तु वरं, स्यान्मामकीनो वधः।। ४-९।।

नीयतां मम रथः पुनरपि, यत्रासौ दानवगणः।

मातलिः- यथाज्ञापयति देवः। परंतु दानवा अस्मान् ग्रसिष्यन्ति। अस्माकं वधायैव ते कृतसंकल्पाः संनद्धाश्च। विचार्यतां,... प्राणाः संशये पतेयुः, यदि रथं प्रत्यावर्तयेऽहम्।

देवराज इन्द्रः- समीचीनः परामर्शः। किन्तु पक्षिणां मरणपरम्परां विचिन्त्य सीदति मे मनः। अतो रथचक्रेण नीडान् निपीड्य नाहं जीवितुमिच्छामि। भवतु नाम मम मृत्युस्तेषां दानवानां शस्त्रैः। करुणाहीनो भूत्वा, कथं पक्षिणां शावकान् संहरामि। वरं मरणं, न च जीवितमन्यहिंसया।

मातलिः- भवतु। तर्हि रथं प्रत्यावर्तयामि।

दानव-समूहः- *(ध्वनिं करोति)* अरे, अनेनेन्द्रेण काचिदलौकिकी शक्तिरधिगता स्यादिति दृश्यते। नान्यथा प्रत्यावर्तितस्तस्य रथोऽस्माकं सम्मुखं पुनरपि समागच्छेत्। निश्चयेन स इदानीम् अस्मान् हनिष्यति। अतः पलायध्वं. .. पलायध्वम्... गुहां प्रति।

(दानव-सेना झटिति विमुखीभूय प्रत्यावर्तिता।)

मातलिः- अयि देवराज इन्द्र! महत्कौतुकास्पदमेतत्। अस्माभिस्तु मा भूत्पक्षिशावकानां हिंसेति मनसि निधाय रथः प्रत्यावर्तितः। परहिंसनाद् वरमात्ममरणमिति विचिन्त्यैव पुनरपि संग्रामे समुपस्थिता वयम्। किन्तु कस्मादपि भयादेते दानवा विमुखीभूय परापतन्ति। अहो महदाश्चर्यम्...... आश्चर्यम्।"[1]

(इतः परं रंग-वेदिकातः प्रकाशो विलीयते)

---

1. द्रष्टव्यम्-११. शक्र-जातकम्। (आर्यशूरस्य जातकमालायाम्, सं. सूर्यप्रकाश व्यास, पृ. 159-164)

गौतमो बुद्धः- राजन्, करुणाभरितस्य चित्तस्यायं चमत्कारः। प्रतिवेशिनः राज्येष्वाक्रमणात् पूर्वम्, इयमेव शक्र-जातकस्य कथा स्मरणीया। न च विस्मर्तव्यान्येतानि वचनानि कदापि-

मैत्री रविनीरजयोः, सिन्धोर्मुदिता शशांकसुविकसनाद्।
सरितां सुखदा करुणा, नोद्विग्नं चेत उपेक्षया।। ४-१०।।

विश्वजितः- भन्ते! यथाधोमुखे पतितं वस्तुजातम् ऊर्ध्वमुखीकरोति, यथा पिहितम् अपावृणोति, यश्चान्धकारे निमग्नाय तैलप्रज्वालितं दीपकं स्थापयति[2] तद्वत् बुद्धेन करुणाया अनुत्तरः प्रभावः प्रकटीकृतः। अलौकिकमिदं ज्ञानम्। अधुनावगम्यते करुणावान् धर्म राजैव विश्वविजेता भवतीति।

(आनन्देन सह विश्वजितो बुद्धस्य वन्दनां करोति)

(***नेपथ्ये***-नैष्क्रामिकी ध्रुवा)

उपेक्षा मुदिता मैत्री करुणा चैव भूतले।
प्रसारिताः प्रबुद्धेन, तं नुमो विश्वनायकम्।। ४-११।।

(रंगात् प्रकाशो विलीयते।)

।। सद्-धर्मोपदेशः इति नाम चतुर्थोऽङ्कः।।

---

1. विनयपिटके महावग्गे बिम्बिसार-प्रव्रज्या-प्रसंगे एता उपमाः पठ्यन्तेः-*अभिक्कन्तं भन्ते अभिक्कन्तं, भन्ते सेय्यथापि भन्ते निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य, पटिच्छन्नं वा विवरेय्य, मूळ्ह(ढ)स्स वा मग्गं आचिक्खेय्य, अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य चक्खुमन्तो रूपानि दक्खन्ति ति। एवं भगवता अनेकपर्यायेन धम्मो पकासितो।। (द्रष्टव्यः-विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद-राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, वाराणसी,* 1935, पृ. 97)

।। पञ्चमोऽङ्कः।।

।। भिक्षुणीनां संघे प्रवेशो नाम पञ्चमोऽङ्कः।।

(प्रवेशकः)

(एकतो विदूषकोऽपरतश्च माण्डव्यः प्रविशतः)

विदूषकः- *(माण्डव्यम् उद्दिश्य)* तव शिखा श्वेतकेशिनी संभूता, तथापि त्वं कियत्पर्यन्तमितस्ततः परिभ्रमिष्यसि? पृच्छामि त्वाम्--"किं बुद्धस्य छाया त्वयि न पतिता"?।

माण्डव्यः- नाहं कस्यापि छायामाश्रयामि। अहं तु ग्रह-नक्षत्राणां छायाः कुत्र पतन्तीति देष्टा ज्योतिर्विद्। अतः *(एकाङ्गुलिम् उच्चैः कृत्वा परिक्रमणं करोति)* पश्यतु ग्रहनक्षत्राणां गतिः। राजकुमारस्य गृहागमनस्य निश्चितो योगः समायाति।

विदूषकः- इदानीमपि ज्योतिर्ज्ञानस्यैव जल्पना श्राव्यते? किं त्वं शारिपुत्रस्य सर्वत्र प्रसृतां प्रशंसां न शृणोषि?, बुद्धस्यापि सर्वत्र श्रूयमाणो जयघोषोऽपि किं तव कर्णपथं न समायाति?

माण्डव्यः- किं निमित्तमेतयोर्महिम-मण्डनं जायते?।

विदूषकः- शृणोतु, दिवान्ध-कौशिकराज! तेन खल्वाटेन देवदत्तेन-

शारिपुत्राय दत्तश्चोपदेशकर्मणः श्रमः।
भग्नपृष्ठश्च सुप्तोऽयम्[1], आलस्याच्च पराजितः।। ५-१।।

एवं रीत्या शारिपुत्रेण सर्वे संमोहिताः भिक्षवः प्रत्यानीताः। तेन धर्मसेनापति-नेत्थं संरक्षितो बौद्धसंघः।

---

1. आवुसो सारिपुत्त, भिक्खूनं धम्मी कथा, पिट्ठि मे आगिलायति, तमहं आयमिस्सामी ति।... अथ खो देवदत्तो चतुग्गुणं संघाटिं पञ्ञापेत्वा दक्खिणेन पस्सेन सेय्यं कप्पेसि। तस्स किलमन्तस्स मुट्ठस्सतिस्स असम्पजानस्स मुहुत्तकेनेव निद्दा ओक्कमि।। (द्रष्टव्यम्-विनयपिटके चुल्लवग्गस्य ततियभाणवरो, संघभेदकथा, पृ.222, विपश्यना रिसर्च इन्स्टीट्यूट प्रकाशन., तिपिटक, ओन-लाईन)

माण्डव्यः- अथ गौतमबुद्धस्य जयघोषः केन कारणेन प्रवर्तते?

विदूषकः- पिण्डाचाराय परिचरन्तं बुद्धं हन्तुं देवदत्तेनोन्मत्तो नालागिरिर्नाम हस्ती संप्रेषितः। किन्तु मैत्रीजलेन सोऽप्यभिषिक्तो गौतमेन बुद्धेन। अतः स चण्डोऽपि गजराजो विनम्रीभूय हस्तिशालां प्रत्यगच्छत्। न दृश्यते कुत्रापि बुद्धस्य पराभवः। एवं स्थिते, कस्तव जल्पनां श्रोष्यति?

माण्डव्यः- नालागिरेः प्रसंगमधिकृत्यजनाः किं भणन्ति?

विदूषकः- स गौतमो बुद्धः नगरजनैरेवं स्तूयते-

दण्डेनेके दमयन्ति, अङ्कुसेहि कसाहि च।
अदण्डेन असत्थेन, नागो दन्तो महेसिना॥[1] ५-२॥

माण्डव्यः- अकिञ्चित्करमेतत् सर्वम्। मन्मते तु गौतमो निश्चितं प्रत्यागमिष्यत्येव। ग्रहाणां क्रीडा दुरत्यया, याऽसंभावितं संभावयति, संभावितं चासंभावयति।

विदूषकः- माण्डव्य, त्वं यथा ग्रहनक्षत्रादीनां गतौ दृढं विश्वस्तोऽसि, ततोऽप्यधिकं प्रबुद्धे बुद्धे विश्वस्तोऽस्मि। परिव्राजकाणामपि काप्याचारसंहिता स्यान्न वा। कथं सोऽनागारिको पुनरागारिको भविष्यति?

माण्डव्यः- मन्मते तु-

वक्रगतेर्ग्रहादीनां प्रभावो दुरतिक्रमः।
ग्रसिष्यति प्रबुद्धं तं स राहुरिव[2] **राहुलः॥** ५-३॥

विदूषकः- नो चेत् तर्हि किं करिष्यसि त्वम्?

माण्डव्यः-

शरणं तु गमिष्यामि बुद्धस्यैव सुनिश्चितम्।
पराजिते ग्रहे मन्ये स एव ग्राहकोत्तमः॥ ५-४॥

विदूषकः- ही ...ही ... यथा पञ्चवर्गीयेषु भिक्षुषु कौण्डिन्योऽन्यतमो जातस्तद्वद् बौद्धसंघे तवापि प्रवेशो भविष्यति! किन्तु तदाहं किं करिष्यामि?, मन्ये ममापि ...तत्रैव शरणं भविष्यति। ही...ही..!

---

1. पालि-गाथा का अनुवादः-*दण्डेनैके दमयन्ति, अङ्कुशेन कशया च। अदण्डेन, अशस्त्रेण, नागो दान्तो महर्षिणा॥*-विनयपिटक, चुल्लवग्ग, नाळागिरिपेसनं, पृ. 218 (विपश्यना रिसर्च इन्स्टी.-ओन लाईन)

2. तस्मिं समये राहुलमाता पुत्तं विजाता ति। बोधसत्तो तं सुत्वा, "*राहु जातो, बन्धनं जातं*" ति आह। राजा "किं मे पुत्तो अवचा" ति पुच्छित्वा, तं वचनं सुत्वा "इतो पट्ठाय मे नत्तु राहुलकुमारो येव नाम होतू"ति आह। द्रष्टव्यम्-अविदुरनिदाने राहुलस्स उप्पत्ति, जातकट्ठकथा, पृ.156 (सम्पूर्णानन्द सं.वि.वि. प्रकाशन, 1992)

(निष्क्रान्तौ)

(इति प्रवेशकः)

(प्रथमं दृश्यम्)

(नेपथ्ये- प्रावेशिकी ध्रुवा गीयते)

आयातो यः कपिलनगरं दुःखबीजं मथित्वा
व्याप्ताज्ञानं निखिलभुवनाद् यो निराकर्तुकामः।
दर्शं दर्शं सुकृतसकलं सम्मुखे भासमानं
का सा काऽन्या विचलितमनास्त्यक्तुकामा समग्रम्॥ ५-५॥

(ततः प्रविशति राजप्रासादे महाप्रजापत्या सहोपविष्टः शुद्धोदनः)

द्वारपालः- *(प्रविश्य)* महाराज! गौतमो बुद्धोऽद्य भिक्षाचाराय कपिलवस्तुनगरं प्रविशतीति सूचना प्राप्ता।

शुद्धोदनः- *(सहर्षम्)* अकल्पनीयोऽयं वृत्तान्तः। यथोचितं कर्म विधीयताम्।

द्वारपालः- यथाज्ञापयति महाराजः। *(निष्क्रान्तः)*

महाप्रजापतिः- *(सोद्वेगम्)* किं भिक्षाचारायेत्युच्यते? याभ्यां नेत्राभ्यां दृष्टो युवराजः, ताभ्यामेव किं भिक्षुको द्रष्टव्यः? कियता स्नेहेन मया स संवर्धितः। लालितश्च नन्दादप्यधिकः। हा धिक्..हा धिक्..। *(रोदिति सा)*

शुद्धोदनः- देवि! धैर्यम् अवलम्बस्व।

महाप्रजापतिः- महाराज, व्रजतु... कुमारस्य संनिधौ। आज्ञापयतु च तम्। काषायं परित्यज्य वसेन्नित्यं गृहमन्दिरे। राज्यधुरां निर्वोढुं स समुद्यतो यथा स्यात्तथा कर्तव्यम्।

शुद्धोदनः- राज्ञि! कथमेवं कर्तुं पार्यते?, गृहत्यागात्पूर्वं तेन परवशीकृत आसम्, असहायश्चासम्। न चाहं तस्य मरणं वा, जरां वा, रोगं वावरोद्धुं शक्नुयाम्। अतस्तेन वयं सर्वे परित्यक्ताः।

महाप्रजापतिः- तथापि, महाभाग्याद् द्वितीयोऽयम् अवसरः प्राप्तः तं निरोद्धुम्। आशा बलवती, राजन्!

शुद्धोदनः- किञ्चिद्विचार्यताम्। इतः परं नायमस्माकं पुत्रः। स तु सिद्धार्थाद् गौतमबुद्धरूपेण परिणतः।

महाप्रजापतिः- न हि, न हि, महाराज! मैवम्। कथं मन्येऽहं यदयं राजकुमारोऽपि सन् परिव्राड् रूपेण समायातः। हा धिक्..... तत्रभवती यशोधरापि तस्याः कक्षे सिद्धार्थस्य चिरकालात् प्रतीक्षां करोति।

शुद्धोदनः- राज्ञि! सर्वं जानामि..। विरहिणी यशोधरा हिमाच्छादिता कमलिनीव सततं म्लानायते। *(ससंभ्रमम्)* देवि! पश्य, इमां तां पुत्रेण सह समागच्छन्तीं यशोधराम्।..... अहो कष्टम्।

(काषायवस्त्रधारिणी कृशाङ्गिनी यशोधरा पुत्रेण सह प्रविशति)

यशोधरा- *(सोद्वेगं)* महाराज! पुत्रेण गवाक्षतः कश्चित् परिव्राजको दृष्ट इति विज्ञापितास्मि। ततो मया निरीक्षितं सोऽस्ति राहुलस्य पिता। हा धिक्, भिक्षुसमूहेन सह वीथ्यासु पर्यटति। *(रोदिति)*

राहुलः- अम्ब..... अम्ब....., कथं त्वं रोदिषि?

यशोधरा- यद्यपि जानेऽहं लोकहिताय तेन परित्यक्तं सर्वमिति, तथापि नैतद् द्रष्टुं पारयामि। मम सिद्धार्थो गृहाद् गृहं गच्छन् किमित्थं भिक्षां याचते? न पार्यते द्रष्टुं तस्य हस्ते भिक्षापात्रम्। *(दिङ्मूढा सा क्षणार्धं तिष्ठति, ततो मोहिता पतति च भूमौ)*

राहुलः- अम्ब ... अम्ब ... किं भूतम्?...त्वयि किमिदम् आपतितम्। *(यशोधराम् उत्थापयितुं यतते)*

महाप्रजापतिः- *(वेगेन यशोधरां हस्तेन धारयितुं यतते)* पुत्रि! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।

यशोधरा- महाराज! झटिति तस्मै निवेदयतु-नेदमुचितं स्वकीये राज्ये।

शुद्धोदनः- *(आत्मगतम्)* अस्यै कथमुपदिशेयम्- यन्नायं तव सिद्धार्थः। अयन्तु सम्यक् संबुद्धः। *(यशोधराम् उद्दिश्य-प्रकाशम्)* अवश्यम्। स्वयमेव गत्वा तस्मै कुमाराय शाक्यगृहस्य मर्यादां विज्ञापयामि।

शुद्धोदनः- अयि द्वारपाल!

द्वारपालः- *(प्रविश्य)* जयतु महाराज। आज्ञापयतु।

शुद्धोदनः- आज्ञापयत्वमात्यम् उदायिनं माम् अनुगन्तुम्।

द्वारपालः- यथाज्ञापयति महाराजः। *(निष्क्रान्तः)*

(रंगे च शुद्धोदनः परिक्रमणं करोति। तदा नेपथ्ये गीयते-

योऽयं मैत्रीं प्रतिज्ञाय, प्राणिनां करुणाकरः।
विराजते सदा भूमौ प्रदाय धर्मदेशनाम्॥ ५-६॥

जीवानां दुःखवेत्तारं, तं भजन्तु भवान्तकम्।
प्रव्रज्यायै त्रिरत्नेषु[1] मतिर्भवेत् सुनिश्चिता॥ ५-७॥

(श्लोकगानान्तरम् अमात्य उदायी प्रविश्य, राजानम् अनुयाति।)

(ततः गृहीतभिक्षापात्राः बौद्धभिक्षवः दृश्यन्ते-शिष्यत्रयेण सह बुद्धः प्रविशन्ति रंगम्)

शुद्धोदनः- *(बुद्धस्य समीपं गत्वा)* हे शाक्य-कुलभूषण! स्वकीये साम्राज्य एव भवद्भिर्भिक्षाटनं क्रियते, तन्नोचितम्। भवांस्तु शाक्यवंशीयः क्षत्रियो युवराज एवास्ति।

गौतमो बुद्धः- महाराज! भिक्षवो न सन्ति शाक्याः, न च क्षत्रियाः। बोधिसत्त्वीया बुद्धवंशीया वयम्। अतो भिक्षान्नेनैव शरीरयात्रां निर्वहामः।

शारिपुत्रः- राजन्! भिक्षूणां हस्ते वरं भिक्षापात्रं, न च कार्षापणं न च खड्गादिकम्।

शुद्धोदनः- भवतु। तर्हि भिक्षार्थमेव भवन्तं सशिष्यं मम गृहे निमन्त्रयामि। राजप्रासादे भिक्षायाः प्रबन्धं विधास्यामि। पुनातु मम निलयम्, तदपि मङ्गलकरं भविष्यति।

उदायी- *(आत्मगतम्)* खड्गपाणेरपि भिक्षापाणिस्तु शोभतेतराम्। एतेनापि चक्रवर्तित्वं साध्यत इत्यपूर्वं जीवनम्।

(बुद्धः शिष्यत्रयेन शुद्धोदनेन च सह प्रासादं प्रविशति)

शुद्धोदनः- अमात्य उदायिन्! पश्चादागमिष्यमाणेभ्यः सर्वेभ्यो भिक्षुभ्यः सम्यग् भिक्षान्नं प्रदाय, चीवर वस्त्राणि च सप्रश्रयमुपहारीक्रियन्ताम्। अहमपि बुद्धेन सह यशोधरायाः कक्षं प्रति गच्छामि।

उदायी- यथाज्ञापयति महाराजः। *(निष्क्रान्तः)*

(बुद्धश्च शुद्धोदनश्च परिक्रमणं कृत्वा कक्षे प्रविशतः।
त्रयः शिष्या अपि बुद्धमनुगच्छन्ति।)

(रंगस्य द्वितीये भागे महाप्रजापति-गौतम्या पुत्रेण च सहासीना यशोधरा वर्तते)

यशोधरा- *(आत्मगतम्)* अवशिष्टे जीवने स एकदा मम सम्मुखं स्वयमेवागच्छेत् सिद्धार्थः ....

शुद्धोदनः- सिद्धार्थ!..., *(ससम्भ्रमम्)*- क्षम्यतां प्रभो। भगवन् बुद्ध! स्वागतम्, अत्र वर्तते सा पुण्यश्लोका यशोधरा।

यशोधरा- *(झटित्युत्थाय बुद्धस्य चरणयोः पतित्वा, पुनः पुनः क्रन्दति। मुखमुन्नतं*

---

1. कानि त्रीणि रत्नानि। तद्यथा-बुद्धं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामीति।

कृत्वा बुद्धस्य वदनारविन्दं सुष्ठु पश्यति।) देव!,... कुत्र गतवान्?। अहमपि सहैव गन्तुं समर्थाऽऽसम्, अधुनापि ... समुत्सुका...।

(बुद्धः निश्चलं तिष्ठति, प्रशान्तिं प्रकटयति। आनन्दः क्रमशो यशोधरां बुद्धञ्चावलोकयन् व्याकुलो भवति। शारिपुत्र-मौद्गल्यायनौ नेत्रे निमील्य तिष्ठतः।)

शुद्धोदनः- जाते, शान्ता भव, धैर्यम् अवलम्बस्व। देवाय देहि किञ्चिदासनम्। *(यशोधरा बुद्धस्य कृत आसनमास्तृणोति। बुद्ध उपविशति, शिष्यत्रयी बुद्धस्य परितो तिष्ठति। तस्याभिमुखीभूय साऽप्युपविशति, नयनयोरश्रूणि प्रवाहयति।)*

महाप्रजापतिः- जात! छन्नकमुखाच्छ्रुतं यत्-त्वया काषायवस्त्रेण शरीरमाच्छादितं, ततः प्रभृति तयापि तदेव स्वीकृतम्। "परिव्राजको भूमिशयनं कुर्यादि"ति वचनं मनसि निधाय, तयापि शयनकक्षात् पर्यङ्को बहि-र्निष्कासितः। त्यक्तापि सा त्वां न परित्यक्तवती।

शुद्धोदनः- एकदा क्रूरेण देवदत्तेन तस्यै विवाहप्रस्तावोऽपि संप्रेषितः। किन्तु झटित्येव महताक्रोशेन तया सः तिरस्कृतः। हे भन्ते! पतिमात्रैकध्यानधरा सततं प्रतीक्षते भवन्तम्।

गौतमो बुद्धः- राजन्! नेदं आश्चर्यकरम्। यतो हि पूर्वस्मिन् जन्मनि, बोधिसत्त्वावतारे यदाहं किन्नर-योनौ जन्म लेभे, तदेयं धर्मशीला मम "चन्द्रा नाम्नी किन्नरी"बभूव। सातीत-कथा[1] यदि भवद्भिः श्रूयेत, तर्हि ज्ञास्यति भवान् आवयोः संगतिम्-

॥ अथ गर्भाङ्कः ॥

(रंगस्य द्वितीयायां वेदिकायां हिमालयस्य गिरिमाला विराजते, पुष्पाच्छादितं स्थानम्। लतावलयैः सज्जीकृतायां दोलायामुपविष्टा चन्द्रा किन्नरी, पश्चात् भागे किन्नरो दोलां चालयति।)

किन्नरः- चन्द्रे, हिमालयस्योपत्यकायां रम्यो विहारो मह्यं बहु रोचते। मन्ये यदि कुत्रापि स्यात् ब्रह्म-विहारस्तर्हि हिमाचल एवास्ति सः।

(बाणासनहस्तो राजा शनैः प्रविशति, वृक्षस्य पश्चात् भाग आत्मानं संगोपयति।)

---

1. *अनच्छरियं, महाराज, यं इदानि तया रक्खियमाना..... पव्वतपादे विचरमाना अपरिपक्के ञाणे अत्तानं रक्खी ति वत्वा, चन्दकिन्नरजातकं कथेत्वा, उट्ठायासना पक्कामि।* बुद्धघोषाचार्यस्य जातकट्ठकथा,पृ. 239., (द्रष्टव्यः-परिशिष्ट-2)

किन्नरी- स्वामिन्, सत्यमेवोच्यते। एते पर्वताः तत्संगताः जलधाराः, एते वृक्षाः, तत्संगताः लताश्च किमप्यपूर्वं सायुज्यमावहति! अत्राचेतना अपि सचेतना इव स्थास्यन्ति नित्यम्।

किन्नरः- सत्यम् अत्रैव ब्रह्मविहारो वर्तते।

दृष्टौ हिमाचलतले सलिले नदीनां
तौ संगतौ धवलशैत्यगुणौ समानौ।
शुक्तिप्रभे तु सहिते वसतो न भिन्ने
आवां स्थितौ प्रियतमावविभक्तभूतौ।। ५-८।।

(तस्मिन्नेव क्षणे, अज्ञात नामा कश्चिद्राजा शरसन्धानं नाटयति। चन्द्रकिन्नरः शर-विद्धो भूत्वाऽधस्तात् पतति।)

किन्नरः- *(चीत्कारेण सहितम्)* चन्द्रे..... चन्द्रे.... पातितोऽहं केनापि शरेण.... प्राणाश्च मे .....।

किन्नरी- (दोलां त्यक्त्वा, धावन्ती सा किन्नरस्य मस्तकं स्वकीयेऽङ्के स्थापयति। किन्नरो निश्चेष्टो भवति) स्वामिन्, केनेदं बाणसन्धानं कृतम्? केन पक्षिणामिव किन्नराणां मुक्तविहारो बाधितः? (पुनरपि रोदनं करोति)

(नेपथ्यतः व्याधरूपो राजा वदति)

राजा कश्चिद्- सर्वानन्दमयिनी यक्षभूमिरेषा तवायत्ता... तवायत्तैवेदानीं संभूता।

राजा कश्चिद्- *(वृक्षस्य पश्चाद् भागाद् बहिरागत्य)* प्रिये चन्द्रे! मा रुदिहि, मा रुदिहि। रजन्या इव केशावलीमावहन्ति पद्मिनि! चञ्चलनेत्रयोरश्रूणि न शोभन्ते, मा शुचः। त्वमिदानीं मम भार्या भविष्यसि, राजप्रासादे च तव महिमा प्रसरिष्यति राज्ञित्वेन। त्वं भवितासि मे महादेवी।[1]

किन्नरी- अयि निरनुक्रोश! मम प्रियतमस्य प्राणाः किं त्वयापहृताः?, नराधम! त्वया कामनेत्राभ्यां मयि दृष्टिपातः कृतः? कथं त्वं मानुषीं तनुमाश्रयसि? श्रूयताम्-

(नेपथ्ये-गाथा गीयते)

अपि नूनाहं मरिस्सं न च पनाहं राजपुत्त तव हेस्सं।
यो किंपुरिसं अवधि अदूसकं मय्यहं कामाहि।।[2] ५-९।।

---

1. मा त्वं चन्दे रोदि, मा सोचि वनतिमिरमत्तक्खि। मम त्वं हेहिसि भरिया, राजकुले पूजिता नारीभि।। 27, खुद्दकनिकाये "जातक"-ग्रन्थे पकिण्णनिपाते 485. चन्दकिन्नरीजातकं (गाथा 27 एवं 28)
2. चन्द-किन्नर जातक कथा, क्र. 285, जातक (4 खण्ड), सं.-अनु. आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग, सं.-1995.

हे राजपुत्र, कामप्रेरितेन त्वया मामधिगन्तुम्, अस्यानागसः किन्नरस्य प्राणा अपहृताः। भवतु ममापि मृत्युः, किन्तु नाहं तव भार्या भविष्यामि।। हे निष्करुण, धिक् त्वाम्, धिक् च तव कामुकताम्।।"

(त्रयोऽपि निष्क्रान्ताः। रंगात् प्रकाशो विलीयते।)

।। इति गर्भाङ्कः।।

गौतमो बुद्धः- राजन्, पूर्वस्मिन् जन्मनि या चन्द्रा नाम्नी किन्नर्यासीत्, सेयं धर्मशीला राहुलमाता। यश्च राजाऽऽसीत्स एवासौ देवदत्तोऽस्ति। यश्च बोधिसत्त्वः किन्नर आसीत्, स त्वहमेवासम्[1]। यया धर्मशीलया पूर्वस्मिन् जन्मनि स्वस्य शीलस्य परिरक्षा कृता, साऽधुनाऽस्मिन् जन्मनि पूर्णप्रज्ञान्विता भवितेति न संशयः।

शुद्धोदनः- हे बुद्ध! एतयातीत-कथया त्विदमेव सूच्यते यद् भवान् "तथागत" एवास्ति। इयञ्च यशोधरा भवतश्छायामूर्तिरेव।

यशोधरा- महाराजेन सम्यग् भणितम्। अहमस्मि तस्य छायामूर्तिः, सम्पूर्तिश्च। *(उत्तिष्ठति, पुत्रं राहुलं हस्तेन गृहीत्वा, बुद्धस्य सन्निधिं नयति)* जात राहुल, अयमेव देदीप्यमान-मुखाकृतिः श्रमणः प्रबुद्धस्तव जन्मदाता पितास्ति। स इदानीं वितरति सद्धर्मं जगतीतले। अतो हे वत्स, तं प्रणम्य, तस्मात् सद्धर्मो याचनीयः, स एव तवोत्तराधिकारः।

राहुलः- मातः, कोऽयं श्रमणः? मम पिता तु *(शुद्धोदनं प्रति एकाम् अङ्गुलिं निर्दिशन्)* अयमस्ति, तमेवाहं पितृपादम् अभिजानामि। इमञ्च श्रमणं न कदापि दृष्टवान् अस्मि।

यशोधरा- मैवम् वत्स, अयमेव श्रमण तव पितास्ति, स तु तव पितामहोऽस्ति। पश्येमम् ....

(नेपथ्ये गीयन्ते नरसिंहगाथाः। तद्यथा-

चक्क-वरङ्कित-रत्त-सुपादो
लक्खण-मण्डित-आयतपण्ही।

चामर-छत्त-विभूसित-पादो
एसहि तुय्ह पिता नरसीहो।। १।।

---

1. जातकं समोधानेसि-तदा राजा देवदत्तो अहोसि, सक्को अनुरुद्धो, चन्दा राहुलमाता, चन्दकिन्नरो पन अहमेव अहोसि ति।। जातकट्ठकथा, पृ. 171, विपश्यना रिसर्च इन्स्टीट्युट ओन-लाइन

साक्यकुमार-वरो सुखमालो
लक्खण-चित्तित-पुण्ण-सरीरो।
लोकहिताय गतो नरवीरो
एसहि तुय्ह पिता नरसीहो॥ २॥

खत्तिय-सम्भव-अग्गकुलीनो
देव-मनुस्स-नमस्सित-पादो।
सील-समाधि-पतिट्ठित चित्तो
एसहि तुय्ह पिता नरसीहो॥ ३॥[1])

राहुलः- *(मातुः हस्तं मोचयित्वा, बुद्धस्य समीपे गत्वा)* मम माता कथयति यद्भवानेव मम पितास्ति। दीयतां तर्हि मह्यं सद्धर्मस्य दीक्षा। अहं भवताम् उत्तराधिकारी भवितुमभिलषामि।

गौतमो बुद्धः- *(पुत्रस्य हस्ते भिक्षापत्रं स्थापयति)* ममोत्तराधिकारी स एवास्ति- यः कोऽपि "अर्हत्" पदम् अधिगच्छति। यः कोऽपि शीलान्वितो भवति, सो भवति बुद्ध-सन्ततिरिति।

राहुलः- भिक्षापात्रस्यास्य स्पर्शः मह्यमतीव रोचते। यत्र गम्यते भवद्भिस्तत्रैव नयतु माम्।

गौतमो बुद्धः- अहन्तु बोधिसत्त्वानां पथि प्रवृत्तः।

राहुलः- तर्हि मामपि तत्रैव नयतु भवान्। *(द्वावपि परिक्रमणं कुरुतः, पश्चात् शिष्यत्रयी गच्छति)*

यशोधरा- महाप्रजापति-शुद्धोदनाः- *(अनिमेष-नेत्रैर्गच्छन्तं पुत्रं राहुलमेव निरीक्षन्ते)*

यशोधरा- *(हस्तं प्रसार्य)* जात! भवतु ते मङ्गलम्।

शुद्धोदनः- जाते! देवेन गौतमेन समुद्धृतस्ते पुत्रस्य हस्तः।

यशोधरा- *(बहुकालं पुत्रं निरीक्ष्यात्मगतम्)* अनुपदं ते समागच्छामि।

महाप्रजापतिः- आवयोर्भवतु त्रिरत्नशरणम्।

(तत्र प्रकाशो विलीयते)

(रंगस्य द्वितीयायां वेदिकायां, वटवृक्षस्याधस्तात्पुत्रेण सह बुद्धः, त्रयः शिष्याश्च गच्छन्ति।)

---

1. श्रवणीया नरसिंह-गाथाः। Bhante Indrathana, https://youtu.be/kcJ2zn5GKB8

गौतमो बुद्धः- शारिपुत्र! बालकोऽयं संसारे वर्तमानाद् व्यसनाद्[1] बहिर्नेतव्यः।

गह्वरे पतितोऽन्धोऽपि ध्वनिनान्यं निवारयेत्।
जानन्नपि च दुःखं को धीमान् अन्यं प्रवर्तयेत्।। ५-१०।।

य: सर्वज्ञतापर्यवसायी मार्गः स्यात्तस्मिन्नेव स्थाप्यतामयम्। प्रव्रज्या भवतु प्रज्ञाप्रदायिनी।

(नेपथ्ये- नैष्क्रामिकी ध्रुवा गीयते)

यो ह वै दहरो भिक्षुर्युङ्क्ते बुद्धशासने।
स इमं लोकं प्रभासयत्यभ्रान् मुक्त इव चन्द्रमाः।।[2] ५-११।।

शारिपुत्रः- यथाज्ञापयति शास्ता।

आनन्दः- *(राहुलं हस्ते गृहीत्वाग्रे चलति। पश्चादन्ये परिक्रामन्ति। रंगात्प्रकाशो विलीयते।)*

(द्वितीयं दृश्यम्)

(रंगो द्विधा विभक्तः। वटवृक्षस्याधस्तात् भिक्षुकेभ्यो धर्मोपदेशः क्रियते- इत्यभिनीयते।)

अमात्य उदायी- *(अपटीक्षेपेण)* अयि! अस्ति कश्चिदस्मिन्नारामे? यदि कोऽपि स्यात् .... श्रोतुमर्हति।

(शिष्यवृन्दादुत्तिष्ठति शिष्यत्रयम्, प्रथमं सम्मुखम् आगच्छति शारिपुत्रः)

शारिपुत्रः- भो अमात्य! विज्ञाप्यताम्। महाराजेन किं संदिष्टम्?

उदायी- महाराजश्चन्द्रकिन्नरस्यातीत-कथां श्रुत्वा, "तथागतम्" अभिज्ञाय च सर्वथा शान्तिमधिगतवान्। अपरतश्च माता महाप्रजापतिश्च देवी यशोधरा च काश्चन शाक्यस्त्रियश्च प्रव्रजितुमिच्छन्ति।

---

1. वि + अस--ल्युट्। १ विपत्तौ २ भ्रंशे कामजाते कोपजाते च स्त्रीभोगमद्यपानादौ ३ दोषे ४ दैवादिकृते उपद्रवे च ५ पापे ६ निष्फलाद्यमे मेदिनी। मृगया १ क्षो २ दिवास्वप्नः ३ परीवादः ४ स्त्रियो ५ मदः ६। "तौर्य्यत्रिकं ७। ८। ९ वृथाढ्या १० च कामजो दशको गणः। पैशुन्यं १ साहसं २ द्रोह ३ ईर्षा ४ ऽसूया ५ र्थदूषणम् ६। वाग्दण्डजञ्च पारुष्यं ७। ८ क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः। तौर्य्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यानि त्रीणीति दश।
2. जो दहर यानी अल्पवयस्क व्यक्ति भिक्षु बनता है और बुद्धशासन में संलग्न होता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भांति इस लोक को प्रकाशित करता है।।-धम्मपद, भिक्खु वग्गो, 25-23

शारिपुत्रः- *(हस्तेन मौद्गल्यायनम् आहूय)* अरे! मौद्गल्यायन! शृणोषि? तथागतेन अद्यावधि कापि नारी प्रव्रज्यायै नानुमोदिता, प्रत्युत निषिद्धैव। अत एताः कथमस्माकं बौद्धसंघे सम्मेलनीया इति कष्टदायी प्रश्नः समुपस्थितः।

मौद्गल्यायनः- *(नेत्रे निमील्य मुखं वामाद् दक्षिणं चालयति।)*

आनन्दः- *(नेत्रे विस्फार्य साश्चर्यं शृणोति। ..... ततो भ्रूकुटिद्वयं संकोचयति।)*

शारिपुत्रः- *(केवलं मौद्गल्यायनं दृष्ट्वा)* भो अमात्यवर्य! क्षम्यताम्।

उदायी- तर्हि-किमिदमेव ताभ्यां देवीभ्यां निवेदनीयम्?

मौद्गल्यायनः- अवश्यम्। विरमत्वस्मात्प्रसंगादिति।

(उदायी निराशीभूत्वा रंगात् निवर्तते)

आनन्दः- भो शारिपुत्र! कथमेतं वृत्तान्तं गौतमाय स्वल्पमप्यनिवेद्य, प्रतिषिद्ध अमात्यः?

शारिपुत्रः- बहुकालात् पूर्वमेव भगवता स्त्रिणां संघे प्रवेशः प्रतिषिद्ध इति वयं जानीमः।

आनन्दः- न रोचते मह्यं भवदीयोऽयमुपक्रमः। सर्वं च गुरवे निवेदनीयमिति मे मतिः।

मौद्गल्यायनः- यदि भवते रोचते तर्हि गत्वा पुनरपि श्रोतव्यः स निषेधः।

आनन्दः- किं नाहं जाने यद् भगवता निषिद्ध एतासां प्रवेशः? किन्तु विचारणीयं मातृगौरवम्। अहन्तु गुरवे विनिवेदनाय समुत्सुकः। *(आनन्द एकाकी बुद्धस्य समीपे गच्छति।)*

(रंगस्यापरतः शिष्यवृन्द उपविष्टो, बुद्धः कथा-प्रसंगात् विरम्य, आनन्दं पश्यति।)

गौतमो बुद्धः- भो आनन्द! किमपि वक्तुकाम इव लक्ष्यसे।

आनन्दः- भगवन्! काश्चनोपासिकाः शाक्यस्त्रियः प्रव्रज्यां गृहीतुकामाः दूरात् समागताः। किं ताभ्योऽनुज्ञा प्रदेया न वा।

गौतमो बुद्धः- न हि, न हि, आनन्द! मा भूत् ते रुचिकरं[1] .... तासां संघे प्रवेशः।

*(निराशीभूय विनतवदनेन प्रतिगन्तुम् आरभते।
मार्गे क्षणिकं स्थित्वा... पुनः समागच्छति।)*

---

1. *अलं, आनन्द, मा ते रुच्चि मातुगामस्स तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनागरियं पब्बज्जा ति।*--अंगुत्तरनिकायस्य दुतियपण्णासके गोतमीवग्गो।

आनन्दः- *(सम्मुखे स्थित्वा, किञ्चिद् विचार्य)* भगवन्, पुनरपि पृच्छामि। किं तथागतेन प्रवेदितं सद्धर्मम् आश्रित्य, स्त्रियोऽपि "अर्हद्" इति पदमधिगन्तुं समर्थाः स्युः?

गौतमो बुद्धः- अवश्यमेव। सद्धर्म-मार्गे स्थिताः स्त्रियोऽ"प्यर्हदि"ति पदाय सर्वथाऽधिकारिण्यो भविष्यन्ति।

आनन्दः- साधु! यदि स्त्रियस्तथागतस्य धर्ममवलम्ब्य "अर्हद्" पदमधिगन्तुं शक्नुवन्ति, तर्हि भगवन्, किञ्चिद् संस्मरतु मातुः-यदा भवन्तं जनयित्वा जननी दिवंगता, तदानयैव भवान् पुत्रीकृतः। आदिकालात् सैव संरक्षिका पोषिका क्षीरदायिनी च संभूता।[1] तादृशी माता प्रव्रज्यायै केन कारणेन नानुमोद्यते?।..... माता गौतमी किञ्चिद् याचते।

गौतमो बुद्धः- अयि आनन्द! दुष्करं ते वचनं निराकर्तुम्।

माता मह्यां सदयहृदया जीवनालम्बनं वै
बाल्ये काले न विरमति या क्षीरदानात्कदाचित्।
मातुर्वाचा भवति सकला बोधगम्या धरित्री
विस्मर्तव्या कथमपि न सा, नो कृतघ्नो भवेयम्॥ ५-१२॥

आनन्दः- तर्हि, गत्वाऽमात्यमुखेन तस्यै निवेदयामि भवताम् अनुज्ञा।

(प्रत्यावर्तते रंगस्यापरभागे)

शारिपुत्र-मौद्गल्यायनौ- *(आनन्दम् उद्दिश्य)* मन्यावहे यदस्माभिर्भणितं, तदेव श्रुतं स्यात्।

आनन्दः- गौतमेन बुद्धेन मातृगौरवं स्वीकृतम्। स्वीकृता च मातुरुपकार-परम्परा।

(शारिपुत्र-मौद्गल्यायनौ परस्परम् अवलोकयतः। आश्चर्यं प्रकटीकुरुतः।)

उदायी- *(पुनः प्रविश्य)* भो शिष्यप्रवराः! स्त्रिणां कृते संघद्वाराणि पिहितानीति श्रुत्वा रोदिति तत्रभवती महादेवी। किन्तु देवी यशोधरा तु सप्रणामं भगवते गौतमाय परिपृच्छति यत्- "*धरातले तु प्रवहन्ति नद्यः सर्वेषां कृते*" इति वचनं कथं विस्मर्यते?। सम्यक्सम्बुद्धस्य करुणा तु नारीणां कृतेऽपि भवितुम् अर्हतीति।

आनन्दः- *(सावधानेन श्रुत्वा)* गौतमो बुद्धो मात्रे प्रव्रज्याया अनुज्ञां प्रददाति। श्रुतानि

---

1. *बहूपकारा, भन्ते, महापजापति गोतमी। भगवतो मातुच्छा आपादिका पोसिका खीरस्स दायिका। भगवन्तं जनेत्तिया कालंकताय थञ्ञं पायेसि। लभेय्य ...साधु भन्ते पब्बज्जाति।-* विनयपिटके, चुल्लवग्गे, पृ. 233.

च मयोपासिकाया वचनान्यपि। स्थीयतामत्रैव। इदानीमुपासिकाया अपि वचनानि तस्मै गुरवे निवेदयामि। यावदहं न प्रत्यावर्ते तावद् धैर्यं धारयतु।

उदायी- भवतु मे प्रतीक्षा फलदायिनी।

(रंगस्यापरभागे स्थितस्य बुद्धस्य सम्मुखं गच्छत्यानन्दः।)

आनन्दः- (बुद्धमुद्दिश्य) उपासिका राहुलमाता सप्रणामं निवेदयति यद्- *धरातले तु प्रवहन्ति नद्यः सर्वेषां कृते।*

गौतमो बुद्धः- आनन्द! सर्वं स्मरामि। गृहत्यागात्पूर्वं धर्मशीलाया इदमेव वचनं संस्मर्य, तस्याः सम्मतिः स्यादेवेति विचार्य प्रव्रजित आसम्। अतो धर्मशीलां तां प्रव्रजितुं कथं नानुमन्येऽहम्। इतः प्रभृति धर्मानुरागिण्यस्ताः संघं प्रवेष्टुमनुमन्यन्ते।

आनन्दः- प्रणमामि भगवन्तं पुनःपुनः। हे करुणानिधे! इदानीं तासामपि जीवनानि-सफलीभविष्यन्ति।

गौतमो बुद्धः- दुःखमोचनाय तथागत-प्रवेदितमार्गे गन्तुकामेष्वाबालवृद्धेषु नारीणामपि समावेशो भवत्येव। किन्त्वानन्द! एतासां रक्षाशंकितेन चेतसाऽद्यावधि ता नानुमताः प्रव्रज्यायै। इदानीं यदि माता सा च धर्मशीला संमिल्य भिक्षुणीनां सुरक्षाविधानं करिष्यतश्चेत्तर्हि तद् भद्रं स्यात्।

आनन्दः- झटिति गत्वा द्वारे तिष्ठतेऽमात्याय निवेदयामि।

(रंगे परिक्रमणं कृत्वा, अमात्यं प्रति)

भो अमात्यवर्य! गौतमेन धर्मानुरागिण्यः ताः स्त्रियः प्रव्रज्यायै त्वनुज्ञापिताः।

उदायी- हन्त! आश्वस्तोऽस्मि। बुद्धस्य करुणा त्वेतासां कृतेऽपि विलसतीति ज्ञात्वा शीतलीभवति चेतः।

विश्वजनानुकम्पाय बहुजनसुखाय च।
आस्ते बुद्धस्य कारुण्यं दुःखस्य शमनाय वै॥ ५-१३॥

मौद्गल्यायनः- *(आत्मगतम्)* हन्त.... स्मृतम्-"अतिद्वयं सदा त्याज्यं, मार्गः खलु मध्यमः"।

शारिपुत्रः- *(आत्मगतम्)* कच्चित् तथागतेनैवं चिन्तितं स्याद् यथा सुजातायाः पायसेन मध्यमो मार्गः संप्राप्तः, तथैव चैताभिर्नारीभिः संघः पूर्णतां प्राप्स्यतीति।

उदायी- *(शिष्यत्रयं संबोधयति)* तथागतस्य महती कृपा वर्तते। गत्वा चाहं

महादेव्यै यशोधरायै च सर्वमेतन्निवेदयामि। देवीद्वयं च समाहूय झटित्येवागच्छामि।

(निष्क्रान्तः)

मौद्गल्यायनः- अहमपि भगवन्तं बुद्धमेतयोस्त्रिरत्नलाभायाऽधुनाऽह्वयामि। (पुनश्च प्रविशति बुद्धेन सह) (रंगस्योपरि बुद्धः प्रथमं प्रविशति, उपविशति च। *तत्पश्चान् महाप्रजापति-यशोधरे प्रविशतः। तयोश्च पश्चाद् भागे राजा शुद्धोदनस्तिष्ठति। त्रयोऽपि बुद्धस्य सम्मुखे नतमस्तकास्तिष्ठन्ति।)*

यशोधरा- *(समीपमुपसृत्य)* भगवन्! अस्मान् त्रिरत्नलाभेनानुगृह्णातु।

(पादयोः समीपमुपविश्य)

बुद्धं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।

(इति वदन्ती बुद्धस्य पादयोः प्रणमति।)

गौतमो बुद्धः- तथास्तु, कल्याणि! सुदूरं पश्यामि। संघे भिक्षुणीनां प्रवेशादिदं धर्मचक्रं देशान्तरेऽप्यजस्रं प्रचलिष्यतीति।

शुद्धोदनः- *(नम्रीभूय बुद्धं प्रणम्य)*

तृष्णातुरो न कोऽपि स्याद्, बुद्धस्य शरणं गते।
तृषातुरो न कोऽपि स्यात्, सर्वतः सम्प्लुतोदके।। ५-१४।।

महाप्रजापतिः- *(अग्रे सरति)* नमो भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स। उपसम्पदां याचामहे।

गौतमो बुद्धः- *(वरदमुद्रां प्रदर्शयन्)* मातः! किमन्यदपेक्षते?

महाप्रजापतिः- समारब्धस्य धर्मचक्र-प्रवर्तनस्येयमेव पराकाष्ठा।
तथापीदमस्तु.....

(भरत-वाक्यम्)

त्रयाणां दुःखानाम्, अवतरतु भूमिं प्रशमनः
विहातुं तां तृष्णाम्, उपदिशतु नो मारविजयम्।
सुशास्ता शीलानां, प्रवितरतु निर्वाणपदवीम्
प्रबुद्धोऽयं नित्यं, भ्रमतु च रथो धर्मवचसाम्।। ५-१५।।

।। इति भिक्षुणीनां संघे प्रवेशो नाम पञ्चमोऽङ्कः।।

।। इति वसन्तकुमार भट्ट-प्रणीतं धर्मचक्र-प्रवर्तनं नाम नाटकं समाप्तम्।।

परिशिष्ट-1

त्रिपिटकादि में बुद्ध का जीवन एवं दर्शनः– इस नाटक के कथानक की आधार-सामग्री प्राचीनतम सुत्तपिटक, विनयपिटक, जातक-कथाएं, ललितविस्तर, धम्मपद एवं अश्वघोष का "बुद्धचरित" महाकाव्य जैसे आकर ग्रन्थों से ली गई हैं। अतः इन पिटकादि में प्राप्त हो रही सामग्री का आंशिक भी सही, लेकिन साक्षात् परिचय करवाना भी आवश्यक है। एवमेव, बौद्ध दर्शन की विचारधारा, उन सब में प्रचलित कतिपय पारिभाषिक शब्दावली इत्यादि का भी ठीक तरह से परिचय होना आवश्यक है। जो पाठक बौद्ध-साहित्य से प्रायः अनभिज्ञ है, उनको इस नाटक का आस्वाद लेने में साहाय्य करने के आशय से निम्नोक्त जानकारियाँ दी जा रही हैं:--

[1]

सिद्धार्थ से "बुद्ध" बनाने वाली विचारधारा एवं उग्र तपश्चर्या।

विनयपिटक के चुल्लवग्ग के वचनों से ज्ञात होता है कि-सिद्धार्थ की माता उनके जन्म के सातवें दिन ही दिवंगत हो गई थी। मातृसुख से वंचित इस बालक को उनकी मौसी, गौतमी महाप्रजापति ने संवर्धित किया था। तदुपरान्त ज्योतिषियों ने बालक की जन्मपत्रिका देख कर पिता शुद्धोदन को कहा था कि यह बालक चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा अथवा परिव्राजक बनेगा। इसी लिए पिता ने उसको जीवन की विषम परिस्थितियों से बहुत कुछ अज्ञात ही रखा। दूसरी ओर, यह बालक पूर्वजन्मों के संस्कार के कारण अन्तर्मुखी भी था। अतः राजप्रासाद के परिसर में उसको जितना भी संकुचित दत्तस्वातन्त्र्य था, उसमें वह निसर्ग का अवलोकन करता था, जामुन के वृक्ष के नीचे बैठे बैठे सृष्टि को समझने की कोशिश करता था, कदाचित् ध्यानमग्न भी हो जाता था। शैशवावस्था का यह अनुभव "मध्यममार्ग" को खोजने के लिए कालान्तर में उसको उपयोगी भी बना था।।

सुत्तपिटक के अंगुत्तरनिकाय (के तिकपिपात में सुखमाल सुत्त) में बुद्ध ने स्वयं बताया है कि उनके पिता ने उनके रहने के लिए (तीन ऋतुओं के) तीन राजप्रासाद बनवाये थे। बुद्ध स्वयं अपने पूर्व जीवन की सुखमयी जिन्दगी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-"हे भिक्खुओ! मैं बहुत कोमल था। मेरे पिता ने

मेरे लिए एक सरोवर का निर्माण करवाया था और उसमें कमलों के पौधे लगवाये थे। मैं रेशम के वस्त्रों को धारण करता था[1] और घर के बाहर जाने पर परिजन वर्ग के लोग मेरे मस्तक पर श्वेत छत्र धारण करते थे, ताकि मुझे सूर्य की धूप स्पर्श न करे। जाडे के दिन (हेमन्तिको), ग्रीष्म के दिन (गिम्हको) एवं वर्षा ऋतु के लिए (वस्सिको) विभिन्न आवास थे। वहाँ पर स्त्रियों के गायन-वादन में ही डूबा रहता था। दूसरों के घर दास-दासियों को निम्न कक्षा का अन्न दिया जाता था, लेकिन मेरे पिता के घर दासों को भी मांसमिश्रित चावल दिये जाते थे।"

ललितविस्तर (14, स्वप्न-परिवर्त, श्लोक-545 से 559) और अश्वघोषकृत *बुद्धचरित* (सर्ग-3, 26 से 61, एवं 5, 17 से 19) जैसे काव्यग्रन्थ में सिद्धार्थ ने वृद्ध व्यक्ति, व्याधिग्रस्त व्यक्ति एवं मृतशरीर को देखा, तत्पश्चात् उसमें संवेग उत्पन्न हुआ-ऐसा वर्णित किया है। तथा *जातक अट्ठकथाओं* में भी वैसा ही अद्भुत रस से भरा वर्णन दिया है, इन सब का मूल त्रिपिटकों में बिखरे अनेक सन्दर्भों में देखा जा सकता है। सुत्त पिटक के दीग्घनिकाय के महावग्ग (महापदान सुत्त) में इन चार दृश्यों का पूरा वर्णन प्राप्त होता है। जैसे कि-

(क) **जिण्णपुरिसो**- एसो खो देव जिण्णो नामा ति। किं पनेसो सम्म सारथि, जिण्णो नामा ति। एसो खो देव, जिण्णो नाम, न दानिं तेन चिरं जीवितब्बं भविस्सति ति। किं पन सम्म सारथि, अहम्पि जराधम्मो जरं अनतीतो ति। त्वञ्च मयञ्चाहं सब्बे जराधम्मा, जरं अनतीता ति। तेन हि-सम्म सारथि अलं दान ज्ज उय्यानभूमिया, इतो वा अन्तेपुरं पच्चानीय्याहि ति। इत्यादि। द्रष्टव्यः-www. tipitaka.org, page : 10 (दीग्घनिकाय, महावग्ग, महापदान सुत्त) [दीग्घनिकाय के महावग्ग के आरम्भ में मिलने वाले इस प्रसंग में चार दृश्य अलग अलग चार दिनों में देखे गये थे-ऐसा बताया है। लेकिन प्रस्तुत नाटक में, समयमर्यादा से नियन्त्रित होने के कारण उन सब को एक ही दिन में घटी हुई घटनाओं के रूप में दिया है।।] **ब्याधितो**-एसो खो देव, ब्याधितो नाम अप्पेव नाम तम्हा आबाधा वुत्थहेय्या ति। किं पुन, सम्म सारथि, अहम्पि ब्याधिधम्मो ब्याधिं अनतीतो ति। त्वञ्च देव, मयञ्चाह सब्बे ब्याधिधम्मा ब्याधिं अनतीता ति। तेन सारथि, अलं दानज्ज उय्यानभूमिया, इतो व अन्तेपुरं पच्चनीयाही ति।। **कालंकतो**-किं पनायं सम्म सारथि कालंकतो नामा ति। एसो खो देव, ... किं पन अहम्पि मरणधम्मो मरणं

---

1. सुखमालो अहं, भिक्खवे, परमसुखमालो अच्चन्तसुखमालो। मम सुदं, भिक्खवे, पितु-निवेसने पोक्खरणियो कारिता होन्ति। एकत्थ सुदं, भिक्खवे, उप्पलं पुप्फति, एकत्थ पदुमं, एकत्थ पुण्डरिकं .... कासिकं धारेमि। *अंगुत्तर निकाये, सुखमाल सुत्तम्।*

नातीतो, ममापि न देक्खन्ति देवो वा देवीं वा अञ्ञे वा ञातिसालोहिता, अहम्पि न देक्खिस्सामि देवं वा देवीं वा अञ्ञे वाञातिसालोहिते ति। त्वञ्च देव मयञ्चेवाहं सब्बे मरणधम्मा, मरणं अनतीता। तं पि न देक्खन्ति देवो वा देवी वा अञ्ञे वा ञातिसालोहिता, त्वम्पि न देक्खिस्ससि देवं वा देवीं वा अञ्ञे वा ञातिसालोहिते ति। तेन सम्म सारथि, अलं दानज्ज उय्याभूमिया इतोव अन्तेपुरं पच्चनीयाही ति।। **पब्बजितं**-विपस्सी कुमारो उय्यानभूमिं निय्यन्तो पुरिसं भण्डुं पब्बजितं कासायवसनं दिस्वा सारथिं आमन्तेसि-... एसो खो देव पब्बजितो नाम साधु धम्मचरिया साधु, समचरिया साधु, साधु कुसलकिरिया साधु, पुञ्ञकिरिया साधु, अविहिंसा साधु भूतानुकम्पति। साधु खो सो सम्म सारथि, पब्बजितो नाम ....। **बोधिसत्तपब्बज्जा**-अहं पन इधेव केसमस्सुं ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि अच्चादेत्वा अगारस्सा अनगारियं पब्बज्जिस्सामी ति। एवं देवा ति खो कासायानि वत्थानि अच्छादेत्वा अगारस्सा अनगारियं पब्बजि।। (ओन लाईन तिपिटक, दीग्घनिकाये महावग्गे, पृ. 11 से 13)[यहाँ श्रीधर्मानन्द कोसम्बी ने हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि-सुत्तपिटक के दीग्घनिकाय (महावग्ग) के महापदानसुत्त में गृहत्याग के लिए निमित्त बने इन चार पूर्व लक्षण (जरा, रोग, मृत्युआदि) का जो वर्णन है, वह अनेक कल्पों से पूर्व हुए "विपश्शी राजकुमार" नाम के बोधिसत्त्व की कथा में आता है। इन्हीं निमित्तों की कथा को, कुछ शताब्दियों के बाद (ऐतिहासिक) गौतम बोधिसत्त्व (सिद्धार्थ) को लागु की गई है।। (द्रष्टव्य-बुद्धचरित (गुजराती), धर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, प्रथम संस्करण-1937 का पुनर्मुद्रण-1998, पृ. 79.)]

(ख) **अंगुत्तर निकाय के तिकनिपात** में सिद्धार्थ के मन में चल रही विचारधारा को इन शब्दों में बताया है:-"(1) (राजमहल की) ऐसी संपत्ति का उपभोग करते हुए मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि-अविद्वान् साधारण मनुष्य स्वयं वार्धक्य में फंसने वाला होता हुए भी, दूसरे जराग्रस्त वृद्ध को देख कर विमुख हो जाता है और फिर उसका तिरस्कार करना शुरू करता है। किन्तु, मैं भी जब वार्धक्य में फंसने वाला हूँ तो दूसरे साधारण मनुष्य की तरह जराग्रस्त व्यक्ति से मैं विमुख हो जाऊँ या उसका तिरस्कार करूँ तो वह मुझे शोभा नहीं देता है-इस विचार आने के साथ मेरा यौवन-मद समूल निकल गया। *(तस्स मह्यं, भिक्खवे, इति पटिसञ्चिक्खतो यो योब्बनमदो सो सब्बसो पहीयि ति।।)*

(2) अविद्वान् साधारण मनुष्य स्वयं व्याधि के जबडे में फंसने वाला होते हुए भी, दूसरे व्याधिग्रस्त व्यक्ति को देख कर विमुख हो जाता है और फिर उसका तिरस्कार करना शुरू करता है। किन्तु, मैं भी जब व्याधि में फंसने वाला हूँ तो दूसरे साधारण मनुष्य की तरह व्याधिग्रस्त व्यक्ति से मैं विमुख हो जाऊँ या उसका तिरस्कार करूँ तो वह मुझे शोभा नहीं देता है-इस विचार के साथ मेरे आरोग्य पर मेरा जो आरोग्य-मद था, वह समूल निकल गया। *(तस्स मह्यं, भिक्खवे, इति पटिसञ्चिक्खतो यो आरोग्ये आरोग्यमदो सो सब्बसो पहीयि ति।।)*

(3) अविद्वान् साधारण मनुष्य स्वयं मरणधर्मी होते हुए भी, दूसरे व्यक्ति के मृतशरीर को देख कर विमुख हो जाता है और फिर उसका तिरस्कार करना शुरू करता है। किन्तु, मैं भी जब मरणधर्मी हूँ तो दूसरे साधारण मनुष्य की तरह मैं भी मृतशरीर से विमुख हो जाऊँ या उसका तिरस्कार करूँ तो वह मुझे शोभा नहीं देता है-इस विचार आने के साथ मेरा जीवित-मद समूल निकल गया।" *(तस्स मह्यं, भिक्खवे, इति पटिसञ्चिक्खतो यो जीविते जीवितमदो सो सब्बसो पहीयि ति।।)*

इन उद्धरणों के सन्दर्भ में, प्रॉफे. धर्मानन्द कोसम्बी कहते हैं कि- बोधिसत्त्व (सिद्धार्थ) अमन चमन में रहते हुए भी उनका विश्वव्यापी प्रेम का अंकुर बिलकुल ही नष्ट नहीं हो गया था। जगत् के दुःखी एवं वंचित दीन लोगों से वे अपने आप को अलग नहीं कर पा रहे थे। उन दुःखी जनों का दुःख उनका खुद का दुःख बन जाता था। उन मनुष्यों की व्याधिपीडा बोधिसत्त्व (सिद्धार्थ) की व्याधिपीडा बन जाती थी। उन लोगों का मरण उसको अपना मरण जैसा लगता था। अतः उसको पूर्वजन्मों के सुकृतों से मिली सम्पत्ति में सुख नहीं दिखता था।

(ग) श्रीधर्मानन्द कोसम्बी बताते हैं कि-*त्रिपिटकों* में निम्नोक्त जो गाथाएँ मिलती हैं, (जिनमें सिद्धार्थ के **गृहत्याग का कारण** स्पष्टतया बताया गया है) उनकी ओर भी पश्चिम के एवं पूर्व के विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया है। तद्यथा--*(अत्तदण्डसुत्त, सुत्तनिपात)*

अत्तदण्डा भयं जातं, जनं पस्सथ मेधकं।
संवेगं कित्तयिस्सामि यथा संविजितं मया।।1।।

फन्दमानं पजं दिस्वा मच्छे अप्पोदके यथा।
अञ्ञमञ्ञेहिं व्यारुद्धे दिस्वा मं भयमाविसि।।2।।

समन्तमसरो लोको, दिसा सव्वा समेरिता।
ओसाने त्वेव व्यारुद्धे दिस्वा मे अरती अहु।।3।।

अर्थात्- मुझे कैसे संवेग उत्पन्न हुआ? वह मैं बताता हूँ:-अपने असंतोष के कारण परस्पर के साथ कलह करते लोगों को देख कर मुझे भय उत्पन्न हुआ। (1) सूख रहे (अल्पोदक) तालाब में जैसे मछलियाँ छटपटाती हैं, वैसे परस्पर में कलह कर रहे लोगों को देख कर, मेरे अन्त:करण में भय प्रविष्ट हुआ। (2), चारों ओर जगत् असार दिखने लगा। सभी दिशाएँ काँप रही हैं-ऐसा मुझे दिखने लगा। तब मैं कोई आश्रय खोज रहा था, लेकिन मुझे कोई निर्भय स्थान मिला नहीं[1]।।

(घ) भगवान् बुद्ध ने *मज्झिमनिकाय* के *अरिय-परियेसन सुत्त* में अपने गृहत्याग के सन्दर्भ में कहा है कि-"हे भिक्खुओ! मैं संबोधि ज्ञान होने से पहले बोधिसत्त्वावस्था में जन्मधर्मी होते हुए भी जन्म के चक्कर में फंसी चीजों (पुत्र, पत्नी, दास-दासी, नर्तकियाँ इत्यादि) में रममाण था। मैं स्वयं जराधर्मी था, व्याधिधर्मी था, मरणधर्मी था, शोकधर्मी था, फिर भी जरा, व्याधि, मरण एवं शोक में ग्रस्त चीजों के पीछे दौड़ता था। तब मेरे मन में विचार आया कि मैं स्वयं जब जन्म, जरा, व्याधि, मरण एवं शोक से संबद्ध होते हुए भी, उसी तरह के जरादि से संबद्ध पुत्रदारादि में फंसा रहता हूँ वह उचित नहीं है। अत: अब मैं जन्म-जरादि से होनेवाली हानि को देख कर, अजात, अजर, अव्याधि, अमर एवं अशोक हो ऐसे निर्वाण पद की खोज शुरू करूँ वही योग्य होगा।"

"हे भिक्खुओ! ऐसे विचार करते करते कुछ समय व्यतीत हो गया। मैं तारुण्य अवस्था में था, जब मेरा एक भी केश श्वेत नहीं हुआ था तब मेरे माता-पिता मुझे घर से निकलने नहीं देते थे, अश्रुप्रवाह से उनके कपोल गीले हो गये थे, वे निरंतर रोते रहते थे। फिर भी उनकी परवाह न करते हुए, मैं शिरोमुंडन करके, काषाय वस्त्र को ओढ कर, घर से बाहर निकल ही गया।"

*** *** *** *** *** *** *** ***

सिद्धार्थ कपिलवस्तु को छोड कर, राजगृह की ओर गया था। वहाँ बिम्बिसार नाम का राजा शासन करता था। उसने सिद्धार्थ को भिक्षाटन करता हुआ देखा, और उसको मिलने के लिए पाण्डव नाम की पर्वतमाला की ओर पहुँचा।

1. श्रीधर्मानन्द कोसम्बी जी ने इन्हीं शब्दों के आधार पर रोहिणी नदी के जलविवाद प्रसंग की कल्पना करके, अपना बोधिसत्त्व (मराठी) नाटक लिखा है। (उनके मत से वृद्ध-रोग-मृतकादि के दर्शन से विरक्त हो कर, बोधिसत्त्व ने गृहत्याग नहीं किया था।)

वहाँ जाकर उसने सिद्धार्थ को संन्यास छोड कर, क्षात्रधर्म को पुनः स्वीकार लेने का बहुत आग्रह किया, बहुविध साहाय्य करने को भी कहा। लेकिन बिम्बिसार की एक भी युक्ति चली नहीं।-यह कथा सुत्तनिपात के *पबज्जावग्ग सुत्त* में वर्णित है।।

इसके बाद का वृत्तान्त हमें *मज्झिमनिकाय* के *महासमुच्चकसुत्त* में मिलता है:-"हे अग्गिवेस्सन! इस तरह से प्रव्रज्या लेकर मैं घर से बाहर निकल गया। मैं परम सुखदायी वस्तु क्या है? उसको खोजता रहा। उच्चतम शान्तिदायक स्थान की तलाश में फिरता रहता था।[1] उसी समय आळार कालाम के पास जा कर मैं ने कहा कि-हे कालाम, तुम्हारे धर्ममार्ग में प्रवेश करने की मेरी इच्छा है। तब कालाम ने कहा कि-हे आयुष्मन्, तू इस मत के अनुसार चल। विद्वान् व्यक्ति इस तरह से चलता है तो तुरंत हमारी बात उसकी समझ में आ जाती है।.... और मैं थोड़े ही दिनों में उसकी बात समझ गया। वाद-विवाद करने में मैं तैयार हो गया। किन्तु वह ज्ञान शुकरव जैसा था। कालाम के अन्य शिष्य भी बोलने में उसी तरह से प्रवीण हो गये थे। तथापि उनकी विद्या से मुझे समाधान नहीं मिला। ... मैं ने फिर से कालाम को पूछा कि-तुम्हें इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कैसे हुई? तब उन्होंने *आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, एवं अकिंचन्यातन* (= जिससे मन वृत्तिशून्य होता है) नाम की समाधि का मुझे उपदेश दिया। मैं ने सोचा कि मेरे में भी कालाम जैसा उत्साह है, श्रद्धा है, एकाग्रता की शक्ति है तो मैं क्यूं इस समाधि को सिद्ध न कर सकूँ? जब मैं ने उस समाधि को सीख लिया और कालाम को वह बात बताई, तो उन्होंने मुझे अपने समकक्ष समझा। और कहा हम दोनों मिल कर अब दूसरों को इसका ज्ञान देंगे। लेकिन, हे अग्गिवेस्सन! मुझे उसकी *अकिंचन्यायतन समाधि* से संतोष नहीं हुआ, क्योंकि वह निर्वाण तक ले जाने वाला मार्ग नहीं था। अतः मैं ने उसके मार्ग का त्याग कर दिया।।

उसके पश्चात्, मैं उद्दक रामपुत्त के पास गया। उन्हों ने मुझे *नैवसंज्ञानासंज्ञायतन* (= जो समाधि का अन्तिम सोपान होता है) नामक समाधि सिखाई। मैं ने उसको भी कुछ ही समय में सिद्ध कर ली। जब यह बात मैं ने रामपुत्त को कही, तो उन्होंने भी कालाम की तरह ही, मेरा सम्मान किया और अपने तुल्य माना। लेकिन मुझे इससे भी संतोष नहीं हुआ और मैं ने उनको भी छोड़ दिया। हे अग्गिवेस्स! निर्वाण की खोज करता हुआ मैं मगध के उरुवेला (वर्तमान बोधगया) में पहुँच गया। वहाँ का प्रदेश सुन्दर था, वन की शोभा, नदी की मन्द

---

1. सो एवं पव्वजितो समानो किं कुसल-गवेसी अनुत्तरं सन्तिवरं परियेसमानो येन आळारो कालामो तेनुपसङ्कमि।

गति... सब सुन्दर था। वहाँ से थोड़ी दूरी पर कुछ गाँव बसे थे। मैं ने वहीं पर समाधि लगाना शुरू किया।

बुद्ध ने उरुवेला में जो तपश्चर्या की थी उसका निरूपण उन्होंने शिष्य शारिपुत्र को संबोधित करते हुए मज्झिम-निकाय (मूलपण्णास,मूलपर्याय वग्गो) के *12. महासिंहनाद सुत्त* में किया है। उनका कुछ अंश ज्ञातव्य है:-हे सारिपुत्त! मैं ने चार प्रकार का तप किया था, जिससे मैं तपस्वी बना, रूक्ष हो गया, जुगुप्सु हो गया और प्रविविक्त हो गया था। हे सारिपुत्त, मेरी तपश्चर्या कैसी थी-वह तूं सुन। मैं नग्न रहता था, लौकिक आचार (स्नान-मुखशुद्धि-शौचादि) का पालन भी नहीं करता था। भिक्षान्न हाथ में ही ले कर खा लेता था। "हे भदन्त! यहाँ आइए" ऐसा कोई पुकारे तो भी मैं उसको सुनता नहीं था। तथा मेरे पास आ कर दे जाय तो भी मैं उसको नहीं खाता था। भोजन कर रहा कोई व्यक्ति यदि अपनी थाली से कुछ देता तो मैं उसको भी नहीं लेता था। गर्भिणी स्त्री, शिशु को स्तनपान करा रही स्त्री, या एकान्त में पुरुष के पास में बैठी हुई स्त्री का दिया हुआ अन्न भी मैं नहीं लेता था। जहाँ कुत्ते जमा हुए हो या मक्षिकाओं का उपद्रव हो वहाँ से मैं अन्न नहीं लेता था। मत्स्य, मांस, मेरय, मदिरा भी नहीं लेता था। आरम्भ में दो चार घरों से मिली भिक्षा पर जीवनयापन करता था। बाद में, केवल किसी एक ही घर से मिला एक कवल मात्र अन्न ही मैं लेता था। *(सारिपुत्त, एकमेव तण्डुलं आहारं आहरारयतो ....।)* एक दिन आहार लेता, तो दूसरे दिन नहीं लेता था, पश्चात् दो दिनों के अन्तराल में अन्न लेने का नियम रखा। क्रमशः सप्ताह में एक बार और अन्त में पंदरह दिन में केवल एक बार अन्न लेने का उपक्रम किया। कदाचित् मैं मेरे मलमूत्र का भी आहार कर लेता था। या गाय के बछड़े का गोबर भी खा लेता था।-यह था मेरा तपस्वी का जीवन।

शण घास के वस्त्र को धारण करना, या मृतशरीर से निकाल कर फेंक दिये वस्त्रों को भी पहन लेता था। मार्ग पर फटे, चीरे गये वस्त्रखण्डों को भी मैं पहन लेता था। जंगलो में वल्कल वस्त्र या मृत प्राणियों की खाल को ओढ़ लेता था। दाढी-मूँछ एवं मस्तक के केशों को हाथ से ही तोड़ देता था। बैठ कर भी तपस्या कर लेता या खड़े खड़े ही तपस्या कर लेता था। कभी कभी कंटकों की शय्या बना कर भी सो जाता था-इस तरह से मैं मेरा तपस्वी जीवन जी रहा था।।

हे सारिपुत्त! तूं अब मेरी रूक्षता के विषय में सुन। अनेक वर्षों की धूलिका मेरे शरीर के प्रत्येक अंग में लगी थी। जैसे तिण्डुक वृक्ष के पर्णो पर धूलिका प्रक्षेप हो कर वह निस्तेज हो जाता है, वैसे मेरा देह भी काला हो गया था। उस समय मुझे उस धूलिका को दूर हटाने की भी इच्छा नहीं होती थी। मैं पेट को

स्पर्श करता तो मेरुदण्ड (रीड की हड्डी) को स्पर्श कर लेता था और मेरुदण्ड को पकडता तो पेट को ही पकड लेता था। दोनों परस्पर में लीन (एक साथ) हो गये थे! *(सो खो अहं, सारिपुत्त, उदरच्छविं परिमसिस्सामी ति पिट्ठिकण्टकं येव परिग्गण्हामि, पिट्ठिकण्टकं परिमसिस्सामी ति उदरच्छविं येव परिग्गण्हामि, यावस्सु मे, सारिपुत्त, उदरच्छवि पिट्ठिकण्टकं अल्लीना होति तायेवप्पाहारताय।।)* –यह मेरे शरीर की रूक्षता हो गई थी।। (इस कृशकाय बुद्ध के शिल्पांकन का चित्र परि.–3 में दिया है।)

हे सारिपुत्त! तूं मेरी जुगुप्सा को सुन। मैं बड़ी सावधानी से यहाँ से वहाँ जाता आता था, पानी की बून्द पर भी मेरे मन में दया रहती थी। पानी में गिरे जीव-जन्तु का नाश मेरे कारण न हो जाय उसका मैं ध्यान रखता था। यह मेरी जुगुप्सा थी। अब, तू मेरी विविक्तता के विषय में सुन। मैं प्राय: जंगल में रहता था, वहाँ कोई गोप या घास-काष्ठ एकत्र करने वाले आ जाते तो मैं तुरंत वहाँ से भाग जाता था। पहाड़ों से जमीन के भागों में दौड़ जाता था। वे मुझे न देख लें, या मैं उनको देख न पाऊँ यही मेरी इच्छा रहती थी। जैसे कोई हिरन मनुष्य को देख कर दूर भाग जाता है वैसे मैं भी मनुष्यों को देख कर वहाँ से अदृश्य हो जाता था। यह मेरी विविक्तता थी।

मेरे शयन की बात भी सुन। मैं घोर भयप्रद जंगल में सोता था, कदाचित् श्मशान में हड्डियों का तकिया बना कर सोता था, गाँव के लोग कभी मुझे देख कर मेरे शरीर पर पेशाब कर देते थे, थूंकते थे..। मेरे कानों में घास के तिनके या सरिया भी डाल देते थे। तथापि उन सब के प्रति मेरे मन में पापबुद्धि उत्पन्न नहीं होती थी।–यह मेरी उपेक्षा थी। सिद्धार्थ से बुद्ध बनने के पहले की इस विकराल स्थिति से वे गुजरे थे, जो स्वयं उन्होंने अपने शिष्य शारिपुत्र को कही थी।।

अन्नत्याग करके तपस्या करने का मार्ग कितना पीडा-जनक था वह हमने देखा। वे कहते हैं कि–क्रमश: इससे शिरोवेदना होने लगी, शरीर में दाह पैदा होता रहा... किन्तु मेरा उत्साह दृढ था। अन्न आहार कम करने से शरीर सूख गया, मुखकान्ति चली गई, हाथ-पाँव लकड़ी जैसे हो गये। पेट के साथ पीठ का मेरुदण्ड परस्पर में चिपक गये थे। मुझे लगता था कि मैं जिस पीडा का अनुभव कर रहा हूँ ऐसी पीडा किसी भी श्रमण या ब्राह्मण ने शायद ही किया होगा। तथापि मैं ने जाना कि इससे ही मुझे लोकोत्तर धर्मज्ञान नहीं होगा। अत: मैं ने फिर से सोचना शुरू किया कि क्या निर्वाण प्राप्त करने कोई दूसरा मार्ग हो सकता है? तब ध्यान में आया कि (गृहत्याग करने से पहले) पिता जी के खेत में जो जामुन

के वृक्ष के नीचे बैठ कर, मैं ने समाधि का सुख लिया था, वह उचित लगा। क्या वही तो निर्वाण का सही मार्ग नहीं हो सकता?

बुद्ध ने अग्गिवेस्सन को कहा:- *अभिजानामि खो पनाहं पितुसक्कस्स कम्मन्ते सीताय जम्बुच्छायाय निसिन्नो ... पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरिता, सिपा नु खो एसो मग्गो बोधायाति। तस्स मह्यं अग्गिवेस्सन सतानुसारि विञ्ञाणं अहोसि। एसो व मग्गो बोधायाति।* (द्रष्टव्य-अरियपरियेसन सुत्त एवं महासच्चक सुत्त)

तो मुझे क्यों उसी का पुनः आश्रयण नहीं करना चाहिए? मुझे उस मार्ग पर चलने में किसी से क्यूँ डरना चाहिए? (=गर्भितार्थ:-मैं अन्न ग्रहण करता हूँ, और उससे मेरे साथी तपस्वी मुझे छोड़ कर चले जायँ तो मुझे उससे भी घबराने की जरूर नहीं है।) इस निर्बल शरीर से तो समाधिसुख नहीं मिलेगा। शरीर का रक्षण करने के लिए मुझे थोडा अन्न लेना आवश्यक है।।

तब मैंने देहरक्षा के लिए आवश्यक अन्न लेना शुरू किया। उस समय मेरे साथ में पांच भिक्षुक भी रहते थे। तथा मेरी सेवा भी करते थे। वे आशा रखते थे कि मुझे जो ज्ञान मिलेगा, वह मैं उनको वितरित करुँगा। लेकिन मैं अन्न ग्रहण करने लगा हूँ ऐसा देख, मुझे दम्भी घोषित करके, मुझे छोड़ कर वे चले गये। अन्नग्रहण से मेरे में क्रमशः शक्ति का संचार हुआ और समाधिसुख पुनः प्राप्त होने लगा।।

[2]

मारविजय का स्वरूप।

तपस्वी सिद्धार्थ का मार के साथ भारी युद्ध हुआ था-इसका विस्तृत एवं अद्भुत रस से परिपूर्ण वर्णन बौद्ध साहित्य में अनेकत्र मिलता है[2]। किन्तु

---

1. यह प्रसंग ललितविस्तर में भी दिया है:-
सो जम्बुछायामुपगम्य विनीतचित्तो तृणकानि गृह्य स्वयं संस्तुर संस्तरित्वा।
पर्यङ्कमाभुजिय उज्जु करित्वा कायं, चत्वारि ध्यान शुभ ध्यायि स बोधिसत्त्वः।।
(श्लोक-क्रमांक-325),
परिवृत्त सूर्य न जही सुगतस्य छाया, ओलम्बते द्रुमवरं पथ पद्मपत्रं।
देवा सहस्र बहवः स्थित अञ्जलिभिः, वन्दन्ति तस्य चरणौ कृतनिश्चयस्य।।
(श्लोक-क्रमांक-330)

2. श्रीधर्मानन्द कोसम्बी बताते हैं कि-बाईबल (Mathew 4, 1-11) में ईसा मसीह के चरित्रालेखन के साथ एक "सेतान"की भी कल्पना है, उसकी प्रेरणा मार-युद्ध प्रसंग से हुई होगी।

तिपिटकों में- *सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय में आये महा-वग्गान्तर्गत सुत्तनिपात के पधान सुत्त में*- मारयुद्ध का निरूपण कुछ अलग ही है। *पधानसुत्त* में इससे जुडी पच्चीस गाथाएँ है:-

तं मं पधानपहितत्तं नदिं नेरंजरं पति।
विपरक्कम्म झायन्तं योगक्खेमस्स पत्तिया।।1।।

नमुचि करुणं वाचं भासमानो उपागमि।
किसो त्वमसि दुव्वण्णो सन्तिके मरणं तव।।2।।

सहस्सभागो मरणस्स एकंसो तव जीवितं।
जीवं भो जीवितं सेय्यो जीवं पुञ्ञानि काहसि।।3।।

चरतो च ते ब्रह्मचरियं अग्गिहुतं च जूहतो।
पहूतं चीयते पुञ्ञं किं पधानेन काहसि।।4।।

अर्थात्-मैं नेरंजरा नदी के तट पर निर्वाण प्राप्ति के लिए उत्साह के साथ ध्यानस्थ था। मेरा मन निर्वाण में लगा था। इसी समय मार मेरे पास आया और करुण वाणी से कहने लगा:-तूं निर्बल हो गया है, तेरे शरीर की कान्ति भी चली गई है, मृत्यु तेरे समीप है।(1)। बहुश: तो तेरा मौत होने ही वाला है। एकांश में तेरा जीवन अवशिष्ट रहा है। (हे गौतम!) तू जिन्दा रह। जीना ही उत्तम है। जिन्दा रहने से ही तू पुण्य कर्म कर सकेगा।(2)। (गृहस्थाश्रम में विहित) कर्मों का आचरण करके, अग्निहोत्र का परिपालन करके, होमादि करने से बहुत पुण्य मिल सकता है। तो तू निर्वाण के लिए क्यूँ प्रयास कर रहा है?।

मार के उपर्युक्त उपदेश को सुन कर, तपस्वी सिद्धार्थ ने उत्तर दिया:-

अणुमत्तेन पि पुञ्ञेन अत्थो मय्हं न विज्जति।
पेसं च अत्थो पुञ्ञानं ते मारो वत्तुमरहति।।5।।

अत्थि सद्धा ततो विरियं पञ्ञा च मम विज्जति।
एवं मे पहितत्तं पि किं जीवितमनुपुच्छसि।।6।।

अर्थात्-मुझे इस तरह का पुण्य थोड़ा भी नहीं चाहिए। जो इस तरह का पुण्य चाहिता हो उसी को मार ऐसा उपदेश दे।(5)। मुझे मुझ में विश्वास है, श्रद्धा, उत्साह एवं प्रज्ञा भी है। इस तरह से मेरी आत्मा निर्वाण-परायण है फिर भी तू मुझे क्यों मृत्यु का भय दिखाता है?(6)। पुनरपि सिद्धार्थ कहता है कि-

कामा ते पठमा सेना दुतिया अरति वुच्चति।
ततिया खुप्पिपासा ते चतुत्थी तण्हा पवुच्चति।।7।।

पंचमी थीनमद्धं ते छठ्ठा भीरुपवुच्चति।
सप्तमी विचिकिच्छा ते मक्खो थंभो ते अठ्ठमो।।8।।

लाभो सिलोको सक्कारो मिच्छा लद्धो चयो यसो।
यो चत्तानं समुक्कंसे परे च अवजानति।।9।।

एसा नमुचि ते सेना कण्हस्साभिप्पहारणी।
न तं असूरो जिनाति जेत्वा च लभते सुखं।।10।।

अर्थात्- (हे मार!) इन्द्रियों को सुख देने वाली विलास-सामग्री वह तेरी पहली सेना है। अरति (कंटाला, कार्य में अरुचि[1]) दूसरी सेना, भूख एवं प्यास तीसरी सेना है। विषयोपभोग की इच्छा वह चौथी सेना है। आलस्य पांचवी और भीति छठी सेना है। कुशंका एवं गर्व होना वे तुम्हारी सातवीं और आठवीं सेनाएं हैं।(7-8)। तदुपरान्त, लाभ, सत्कार एवं पूजा ये सब तुम्हारी नवमी सेना है। तथा गलतमार्ग से प्राप्त की गई कीर्ति वह दशमी सेना है। ऐसी कीर्ति प्राप्त होने पर व्यक्ति आत्मस्तुति एवं परनिन्दा करता है।(9)। हे काला नमुचि (मार)! साधु व्यक्ति पर आक्रमण करने वाली ये तेरी सेना है। भीरु व्यक्ति उसको जीत नहीं सकता है। किन्तु जो सही शूरवीर होता है, वही तुझे जीत सकता है और सुख प्राप्त कर सकता है।(10)। पुनरपि तपस्वी सिद्धार्थ ने कहा-

पगाळ्हा पेत्थ न दिस्सन्ति एते समणब्राह्मणा।
तं च मग्गं न जानन्ति येन गच्छन्ति सुव्वता।।11।।

यं ते तं नप्पसहति सेनं लोको सदेवको।
तं ते पञ्ञाय गच्छामि आमं पत्तं ब अम्हना।।12।।

अर्थात्-(हे मार!) ये सारे श्रमण एवं सभी ब्राह्मण तेरी सेना के सामने पराजित हो चुके हैं, वे शील आदि गुणों से शोभित नहीं हैं। तथा महर्षि जिस मार्ग से जाते हैं, उस मार्ग को वे नहीं जानते हैं।(11)। तेरी इस सेना के आगे देव हो या मनुष्य टिक नहीं सकता है। किन्तु जैसे कच्ची मिट्टी से बने घट को पाषाण तोड़ दे उसी तरह से मैं मेरी प्रज्ञा से तेरा पराभव कर दूँगा।(12)। .... मार ने अपना पराजय स्वीकारते हुए जो कहा उसका निरूपण करने वाली दो गाथाएँ द्रष्टव्य है:-

---

1. श्रीराहुल सांकृत्यायन जी ने अरति शब्द का जो अर्थ दिया है, वह पुनर्विचारणीय है। मेरे मत से "किसी के अभ्युदय को न देख पाना और उस के प्रति ईर्ष्या पैदा होना" वह अरति है। तथा यह अरति शब्द मुदिता शब्द के विरोधार्थ में प्रयुक्त है। (मार ने भी इसी अर्थ में इस अरति को अपनी एक सेना घोषित की है।)

सत्त वस्सानि भगवंतं अनुबंधि .पदापदं।
ओत्तारं नाधिगच्छिस्सं संबुद्धस्य सतिमतो।।

तस्स सोकपरेतस्स वीणा कक्खा अभस्सथ।
ततो सो दुम्मनो पक्खों तत्थेवंतरधायथा ति।।

अर्थात्-"मैं सात वर्षों तक निरंतर भगवान् के पीछे लगा रहा था। किन्तु विवेकी बुद्ध का एक भी छिद्र मुझे मिला नहीं"। इस तरह से, मार शोक से संतप्त हो गया और उसके हाथ की कक्षा से वीणा नीचे गिर गई। तब वह दुःखी हो कर, वहाँ से अन्तर्धान हो गया।।

मार एवं सिद्धार्थ के बीच मे हुए उपर्युक्त युद्ध का वर्णन रूपकात्मक है। इसका विवरण देते हुए श्री धर्मानन्द कोसम्बी ने लिखा है कि-मनुष्य-प्रजा का कल्याण करने को कोई उद्यत होगा तो उस पर प्रहार करने वाली मारसेना कामोपभोग की ही होगी। व्यक्ति उसका दमन करके एक पाँव आगे बढायेगा उसी के साथ असंतोष आक्रमण कर देगा। तदनन्तर क्षुधा-पिपासा इत्यादि एक के बाद दूसरी सेना आक्रमण शुरू कर देती है। इन सब के ऊपर विजय हासिल किये बिना कल्याणकारक मार्ग का साक्षात्कार होना सम्भव ही नहीं है। अतः बुद्ध ने मार का पराजय किया-उसका मतलब यह होता है कि उपरि निर्दिष्ट सभी मनोवृत्तियों पर उन्होंने जित हासिल की। इस मार्ग पर चलते हुए बोधिसत्त्व का क्रमिक विकास कैसे होता गया उसका स्वाभाविक अनुमान किया जा सकता है।।[1]

मार-विजय के बाद सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई। उसके कारण उनको संबुद्ध, तथागत, सुगत, धर्मराज, महाभिषक्, मारजित्, जिन इत्यादि अनेक संज्ञाएँ मिली हैं। बोधि प्राप्ति के बाद बुद्ध सात दिनों तक विमुक्ति सुख का अनुभव करते हुए एक ही आसन पर बैठे रहे थे। सप्तम दिन की रात्रि में उन्होंने निम्नोक्त शब्दों में आनन्दोद्‌गार निकालेः-

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।
विधूपयं तिठ्ठति मारसेनं सुरियो व ओभासयमंतळिक्खं ति।।

"ध्यानी एवं उत्साही ब्राह्मण को जिस समय धर्मज्ञान का साक्षात्कार होता है, उस समय वह मार की सेना का विध्वंस कर देता है। एवं अन्तरिक्ष में सूर्य की भांति प्रकाशित होने लगता है"।। उस काल में बुद्ध नेरंजना नदी के तट पर रहते थे। तब उनके मन में निम्नोक्त विचार आने लगेः-

---

1. बुद्धचरित, लेखक-धर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, 1998, पृ. 107

किच्छेन मे अधिगतं हलं दानि पकासितुं।
रागदोस-परेतेहि नायं धम्मो सुसंबुद्धो।।

पाटिसोतगामिं निपुणं गंभीरं दुद्दसं अणुं।
रागरत्ता न देक्खन्ति तमोखन्धेन आवुता ति।।

अर्थात्-"भारी प्रयत्नों से अर्जित मेरा ज्ञान लोगों को बताना निरर्थक लगता है। क्योंकि राग एवं द्वेष से भरे पड़े लोग इसको जल्दी से समझ नहीं पायेंगे। यद्यपि यह मार्ग ज्ञानयुक्त है, गंभीर है, दुरधिगम है एवं सूक्ष्म है, तथापि यह मार्ग लोकप्रवाह से विपरीत जा रहा है। अतः अज्ञानावरण से आच्छादित तथा कामासक्त मनुष्यों को उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा"।।

उसी क्षण ब्रह्मदेव के मन में क्षोभ हुआ कि यदि बुद्ध इस सद्धर्म का उपदेश नहीं करेंगे तो प्रजा की महती हानि होगी। अतः तुरंत वे बुद्ध के सम्मुख प्रकट हुए।

उन्होंने कहा-

उट्ठहि वीर विजितसंगाम सत्थवाह अनण विचर लोके।
देसेतु भगवा धम्मं अञ्ञातारो भविस्सन्ति।। (महावग्ग)

अर्थात्-"हे वीर! हे लोकनायक! तुम उठ खड़े हो। तुम ने संग्राम में जित प्राप्त की है और तुम उससे ऋणमुक्त हो गये हो। हे भगवन्, सर्वत्र घूम घूम कर, तुम्हारे धर्म का प्रचार शुरू करो। तुम्हारी बात को समझने वाले भी होंगे ही"।। .... तत्पश्चात् बुद्ध ने धर्मोपदेश करने का निर्णय किया।।

[3]

पिटकों में वर्णित "धर्मचक्र-प्रवर्तन" का प्रसंग

प्रस्तुत नाटक के कथावस्तु का प्रधान विषय "धर्मचक्र-प्रवर्तन"। अतः नाटक के इस केन्द्रवर्ती विषय का वर्णन प्राचीनतम पिटकों में किन शब्दों में प्राप्त होता है?-यह जानने की इच्छा किसी को भी हो सकती है। इसका निरूपण **मज्झिम-निकाय** के (26) *पासरासि सुत्त* के (5) *धम्मचक्क-पवत्तन* (पृ. 221-222) में मिल रहा है। उसका मूल पालि पाठ निम्नोक्त है:-

अह भिक्खवे, उपक आजीवक गाथाहि अज्झभासि-...

अह हि अरहा लोके, अह सत्था अनुत्तरो।
एकोम्हि सम्मासम्बुद्धो, सीतिभूतोस्मि निब्बुत्तो।।3।।,

धम्मचक्क पवत्तेतु, गच्छामि कासिन पुर।
अन्धभूतस्मि लोकस्मि, आहञ्छ अमत्तदुन्दुभि ति।।4।।

अथ ख्वाह, भिक्खवे, अनुपुब्बेव चारिक चरमानो येन वाराणसी इसिपत्तन मिगदायो येन **पञ्चवग्गिया भिक्खू** दूरतो आगच्छन्त दिस्वान अञ्ञमञ्ञ सण्ठपेसु- "अय खो, **आवुसो समणो गोतमो** आगच्छति बाहुलिको पधानविब्भन्तो आवत्तो बाहुल्लाय। सो नेव अभिवादेतव्वो, न पच्चुट्ठातब्बो, नास्स पत्तचीवर पटिग्गहेतव्व। अपि च खो आसन ठपेतब्ब, सचे आकङ्खिस्सति निसीविस्सती ति। यथा यथा खो अह भिक्खवे उपसङ्कमि तथा तथा पञ्चवग्गिया भिक्खू नासक्खिसु सकाय कतिकाय सण्ठातु। अप्पेकच्चे म पच्चुग्गन्त्वा पत्तचीवर पटिग्गहेसु, अप्पेकच्चे आसन पञ्ञपेसु, अप्पेकच्चे पादोदक उपठ्ठपेसु। ***अपि च खो म नामेन च आवुसोवादेन च समुदाचरन्ति।।***

एवे वुत्ते, अह भिक्खवे पञ्चवग्गिये भिक्खू एतदवोच- ***मा, भिक्खवे, तथागत नामेन च आवुसोवादेन च समुदाचरथ।।*** अरह, भिक्खवे, तथागतो सम्मासम्बुद्धो।। ओदहथ, भिक्खवे, सोत्त। अमतमधिगत ....। एव वुत्ते, अह भिक्खवे, पञ्चवग्गिये भिक्खू एतदेवोच-अभिजानथ मे नो तुम्हे, भिक्खवे, इतो पुब्बे एवरूप भासितमेत्त ति?-नो हेत, भन्ते[1]।।

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने उपर्युक्त गद्यखण्ड का अनुवाद[2] दिया है:-हे भिक्षुओं! मैंने उस उपक आजीवक को ऐसी गाथाएँ कही:- मैं संसार में अर्हत् हूँ, अपूर्व शास्ता (गुरु) हूँ। मैं एक सम्यक् सम्बुद्ध, शीतल तथा निर्वाणप्राप्त हूँ।।(3) धर्म का चक्का घुमाने के लिये काशियों के नगर को जा रहा हूँ। (यहाँ) अन्धे हुये लोक में अमृत-दुन्दुभी बजाऊँगा।।(4) .... तब मैं भिक्षुओ! क्रमशः यात्रा (चारिका) करते हुए, जहाँ वाराणसी ऋषिपत्तन मृगदाव था, जहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षु थे वहाँ पहुँचा। दूर से आते हुये मुझे पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने देखा। देखते ही आपसमें पक्का किया-"आवुसो![3] यह बाहुलिक (बहुत जमा करनेवाला), साधनाभ्रष्ट बाहुल्य परायण (जमा करने में लगा) श्रमण गौतम आ रहा है। इसे अभिवादन नहीं करना चाहिये, न प्रत्युत्थान (सत्कारार्थ खडा होना) करना चाहिये। न इसके पात्र, चीवर को (आगे बढ कर) लेना चाहिये, केवल आसन

---

1. द्रष्टव्य:-मज्झिम निकाय, 1 मूल पण्णासकम्। सं. पी. वी. बापट, अधिसंपादक-भिक्षु जे. काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार सरकार, 1958, पृ. 221-222
2. मज्झिम-निकाय, (26-पासरासि), अनु.-राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1933, पृ. 108
3. पालि में, दो भिक्षुओं बातचीत के दौरान इस संबोधन का प्रयोग आयुष्मान्, मित्र, भ्राता अर्थ में करते हैं।

रख देना चाहिये, यदि इच्छा होगी तो बैठेगा।।"

जैसे जैसे मैं पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के समीप आता गया, वैसे ही वे अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रह सके। (अन्त में) मेरे पास आ, एक ने मेरे पात्र-चीवर लिये, एकने आसन बिछाया, एकने पादोदक (पैर धोनेका जल) पादपीठ (पैर का पीठा) पादकठलिका (पैर रगडने की लकडी) ला पास रखी। मैं बिछाये आसन पर बैठा। बैठ कर मैंने पैर धोये। वह मेरे लिए "आवुस" शब्द का प्रयोग करते थे। ऐसा करने पर मैंने कहा-"नहीं, भिक्षुओ! तथागत को नाम लेकर या "आवुस" कह कर मत पुकारो। भिक्षुओ, तथागत सम्यक् सम्बुद्ध है। ...... तीसरी बार भी पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने मुझ से (यही) कहा। ऐसा कहने पर मैंने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को कहा-अभिजानाथ मे नो तुम्हे, भिक्खवे, इतो पुब्बे एवरूपं पभावितमेत न्ति। नोहेतं, भन्ते।। (भिक्षुओ, इससे पहिले क्या मैंने कभी इस प्रकार कहा है?" ,-भन्ते, नहीं)।। तत्पश्चात् बुद्ध ने निम्नोक्त शब्दों में चार आर्य सत्यों का, अष्टांगिक मार्ग का उपदेश देते हैं। (इसको "धम्मचक्क-पवट्टन सुत्तं" कहते हैं।)

१३. अथ खो भगवा पञ्च वग्गिये भिक्खू आमन्तेसि-

द्वे मे, भिक्खवे, अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा। [कतमे द्वे] यो चाय कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो, यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो। एते खो, भिक्खवे, उभो अन्ते अनुपगम्म, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा, चक्खुकरणी, ञाण-करणी, उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।। कतमा च सा, भिक्खवे, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा, चक्खुकरणी, ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति?।-अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथिदं-सम्मादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि। अयं खो सा, भिक्खवे, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा, चक्खुकरणी, ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।।

१४. इदं खो पन, भिक्खवे, (1) दुक्खं अरियसच्चं। जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खो, मरणम्पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं। संखितेन, पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा। (2) इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं-यायं तण्हा पोनोब्भविका (= बारं बार भव, जन्म का कारण) *नन्दीरागसहगता*(=सुख की आसक्ति से युक्त) *तत्रतत्राभिनन्दिनी* (= ठौरठौर पर सुख चाहने वाली), *सेय्यथिदं-कामतण्हा,*

भवतण्हा, विभवतण्हा। (3) इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं-यो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो, पटिनिस्सग्गो, मुत्ति, अनालयो। (4) इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं-अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथिदं-सम्मादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि। अयं खो सा, भिक्खवे, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा, चक्खुकरणी, ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।।

१५. *इदं दुक्खं अरियसच्चन्ति मे,भिक्खवे, पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि, ञाणं उदपादि, पञ्ञा उदपादि, विज्जा उदपादि, आलोको उदपादि।।*[1] (पृ. 8 से 10,) यदि इस धम्मचक्क-पवट्टन सुत्तं का सिंहल देश का परम्परागत गान सुनने की इच्छा हो तो यु-ट्युब-https://youtu.be/fOVXgqeyaAY लिंक पर उपलब्ध है। (यह मज्झिमनिकाय (सुत्त सच्चसंयुत्त के दूसरे वग्ग) में एवं विनयपिटक के महावग्ग में आया है। तथा ललित-विस्तर के अध्याय-26 में उसका संस्कृत रूपान्तर दिया है।)

इसका हिन्दी भाषानुवाद ऐसे किया जा सकता है:-अब भगवान् ने पंच वर्गीय भिक्षुओं को (उपदेश के लिए) आमन्त्रित किये-हे भिक्षुओ, साधुको इन दो अतियां का सेवन नहीं करना चाहिए। कौन सी दो अतियाँ? जो १. हीन, ग्राम्य, अनाडी मनुष्यों के योग्य, अनार्यों के द्वारा सेवित, अनर्थों के समुदाय रूप, कामवासनाओं से लिप्त (भोग-विलासादि), और २. जो दुःखमय, अनार्यसेवित, अनर्थों से भरी हो ऐसी आत्मपीडन कारिणी (तपश्चर्या)। भिक्षुओं, इन दोनों ही अतियों में न जाकर, तथागत ने मध्यम-मार्ग को खोज निकाला है। जो कि आंख खोल देनेवाला, शान्ति देने के लिए है, अभिज्ञा के लिए है, परिपूर्ण ज्ञान के लिए है और अन्त में जा कर निर्वाण के लिए है। "यह कौन सा मध्यम-मार्ग तथागत ने खोज निकाला है?", वह तो यही अष्टांगिक मार्ग है, जैसे कि-

1. सम्यक् दृष्टि, 2. सम्यक् संकल्प, 3. सम्यक् वचन, 4. सम्यक् कर्म, 5. सम्यक् जीविका, 6. सम्यक् प्रयत्न, 7. सम्यक् स्मृति, 8. सम्यक् समाधि। यह है भिक्षुओं! मध्यम मार्ग जिसको तथागत ने...... खोज निकाला है।

यह भिक्षुओं, (क) दुःख आर्य सत्य (यही सच्चाई) है। जैसे कि-जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है। अप्रियों का संयोग दुःख है, प्रियों का वियोग भी दुःख है। इच्छित चीज का नहीं मिलना

---

1. विपश्यना रिसर्च इन्स्टीट्युट, ओन-लाईन तिपिटक, www.tipitaka.org,

भी दुःख है। संक्षेप में, सारे भौतिक एवं अभौतिक पदार्थ (= पाँच उपादनस्कन्ध) ही दुःख है। (ख) भिक्षुओ, दुःखसमुदय (=दुःख उत्पन्न होने का कारण) आर्य सत्य है। यह जो तृष्णा है, जैसे कि-फिर से जन्म लेने की, खूश होने की, रागसहित जहाँ तहाँ प्रसन्नता प्राप्त करने की तृष्णा है। एवमेव, कामतृष्णा, भव (जन्म) तृष्णा, विभव (आत्मघात करने की) तृष्णा।। (ग) हे भिक्षुओ, दुःखनिरोध होने की सम्भावना है वह भी आर्य सत्य है। (वह कैसे हांसिल होगा?) इन्हीं तृष्णाओं से सर्वथा विरक्त हो जाने से, तृष्णा का निरोध (त्याग) करने से, उससे प्रतिनिस्सर्ग यानी मुक्ति (निलीन) प्राप्त कर लेने से सम्भव है। (घ) हे भिक्षुओ, यह है दुःखनिरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग (=दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्) भी चौथा आर्य सत्य है। और, यही अष्टांगिक मार्ग है। ....

"यह दुःख पहला आर्य सत्य है"-भिक्षुओ, यह न सुने धर्मो के विषय में मेरी आंख खुली है, मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, प्रज्ञा उत्पन्न हुई है, विद्या उत्पन्न हुई है, मुझे नया आलोक मिला हुआ है। यह मुझे पहले न सुने गये धर्मों में.. ...। (इत्यादि)

विनय-पिटक (महावग्ग की पंच वग्गीय कथा) के इस उद्धरण जैसे ही शब्द मज्झिम-निकाय में भी पुनरुक्त किये गये मिलते हैं। अब ध्यातव्य बिन्दु ये हैं कि-1. बुद्ध ने जिनको सब से पहला धर्मोपदेश दिया था, वे "पञ्च-वर्गीय भिक्षु" के नाम से निर्दिष्ट हैं। तथा उन पांचों में से केवल कौण्डिन्य को ही इस उपदेश को सुनते ही उसके धर्मचक्षु खुल गये, यानी उसको बुद्ध के तत्त्वदर्शन का सम्यक् बोध हो गया था।[1] (यह वही कौण्डिन्य है कि जिसने पहले "सिद्धार्थ केवल परिव्राजक ही बनेगा" ऐसा भाविकथन किया था।) 2. बुद्धत्व प्राप्त करके वे ऋषिपत्तन की ओर जा रहे थे तब उनको मार्ग में पहला "उपक" नामका आजीवक मिला था। जिसको उन्होंने कहा था कि मैं काशी नगर में धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए जा रहा हूँ। 3. उन पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने बुद्ध को "आवुसो"[2], "गौतम" जैसे संबोधन से पुकारा था। 4. तथा बुद्ध ने ही उन सब को ऐसा संबोधन नहीं करने को कहा था। क्योंकि, उन्होंने कहा कि अब मैं "तथागत" हूँ।। (द्रष्टव्यः-विनयपिटक, महावग्ग, अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1935, पृ. 80)

---

1. इमस्ममिञ्च प वेय्याकरणस्मिं भञ्जमाने आयस्मतो कोण्डञ्ञस्स विरजं वीतमलं धम्मचक्खु उदपादि।
2. आयुष्मान्, मित्र, भ्राता-Pali-English Dictionary, Ed.T. W.Rhys DeviosQ, Pali Text Society, 1952, p. 113

[4]

प्रतिनायक के रूप में देवदत्त की प्रवृत्तियाँ।

बुद्ध की जीवनयात्रा में देवदत्त नाम का व्यक्ति प्रतिनायक की भूमिका में सदैव कार्यरत रहा था-ऐसे अनेक सन्दर्भ विनयपिटक एवं ललितविस्तारादि में मिलते हैं। देवदत्त को यद्यपि सिद्धार्थ की बुआ का पुत्र कहा गया है। किन्तु वह चिरकाल तक सिद्धार्थ का द्वेषी ही रहा था। उसने एक बार किसी पक्षी का शिकार किया था, जिसको सिद्धार्थ ने सुरक्षित कर लिया था ऐसी परम्परागत कथा बहुशः संस्कृत में लिखे गये बौद्ध साहित्य में सुनाई पड़ती है। इस घटना के बाद, उसके मन में सिद्धार्थ के प्रति विरोध का अंकुरण होता है, जो आगे चल कर निरंतर वृद्धिंगत होता रहा है। त्रिपिटकों में या ललितविस्तर या जातक-कथाओं में यह प्रसंग कदाचित् नहीं मिलता है। सिद्धार्थ के विवाह का वर्णन भी त्रिपिटकों में वर्णित नहीं है, किन्तु वह ललितविस्तर में (शिल्प-संदर्शन-परिवर्त प्रकरण में) अवश्य मिलता है। वहाँ पर विवाह-विधि से पूर्व एवं पश्चात् उसने बाधाएँ डाली थीं। सिद्धार्थ के मार्ग में एक हाथी को मार कर, मार्ग को अवरुद्ध करने के लिए फेंक रखा था। बाद में सिद्धार्थ ने अपने पाँव के अंगुष्ठ से उसको सुदूर हटा दिया ऐसा कहा गया है:-

यथा मत्तगजेन्द्रगतीनामापादङ्गुष्ठतलेन गजेन्द्रम्।

सप्त पुरापरिखा अतिक्रम्य क्षिप्तु बहिःषु पुरादयं हि। श्लोक-355।

सिद्धार्थ उससे कभी विचलित नहीं हुए एवं उसके सामने साक्षात् टकराव में भी नहीं आये।

धर्मचक्र-प्रवर्तन के बाद– बौद्धसंघ का उत्कर्ष हुआ और साथ साथ में कैसी कैसी विपत्तियों से स्वयं बुद्ध गुजरे और उनके संघ में फुट पडाने के लिए भी जो प्रयास हुए उन सब का घटनाचक्र भी रोचक होने के साथ साथ, प्रस्तुत नाटक के चतुर्थ एवं पंचमांक के प्रवेशकों में निर्दिष्ट प्रसंगों को समझने के लिए ज्ञातव्य भी है:-

सारनाथ के मृगदव में जिनको प्रथम धर्मोपदेश दिया गया वे थे पञ्चवर्गीय भिक्षुओं। उन पाँच का पहला संघ बना। आरम्भ में तो, बुद्ध ने इन पाँचों को विभिन्न दिशा में जा कर बुद्ध के सद्धर्म का प्रचार करने का कार्य सोंपा। यदि किसी को बुद्ध का अनुयायी होने की इच्छा होवे तो वे ऐसे मुमुक्षुओं को बुद्ध के पास ले आते थे। और बुद्ध ही उस व्यक्ति को "उपसम्पदा" (=प्रव्रज्या) देते थे। इस क्रम में सब से पहले वाराणसी के एक धनाढ्य श्रेष्ठी का कुलपुत्र,

जिसका नाम यश था उसकी पहले प्रव्रज्या हुई थी। उसी यश की सिद्धि को देख कर उसके ही अन्य चार मित्रों ने भी बुद्ध के पास आ कर, प्रव्रज्या ले ली। उनके नाम थे:-विमल, सुबाहु, पूर्णजित और गवांपति। इस तरह से बौद्धसंघ में कुल 11 भिक्षुओं का समूह बना। तत्पश्चात् उसमें 50 जानपद (देहातियों) एवं गृहस्थों का समावेश हुआ। अब कुल संख्या हुई 61 की। उन सब ने अर्हत् पद को प्राप्त किया था।। किन्तु भगवान् बुद्ध ने अब इन 60 भिक्षुओं को अन्य मुमुक्षुओं को प्रव्रज्या देने की अनुमति दे दी। क्योंकि ये सारे भिक्षु भिन्न भिन्न ग्रामों में घूमते थे और वहाँ से नये नये व्यक्तियों को पास ले आने में दोनों को कष्ट होता था। अतः बुद्ध ने उपसम्पदा (प्रव्रज्या) देने की विधि को नियमबद्ध कर दी और तदनुसार नवीनों की प्रव्रज्या होने लगी।।

तीसरे दौर में, तीस भद्रवर्गीय गृहस्थों ने प्रव्रज्या ली। बाद में, गुरु संजय को छोड कर, शारिपुत्र और उसका मित्र मौद्गल्यायन बौद्धसंघ में प्रव्रजित हुए। उन दोनों की प्रव्रज्या के अनुपद, संजय के 250 शिष्य भी चले आयें। तथा वाराणसी में महाकाश्यप जटिल, नदीकश्यप तथा गयाकाश्यप नाम के तीन भाइयों, जो उस समय अग्निहोत्र चला रहे थे वे अपने अपने 500 + 300 + 200 = 1000 शिष्यों को लेकर, बौद्धसंघ में प्रविष्ट हो गये। (अब संघ में भिक्षुओं की संख्या 1343 हो गई।) यद्यपि यह महाकाश्यप इतनी सरलता या शीघ्रता के साथ बौद्ध भिक्षु नहीं बना था। पंदरह दिन बुद्ध ने उस काश्यप के अग्निशरण स्थान में निवास करके, बहुविध चमत्कार किये थे। तत्पश्चात् वह प्रभावित हुआ था और प्रव्रज्या ली थी। लेकिन शायद यह वही व्यक्ति है कि जिसने ही भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद, सभी भिक्षुओं को एकत्रित करके, पांचसौ अर्हतों, उपालि और आनन्द के पास बुद्धवचनों का पप्रथम संगायन करवाया था। आनन्द ने "एवं मे श्रुतम्, भिक्खवे" शब्दों से आरम्भ करके, सभी सुत्तों का गान किया। उससे "सुत्तपिटक" का पाठ पहली बार तैयार हुआ। एवं उपालि ने बुद्ध के द्वारा सभी भिक्षुओं के लिए जिन करणीय और अकरणीय कार्यों के नियम बनाये थे, उनका गान किया। इससे "विनयपिटक" का प्रथम बार पाठ निश्चित हुआ।

इसके बाद, श्रेष्ठी अनाथपिण्डक की प्रव्रज्या हुई। जिसने सुवर्णमुद्राओं से समग्र जेतवन को आच्छादित करके, उस स्थान की जमीन खरीद ली और संघ के साथ भगवान् बुद्ध के निवास के लिए विहार बना कर, गुरु के चरणों में समर्पित किया। अब, (महानाम का अनुज भ्राता) अनुरुद्ध, भद्रिक आदि पाँच शाक्य कुमार, छट्ठा देवदत्त और सातवाँ उपालि नामका हजाम-इन सातों की प्रव्रज्या होती है। (उन छह ने पहले तो रास्ते में ही अपने किंमती वस्त्राभूषण और सुवर्णालंकार निकाल कर, उनकी हजामत करने वाले उपालि को भेट कर दिया।

तथा घर वापस चले जाने को कहा। किन्तु उपालि ने रास्ते में सोचा कि मैं क्यों सद्धर्म से वंचित रहूँ? और इन सुवर्णालंकार लेकर घर वापस भी जाउँगा तो शाक्य-प्रजा क्रोधी है। शायद मुझे ही मार डालेगी। अतः वह बुद्ध के विहार की ओर फिर से जाना शुरू कर देता है। उसके पास जो किंमती वस्त्राभूषण तथा सुवर्णालंकार थे उनको मार्ग के बीच में खडे वृक्षों की शाखाओं पर टांग दिये और लिख दिया-"जो देखे, उसको दे दिया-ऐसा समझ लेना"! वह खाली हाथ बुद्ध के पास पहुँचा। उन छह भद्रिक शाक्य कुमारों ने बुद्ध से प्रार्थना की कि इस हजाम उपालि को ही पहले प्रव्रज्या दो, ताकि हम उसकी वन्दना करें। ऐसा करने से हमारा अभिमान, गर्व, अहंकार का मर्दन होगा। फिर हम प्रव्रज्या के लिए योग्य बनेंगे। लेकिन इन सातों में जो देवदत्त ने प्रव्रज्या ली थी, वह सद्-आशय से नहीं ली थी। वह तो अन्दर से भगवान् बुद्ध का द्वेष करने वाला था। (बहुत पहले से ही उसने बुद्ध के साथ वैर बांध रखा था।) तथा स्वयं महन्ताई भी करना चाहता था। अतः वह क्रमशः अपनी चाल चलने लगा, जैसे कि-

1. उसने बुद्ध को सब से पहले कहा कि आप वृद्ध हो गये हैं, आप निवृत्त हो जाईए, तथा मुझे संघ का नेतृत्व सोंप दीजिएगा। बुद्ध ने कहाः-मैं मेरे संघ का नेतृत्व तो शारिपुत्र और मौद्गल्यायन को भी नहीं सोंप सकता, तो तुम्हें कैसे वह दे दूँ? [विनय-पिटक के चुल्ल वग्गो में संघभेद-स्कंधक में आये हुए मूल पालि के शब्द इस तरह के है:- *जिण्णो दानिं, भन्ते, भगवा वुड्ठो महल्लको अध्वगतो वयो अनुप्पत्तो। अप्पोस्सुक्को दानिं, भन्ते, भगवा दिठ्ठधम्मसुखविहारं अनुयुत्तो विहरतु, ममं भिक्खु-संघं निसज्जतु। अहं भिक्खुसंघं परिहरिस्सामि त्ति। (बुद्धः-) अलं देवदत्त, मा ते रुच्चि भिक्खुसंघं परिहरितु न्ति। दुतियं पि देवदत्त, ततीयं पि खो, भगवन्तं एतद् अवोचत।।*]

2. देवदत्त ने बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु को उकसाया। उसको समझाया कि आजकल लोग अल्प-आयुष्य वाले भी होते हैं। हो सकता है कि तू पहले मर जाय और कभी राजा ही न हो पावे। अतः तू पिता बिम्बिसार का वध करके राजत्व प्राप्त कर ले। अजातशत्रु ने पिता की हत्या करने का प्रयास तो किया, लेकिन पकडा गया। फिर भी पिता बिम्बिसार ने उसको बुला कर पुछा-तू ने ऐसा कृत्य क्यूं किया? तू क्या चाहता है?। उसने कहा मैं राजगादी चाहता हूँ। पिता ने तुरंत राजगादी उसको सोंप दी। (यह वही बिम्बिसार है, जिसने सिद्धार्थ को गृहत्याग के बाद, अपना आधा राज्य देने का प्रस्ताव रखा था।)

अब, देवदत्त ने अजातशत्रु के राजा बनने के बाद, चालाकी करके अजातशत्रु को प्रभावित किया और बुद्ध की हत्या करवाने के लिए किसी व्यक्ति को भेजने की योजना बनाई। बुद्ध को मार डाल कर जब वह व्यक्ति वापस आये

तो, उसको भी रास्ते में ही मरवा देने का भी आयोजन उसने कर लिया था। किन्तु भगवान् बुद्ध ने अपने योगबल से सब कुछ जान लिया और उस हत्यारे को अपने वश में कर लिया। तथा देवदत्त ने उसको भी मरवाने की जो योजना बनाई थी, उसको भी विफल कर दी। उस हत्यारे को जीवनदान मिल गया।

3. अब, स्वयं देवदत्त ने बुद्ध की हत्या करने का कार्य अपने ही हाथ में ले लिया। जब बुद्ध गृध्रकूट पर्वत की तराई में चंक्रमण कर (टहल) रहे थे, तब देवदत्त ने उपर से एक बडी शिला को नीचे, बुद्ध के मस्तक पर गिरा दी। किन्तु भाग्यवशात् शिला दो पर्वतकूटों के बीच में ही फंस गई। तथापि उस शिला का एक छोटा सा खण्ड तो नीचे गिरा ही, जिसके द्वारा बुद्ध के पाँव में चोट आई और रुधिरपात होने लगा।

4. देवदत्त ने बुद्ध से एक बार मिल कर, संघ के नियमों को अधिक कठोर बनाने की सलाह दी। क्योंकि वह सोचता था कि ऐसा करने से वह कुछ भिक्षुओं को बुद्ध के विरुद्ध (द्वेषी) कर देने में सफल हो जायेगा। और उन असंतुष्ट भिक्षुओं को बुद्ध से अलग करके, वह उनका नेतृत्व शुरू करने लगेगा। किन्तु बुद्ध ने कहा मेरे संघ में अभी तक तो कोई दोष ने प्रवेश किया नहीं है, फिर भला मैं क्यूं अनुशासन के नियमों को ओर ज्यादा कठोर बनाऊँ?। (देवदत्त ने संघ में विभेद खड़ा करने की जो प्रवृत्तियाँ की थीं उनका वर्णन *लाभसत्कार-संयुत्त* के *छत्तीसवे* सुत्त में विस्तार से कहा गया है। तथा देवदत्त को कालान्तर में अपने पापकर्मों का पश्चात्ताप हुआ था, लेकिन वह बुद्ध के सम्मुख जाकर, क्षमा-याचना करें उसके पहले ही मरणशरण हो गया था।) देवदत्त भेदनीति का आश्रयण करके, बुद्ध के कुछ भिक्षुओं को जब अपने साथ ले गया और स्वतन्त्र रूप से नये संघ की स्थापना करके, भोग-सत्कार सामग्री इकट्ठी करने लगा। इस हकीकत को जान कर, बुद्ध ने शारिपुत्र को कहा कि उन भिक्षुओं पर दया करके, उनको सही मार्ग पर ले आना चाहिए। तुम और मौद्गल्यायन जाय, और हमारे भिक्षुओं को विनष्ट होने से बचा लीजियेगा। शारिपुत्र ने यह कार्य कैसे सम्पन्न किया?-वह निम्नोक्त पेरेग्राफ में बताया है:-

विनयपिटक के चुल्लवग्ग के ततियभाणवरो में देवदत्त के संघभेद करके, बुद्ध के पांच सौ भिक्षुओं के कानभरे और संघ में फुट पडाई थी। वह उन सब को अपने साथ गयाशीर्ष (गया) ले गया था। यह बात जब बुद्ध ने जानी तब शारिपुत्र को यह जिम्मेवारी सोंपी गई कि तू और मौद्गल्यायन उस देवदत्त के पास जाय। तथा हमारे पलायित हुए सभी भिक्षु पुनः उपसंपदा पावे ऐसा कुछ करो। दोनों शिष्य देवदत्त जहाँ धर्मोपदेश कर रहा था, वहाँ पहुँचे। दोनों को आते देख देवदत्त ने मूढता से ऐसा मान लिया कि शारिपुत्र और मौद्गल्यायन बुद्ध को

छोड कर, मेरी शरण में आ गये है! अब, उस आलसी देवदत्त ने शारिपुत्र को कहा कि मैं धर्मोपदेश करते करते थक गया हूँ, अब तू उनको उपदेश कर। क्योंकि मेरी पीठ अगिया गई है, (बैठे बैठे पीठ में पीडा हो रही है) तो थोडी देर मैं लम्बा पडता हूँ। ऐसा कह कर, वह थोडी ही देर में निद्राधीन भी हो गया। इस मौके का उपयोग करके, शारिपुत्र ने उन भ्रमित हुए सभी भिक्षुओं को सही मार्ग का उपदेश दिया। दूसरी ओर, मौद्गल्यायन ने अपनी यौगिक ऋद्धिओं का प्रभाव भी डाला। इस तरह से उन दोनों ने भ्रमित किये गये उन भिक्षुओं की घरवापसी करवाई।। (द्रष्टव्य-अंक 5, श्लोक-1)

5. अब, देवदत्त ने किसी हस्तिपक को साधा। उसके "नालागिरि" नाम के उन्मत्त हाथी को बुद्ध के मार्ग पर दौडा दिया। लेकिन बुद्ध ने उसके सामने मैत्रपूर्ण नेत्रों से देख कर ही, शान्त कर दिया। वह हाथी भी विनम्र होकर, भगवान् के चरणों की धुलिका को मस्तक पर चढा कर, विपरीत कदमों से चल कर, सीधा अपने आप हस्तिशाला में चला गया। तब नगरजनों ने प्रशंसा करनी शुरू की कि-कोई दण्ड से, कोई अंकुश से, कोई दमन से, शस्त्र से हाथी को नियन्त्रित करता है। परन्तु महर्षि बुद्ध ने तो बिना किसी दण्ड से ही नालागिरि का दमन कर दिया है।[1]

6. बुद्ध जब कपिलवस्तु में एक बार भिक्षाटन करते हुए आये और अपने ही घर पहुँचे, तब पिता शुद्धोदन ने पुत्रवधू यशोधरा ने सिद्धार्थ के गृहत्याग बाद, विरही-अवस्था में भी पतिव्रत का कठोर पालन किया है-वह बताया। साथ में यह भी कहा कि सिद्धार्थ ने गृहत्याग कर लिया, तो देवदत्त ने यह सोचा कि चलो मैं ही यशोधरा के साथ विवाह कर लूँ। देवदत्त ने इस दुष्ट-आशय से यशोधरा के पास विवाह का प्रस्ताव भेज भी दिया। लेकिन, शुद्धोदन बताते हैं कि यशोधरा ने तिरस्कारपूर्वक उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। (शुद्धोदन यही बताना चाहते थे कि यशोधरा उच्च कोटि की पतिव्रता धर्मपरायण पत्नी है।)

इस बात को सुन कर, वहाँ पधारे बुद्ध ने एक अतीत कथा (=पूर्व जन्म की) सुनाई। इससे सम्बद्ध कथा का विस्तार जातक-कथा (क्रमांक-285) में किया गया है। इस अतीत कथा चन्द्र किन्नरयुगल की थी, जिसमें बोधिसत्त्व जब अपनी चन्द्रा नामकी किन्नरी को लेकर हिमालय के वनों में घूमने गये थे, तब किसी (अज्ञात नाम के) राजा ने चन्द्र किन्नर की हत्या की थी और चन्द्रा किन्नरी

---

1. विनयपिटक में- *दण्डेनैके दमयन्ति, अङ्कुशेन कशया च।* अदण्डेन, अशस्त्रेण, नागो दान्तो महर्षिणा। इसी प्रसंग के आधार पर "जय मंगला अष्ट गाथा" में बुद्ध का जयकार वर्णित किया है।

से विवाह का प्रस्ताव किया था। किन्तु किन्नरी ने उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। भगवान् ने इस अतीत कथा का वर्तमान कथा के साथ मेल बिठाते हुए बताया कि वह चन्द्र किन्नरी तो यही यशोधरा है और चन्द्र किन्नर तो मैं बोधिसत्त्व ही था। इससे सूचित होता है कि अतीत-कथा में जो अज्ञात राजा का उल्लेख है, वह वर्तमान काल का देवदत्त ही है। बुद्ध के जीवन में एक ओर अमूर्त (विकृत मनोवृत्तियाँ स्वरूप) प्रतिनायक "मार" खडा था, तथा दूसरी ओर तत्कालिक समाज का एक दुष्ट ईर्ष्यालु व्यक्ति, देवदत्त[1] प्रतिनायक बन कर कार्यरत रहा था।।

देवदत्त के इस तरह से मत्सर-प्रेरित दुष्कर्मों से कुछ समय के लिए भगवान् बुद्ध का जीवन संशय में पड गया था। तथा संघ की एकता भी भयग्रस्त बनी रही थी। यद्यपि शारिपुत्र की कुशलता के कारण उन गुमराह किये गये बौद्ध भिक्षुओं को पुनरपि बुद्धसंघ में वापस भी लाये गये थे। इन प्रसंगों को देखने मालूम होता है कि बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन में कितने सारे बाधक तत्त्व सक्रिय थे।

धर्मचक्र-प्रवर्तन की अपूर्व एवं अद्वितीय ऐतिहासिक घटना में इतनी सारी अवरोधक परिस्थितियों थी, उनमें कुल तीन प्रमुख बाधक तत्त्व दृष्टिसमक्ष आ रहे हैं:-

(क) पारलौकिक दृष्टि से मार के साथ हुआ युद्ध,

(ख) बुद्ध की हत्या करने और करवाने के देवदत्त के हिंसक प्रयास तथा उसकी कूटनीति से भरे प्रयासों से, संघ में फुट पडाने में सफलता और

(ग) बुद्ध के समकाल में स्त्रियों की सुरक्षा के विषय में प्रवर्तमान सामाजिक स्थिति में नारियों को संघ में प्रवेश की अनुमति देने में मन में रही हिचकिचाट। ये तीनों ही अवरोध कालक्रम से क्रमशः विगलित हुए, जिससे धर्मचक्र-प्रवर्तन का महान् कार्य अन्ततो गत्वा सम्पन्न होता है।।

[5]

बुद्ध के कतिपय निर्णयों से संलग्न विवाद।

बोधिप्राप्ति पर्यन्त की यात्रा से जुड़ी कुछ अन्य जानकारियाँ एवं जो विवाद

---

1. किसी ने देवदत्त को सिद्धार्थ की बुआ का पुत्र कहा है,तो धर्मानन्द कोसम्बी ने उसको बोधिसत्त्व का साला कहा है। (किन्तु जातक-कथाओं में निरूपित की गई चन्द्र-किन्नर-युगल की कथा को देखते हुए-त्रिपिटकों का बताना एवं जातक-कंथाओं का बताना समान नहीं है।)

चल रहे हैं-उनका भी आंशिक निरूपण करना आवश्यक है। क्योंकि ख्यात इतिवृत्त में नवीन दृष्टि का प्रवेश होना न केवल आवश्यक होता है, अनिवार्य भी होता है। इस नाट्यकृति की रचना में जिस नवीन दृष्टि से काम लिया गया है उसका विवरण तो प्रस्तावना में दिया हुआ है। लेकिन इस विषय में भूतकाल में जो मतमतान्तर प्रकाशित हुए हैं उनका आंशिक परिचय देना उचित होगा:-राजकुमार सिद्धार्थ ने गृहत्याग किया उस हकीकत के मूल में क्या तथ्य रहा था? इस प्रश्न को लेकर प्रारब्धवादी लोग कहते हैं कि उनकी जन्मकुण्डली में ही वैराग्य एवं गृहत्याग के योग लिखे थे। और वह ज्योतिषशास्त्रीय फलकथन भी द्विधात्मक था। "यह बालक सम्राट् चक्रवर्ती बनेगा अथवा महासंन्यासी बनेगा"। ज्योतिर्विदों के इस भाविकथन से डरे हुए पिता ने उसको अस्वाभाविक रूप से संवर्धित किया। जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि जब उस बालक ने 29 वर्ष की आयु में पहली बार जरा, व्याधि, मरण का साक्षात्कार किया तो वह अन्दर से विचलित हो गया। इस लिये उसने गृहत्याग किया। यदि अर्धदग्ध ज्योतिषियों ने ऐसा द्विधात्मक भाविकथन न किया होता तो सम्भवतः दूसरे तरह का जीवन आकारित हुआ होता।।

प्रारब्धवाद के अलावा, दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि यह बालक मातृ-सुख से किञ्चित् वंचित रहा हो। जिसके कारण कोई अकथित उदासी उसके मन में डटी रही हो, वह बालक अन्तर्मुख होता चला गया हो, (जिसकी सुध उनके पिता को भी न मिली) जो भविष्य में वैराग्य का वटवृक्ष बन जाता है। इस बात की पुष्टि इससे होती है कि स्वयं बुद्ध ने अपने शिष्य सारिपुत्त को बताया था कि वे बचपन में जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुआ करते थे। जिसका पुनः स्मरण होने पर उन्होंने शरीरयात्रा के लिए आवश्यक अन्न ग्रहण करने का भी निर्णय लिया और वे बोधि को प्राप्त कर पाये। इसी को मध्यम मार्ग का नाम दिया गया है। बौद्ध साहित्य की अन्य कृतिओं में बताया है कि-तपश्चर्या के दिनों में उन्होंने किसी गायिका के मुख से "वीणा तन्त्री को न शिथिल छोड़ना या न तो बहुत खींच के रखना" इस तरह से "मध्यम मार्ग" का परोक्ष बोध प्राप्त किया था, लेकिन इस वीणा की उपमा का विनियोग भगवान् बुद्ध ने एक धनाढ्य सोण कोळिविस की प्रव्रज्या के सन्दर्भ में किया था। (जिसके लिए द्रष्टव्य है:-विनयपिटक के महावग्ग के चर्मखन्धक में आये सोण कोळिविस की पब्बज्जा का प्रसंग।)

बुद्ध के गृहत्याग के कारणों की मीमांसा करते हुए प्रॉफे. श्रीसूर्यप्रकाश व्यास जी ने लिखा है कि-"यह गृहत्याग साधारण नहीं, असाधारण था। यह अपने दायित्वों से पलायन नहीं था। युवराज से भावी राजा बनने के अवसर का त्याग

था। माता-पिता, पत्नी-पुत्र और सुख-सुविधाओं का त्याग था और केवल त्याग ही नहीं था, अथवा केवल वैराग्यभाव ही नहीं था। बल्कि संकल्पविशेष के साथ किया हुआ त्याग था। अर्थात् इस घटना में सर्वत्याग, दृढ वैराग्य और उदात्त लक्ष्य प्राप्त करने का संकल्प भी था। इसलिए इसे महाभिनिष्क्रमण नाम दिया गया।

अब इसका कारण चार ऐसे दृश्यों को बताया जाता है तो इसे एक पक्ष उचित नहीं मानता, क्योंकि पूरी सम्भावना है कि 29 वर्ष के विस्तृत कालखण्ड में ऐसे सामान्य (आम) दृश्य उन्होंने पहले भी देखे होंगे। इसलिये इन दृश्यों को महाभिनिष्क्रमण का कारण नहीं माना जा सकता। यह बुद्धकथा के रचनाकारों की कल्पना प्रतीत होती है।

दूसरा पक्ष यह कहता है कि वे अपने 13 वर्ष के दाम्पत्य जीवन की वासनाओं से ऊब चुके थे। इसके फलस्वरूप उनमें सांसारिक जीवन से विरक्ति का भाव जागा। तीसरा पक्ष धर्मानन्द कोसम्बी और काका साहब कालेलकर का है। इसके अनुसार शाक्य और कोलिय गणराज्यों के बीच बहने वाली रोहिणी नदी (के जल) का विवाद बार-बार उग्ररूप ले लेता था। गणराज्यों के परस्पर युद्ध, राजपरिवारों में धन और सत्ता के प्रति आपसी टकराव तथा जनता में कलह को देखते हुए बुद्ध का मन उसी तरह व्याकुल हो रहा था जैसे बिना पानी के मछलियाँ छटपटाती हैं। उन्हें लगा समाज की यह प्रवृत्ति कभी नहीं रुकेगी। दूसरी ओर दो विवाद-कर्ताओं में से किसी एक पक्ष का समर्थन करना भी उन्हें उचित नहीं लगा क्योंकि इससे विवाद शान्त होने के स्थान पर बढ़ जाएगा। युद्ध और कलह का वातावरण उनकी शान्त प्रकृति के विरुद्ध था। इसलिए उन्होंने इन सब से अपने आपको सर्वथा अलग कर लिया। कौरव-पाण्डव युद्ध में बलराम ने भी तो ऐसा ही किया था।। ऊपर बताए प्रसंगों में से एक हो या ये सभी हो या इनसे भिन्न कोई और हो। सामान्यजन के लिए इतना जानना ही आवश्यक है। कारण का विवाद प्रबुद्ध इतिहासकारों पर छोड दिया जाना चाहिए।।"(पृ. 45-46)

उपर्युक्त तीसरी विचारधारा के अनुसार कहीं लोग उस घटना को पलायनवाद का नाम देते हैं। क्योंकि रोहिणी नदी के जल को लेकर कोलियों के साथ वैर चलता रहता था, तब सिद्धार्थ ने इस निमित्त से होने वाले सम्भवित युद्ध में शामिल होने से इन्कार कर दिया था। और इसी सन्दर्भ में उन्होंने गृहत्याग भी किया ऐसा कुछ सन्दर्भों से सूचित होता है। बुद्ध के जीवन की इन घटनाएँ ईसा पूर्व छठी शताब्दी की होने के कारण कुछ निश्चितता पूर्वक कहना मुश्किल है। लेकिन सिद्धार्थ जब पंच वर्गीय साधुओं के साथ तपश्चर्या कर रहे थे, तब भी किसी ने सिद्धार्थ को यह कहा था कि रोहिणी नदी का जलविवाद अब शान्त

हो गया है। अतः वे घर जा सकते हैं। किन्तु वे घर वापसी नहीं करते हैं। इस हकीकत से भी यह सिद्ध होता है कि सिद्धार्थ ने उस युद्ध करने से विमुख रहने के लिए गृहत्याग नहीं किया होगा। यहाँ पर दूसरा विचार बिन्दु, जो डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास जी ने दिया है वह भी उल्लेखनीय है:-"कुछ आलोचक बुद्ध के विचारों को इसलिए समाज के लिए हानिकारक मानते हैं कि वे समाज को पलायनवादी बनाते हैं। पलायनवाद का तात्पर्य है प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली व्यावहारिक और सांसारिक समस्याओं से संघर्ष करने के बजाय उनसे बचने और पलायन करके जंगल की ओर भागने या तपस्या में अपने आपको गुम कर देने से है।

बुद्ध के बारे में साधारण जानकारी रखने वाला व्यक्ति भी इस आरोप का समर्थन नहीं कर सकता। इसके विपरीत बुद्ध ने राजसुख और परिवार को इसलिए छोड़ा ताकि वे समाज की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान खोज सकें-तपोवन में छः वर्ष बहुत कठिनाई से व्यतीत कर उन्हों ने सम्बोधि प्राप्त की तो यह पलायन नहीं था। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे समाज की ही सेवा में लगे रहे। ऐसी विभूति को पलायनवादी अथवा असामाजिक कहना उनके प्रति अन्याय है।" (यूँ ही कोई बुद्ध नहीं बनता, पृ. 52-53)

स्त्री-सम्बन्धी तीन विवाद:-(क) बुद्ध ने अपनी पत्नी का त्याग क्यों किया? यह यशोधरा के प्रति उनका अन्याय ही है। इसीके साथ जुड़ा दूसरा बिन्दु यह भी उठाया जाता है कि बौद्ध धर्म में तीन रत्न गिनाये जाते हैं। 1. बुद्ध, 2. धर्म एवं 3. संघ। *(बुद्धं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।)* इनमें से जो तीसरा रत्न है-संघ, उसके सन्दर्भ में एक विवाद यह भी है कि-(ख) उन्हों ने काफी समय तक महिलाओं को प्रव्रज्या देने से निषेध किया था।(ग) तथा भिक्षुणियों के लिए बनाये गये जो नियम थे, वे पुरुष भिक्षुओं के नियमों की अपेक्षा से अधिक कठोर थे। मतलब कि बुद्ध स्त्री-स्वातन्त्र्य के प्रति भी उदार नहीं थे।

इन बिन्दुओं का समाधान निम्नोक्त दृष्टि से किया जा सकता है:-(क) सिद्धार्थ ने पुत्र एवं पत्नी का त्याग करते समय समष्टि के दुःखों के प्रति अपना ध्यान आकृष्ट किया था। और समष्टि के हित में, अन्ततो गत्वा व्यष्टि का हित भी यानी पुत्र और पत्नी का भी भला होने ही वाला था। तथा नीति विषयक सुभाषित में कहा गया है कि- *त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेद्। ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।* (कुल की रक्षा होती है, तो कुटुम्ब में से किसी एक को बलि चढ़ाया जा सकता है। ग्राम की रक्षा के लिए एक कुल का

विनाश सह्य है। पूरे जनपद की सुरक्षा का प्रश्न है तो एक ग्राम का विनाश सह्य बनता है, लेकिन अपने आपका हित करना है तो स्वयं के लिए तो समग्र पृथिवी का त्याग करना ही उचित है।) इन दृष्टियों से सोचेंगे तो सिद्धार्थ ने जो पुत्र एवं पत्नी का त्याग किया था वह युक्ति-संगत लगता है।

(ख)-(ग) रही बात स्त्रियों का संघ में प्रवेश करवाने की। और बुद्ध ने भिक्षुणियों को संघ में प्रवेश देने के बाद, जो कठिन नियम बनाये थे, वे स्त्री-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध है। (बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए नियम बनाया था कि-"भिक्षुणी को अकेले नहीं रहना। हाँ, यदि कोई भिक्षु अकेला रहना चाहता है तो वह रह सकता है।" तो यह हुआ पक्षपात।-रा. ब. शरच्चन्द्र दास, कोलकाता) ऐसा आक्षेप देने से पहले, हमें बुद्ध के काल और तत्कालिक समाज की स्थिति को भी ध्यान में लेना चाहिए। कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं कि बुद्ध के समय में स्त्रियों की सुरक्षा का प्रश्न चिन्ताजनक ही था। त्रिपिटक में एक प्रसंग है:-*"शुभा नामकी भिक्षुणी आम्रवन की ओर अकेली जा रही थी। मार्ग में किसी कामुक पुरुष ने उसको देख लिया। तो वह उसके रूप-सौन्दर्य की खुशामद करने लगा। शुभा ने उसको बहुत बार धर्म का उपदेश दिया। किन्तु वह व्यक्ति कामान्ध था। उसने भिक्षुणी के नेत्रों की प्रशंसा शुरू की। तब भिक्षुणी ने कहा-मेरे नेत्रों की सुन्दरता से ही मैं तुझे प्यारी लगने लगी हूँ, तो ले ये मेरा नेत्र। इतना बोलने के साथ भिक्षुणी ने अपनी अंगुलि से ही अपना नेत्र बाहर निकाल दिया और उसको देने लगी। भिक्षुणी के इस साहसिक कर्म से वह व्यक्ति घबरा गया और प्रणाम करते हुए क्षमा माँगने लगा।"* इस कथानक से दिखता है कि भिक्षुणी को अकेले रहने और कहीं आने-जाने पर क्यूँ पाबन्दियाँ लगाई होगी।

इस सन्दर्भ में, *चुल्लवग्ग* में यह प्रसंग निरूपित है कि बुद्ध ने किस संयोग में अपनी माता गौतमी महाप्रजापति को संघ में समाविष्ट करने की अनुमति शिष्य आनन्द के कहने से दी थी। कपिलवस्तु में जब माता ने प्रव्रज्या की माँग की तब बुद्ध ने निषेध किया था। तत्पश्चात् माता स्वयं अपना केशवपन करके, (यशोधरा सहित) अन्य शाक्य-स्त्रियों के साथ वैशाली में बुद्ध के पास चल कर आयी। शिष्य आनन्द ने देखा कि यात्रा के कष्टों से माता परिश्रान्त है और उनकी संघ में प्रवेश करने की इच्छा प्रबल है। तब आनन्द ने बुद्ध से पूछा कि-हे भदंत! क्या तथागत के द्वारा उपदिष्ट धर्मपथ पर चलने वाली स्त्री को अर्हत् पद मिल सकता है?, तो बुद्ध ने हाँ कहा। तब आनन्द ने तुरंत कहा कि-"जिस मौसी ने भगवान् को उनकी माता न रहने पर, दूध पिला कर, बचपन से लेकर संवर्धित किया उस माता की विनती को स्वीकारना चाहिए और स्त्रियों को प्रव्रज्या देनी चाहिए"।

तब भगवान् ने आठ नियमों के साथ स्त्रियों को भी प्रव्रज्या लेने की अनुमति दे दी। (यह आठ नियम *अंगुत्तर निकाय* के *अट्ठकनिपात* में निरूपित हैं) प्रव्रजित स्त्रियों के, भिक्षुणियों के संघ का नेतृत्व गौतमी महाप्रजापति के हाथ में दिया गया। इस संघ में क्षेमा (राजा बिम्बिसार की पत्नी) एवं उत्पलवर्णा (किसी व्यापारी की पुत्री) नामक दो भिक्षुणियाँ बहुत प्रसिद्ध भी हैं। तथा ये भिक्षुणियाँ कदाचित् धर्मोपदेश में भी बहु सफलता पूर्वक काम कर सकती थीं। [उदाहरणतया-एक पुण्णिका नामकी भिक्षुणी ने जब देखा कि एक ब्राह्मण सर्दी के दिनों में भी उषःकाल से पूर्व नदी में स्नान करने आता है। तब उससे पूछा कि भाई, तू प्रातःकाल में इतने शीत पानी में क्यूं स्नान करने आता है? तो ब्राह्मण ने बताया कि इस समय स्नान करने से पुण्यप्राप्ति होती है और पापकर्म विनष्ट होते हैं। पुण्णिका ने कहा कि-हे ब्राह्मण, किस अज्ञानी ने तुझे यह अज्ञान दिया कि प्रातःकाल में नदीस्नान करने से पाप धुल जाते हैं? यदि ऐसा होता तो जलचर मछलियाँ, घड़ियाल, सर्पादि सब स्वर्ग में ही जाने चाहिए। सच तो यह है कि नदी में सुबह होते ही स्नान करने से न पाप धुल जाता है, न पुण्य मिलता है। *(यस्स ब्राह्मण त्वं भीतो सदा उदकमोतरि। तमेव ब्रह्मे मा कासि मा ते सीतं छविं हने।)* जिस पापकर्म के डर से तू नदी में स्नान करने को आता है, वह पापकर्म ही छोड़ दे। इस ठंड़े पानी से शरीर को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस उपदेश को सुनने के बाद, वह ब्राह्मण "बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। बोलता हुआ प्रव्रजित हुआ।]

किन्तु भिक्षुणियों के संघ में प्रवेश होने के बाद, बुद्ध ने यह भी कहा था कि-"हे आनन्द, यदि स्त्रियों को इस धर्मविनय में प्रव्रज्या न मिली होती तो यह धर्म एक हजार वर्ष पर्यन्त बना रहता। परंतु स्त्रियों को इस पंथ में प्रवेश करवाने से यह सद्धर्म केवल पाँचसौ वर्ष ही टिक पायेगा।" यद्यपि भगवान् बुद्ध ने जिस भविष्य की आशंका व्यक्त की थी वह इतिहास के पन्नों पर कितनी खरी उतरी है? वह भी देखना चाहिए। हकीकत तो यही बोल रही है कि-बौद्धसंघ में अनेक ऐसी भिक्षुणियों के नाम अंकित हैं[1] कि जिन्हों ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने में

1. बौद्ध संस्कृति के इतिहास में अनेक भिक्षुणियाँ चिरस्मरणीय बनी हैं। जैसे कि, महाप्रजापति, यशोधरा, सुजाता, कोलियपुत्री सुप्रवासा, त्यागमयी माद्री, मागधी, महाप्रज्ञावती खेमा, अग्रदायिका विशाखा, सहृदया मेत्तिया, दासीपुत्री पूर्णिका, धारिणी, धम्मदीपा खुज्जुत्तरा, ब्राह्मणी आचार्य वेरहच्चानि, विनयधारिणी पटाचारा, जनपद-कल्याणी आम्रपाली (जिसके घर भिक्षान्न प्राप्त करने के लिए तो बुद्ध ने लिच्छवि राजाओं का निमन्त्रण भी अस्वीकार्य किया था), आत्मदर्शी मल्लिका, पुरोहितपुत्री दन्तिका, किसा गोतमी, धर्मपरायणा धनंजनी और चाण्डाल कन्या प्रकृति इत्यादि।।

भारी योगदान दिया है। जैसे कि-सम्राट् अशोक की पुत्री संघमित्रा। जिसके कारण सिंहल (श्रीलंका), ब्रह्मदेश (म्यानमार), कम्बोडिया आदि दक्षिण-पूर्वीय देशों में बौद्ध धर्म का सर्वाधिक प्रचार हुआ, वहाँ ही त्रिपिटकों को पहले लिपिबद्ध भी किया गया है। एवमेव, सिंहलीभाषा में सुरक्षित रही जातक-कथाओं को आचार्य बुद्धघोष पुनरपि पालि में रूपान्तरित करके, (जातकट्ठकथा के नाम से) भारत में वापस ले आ सके। इस तरह से, इतिहास इस बात का साक्षी है कि-भिक्षुणियों को संघ में प्रवेश करने की अनुमति देने का निर्णय तो बहुत उपकारक ही सिद्ध हुआ है। एवञ्च, इन स्त्रियों का संघ में प्रवेश करवाने का आदि-यश धर्मशीला यशोधरा एवं रानी महाप्रजापति को ही मिलना चाहिए। तदनन्तर ही, क्षेमा एवं उत्पवर्णा आदि भिक्षुणियों के नाम संकीर्तनीय हैं॥

प्रस्तुत नाटक के आरम्भ में ही सूत्रधार एवं नटी के संवाद में सूचित किया गया है कि-संसार-रथ को प्रवर्तित होने में जैसे स्त्री-पुरुष स्वरूप दो पहियों की अनिवार्य आवश्यकता है। वैसे, इस नाटक में दिखाया है कि भगवान् बुद्ध के धर्मचक्र को प्रवर्तित होने के लिए भी नारियों का संघ में प्रवेश अनिवार्य एवं परमोपकारक है। इस विचार के गुम्फन के साथ जुडे कुछ अन्य बिन्दु भी स्पष्ट करना जरूरी है:- सिद्धार्थ का विवाह सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न हुआ था। तत्पश्चात् तेरह वर्षों का दाम्पत्य जीवन भी गुजरा था, जिसमें एक पुत्र का जन्म भी हुआ है। और उनतीस वर्ष की आयु में वे गृहत्याग करते हैं। इन समय-सीमाओं का चित्र त्रिपिटकों से अनुमित हो सकता है। सिद्धार्थ के विवाह एवं दाम्पत्य-जीवन की कोई हकीकत त्रिपिटकों में रेखांकित नहीं हुई है। इस के लिए ललितविस्तर काव्यग्रन्थ उपकारक बनता है। इस में दो-तीन बिन्दु यहाँ उल्लेखनीय है:-1. सिद्धार्थ ने अपने विवाह के लिए कन्या की पसंदगी के समय ब्राह्मण, क्षत्रियादि कोई वर्ण-विशेष की ही कन्या होनी चाहिए-ऐसा नहीं मांगा था। उन्होंने तो सत्यवती, शीलवती एवं धर्मवती जो कन्या हो वह वरणीय है-ऐसा कहा है। 2. कन्या के पिता दण्डपाणि ने, अपनी पुत्री को देने के लिए युवान् शिल्पज्ञ होना चाहिए ऐसी शर्त रखी थी। तब लिपिशाला के अध्यापकों ने आकर कहा था कि यह पुत्र आजन्म सब कुछ सीख कर आया है, अत: उसके शिल्पज्ञ होने की किसी भी परीक्षा में वह उत्तीर्ण होगा ही। फिर भी दण्डपाणि की सभा में सिद्धार्थ की शिल्पज्ञता की परीक्षा ली जाती है। उसमें अश्व-संचालन, मल्लयुद्ध, धनुर्विद्या, ग्रन्थ-रचना, काव्यकरण, चित्रकरणादि शामिल थे। विशेष रूप से गणित विषयक विविध संख्याओं की जानकारी, उनका वर्गीकरणादि सब कुछ पुछा जाने पर, सिद्धार्थ उसकी विस्तृत जानकारी प्रदर्शित करता है। (इस प्रसंग को नाटक का विषय नहीं बनाया गया है।) 3. लग्नोत्सुक कन्या यशोधरा

ने भी अपनी ओर से एक शर्त रखी थी कि यदि मुझ में शील, गुण एवं अप्रमाद है तो मैं क्यूं अवगुण्ठन लगाऊँ? अतः वह ससुराल में अवगुण्ठन यानी घूंघट नहीं लगायेगी।[1] (इसी से उसके स्वतन्त्र मिजाज का अनुमान किया जा सकता है। वह जब एक राजकुमार के साथ विवाह-सम्बन्ध से जुड़ रही है तो वह रानी बन कर, राजकार्य चलाने में अपना भी योगदान देने में मानसिक रूप से संनद्ध होगी। प्रस्तुत नाटक में इस बिन्दु का इशारा रखना आवश्यक समझा है। तथापि भगवान् बुद्ध के गौरव को कोई क्षति न पहुँचे इसके लिए, रंगमंच पर उन दोनों के विवाह-प्रसंग का कोई दृश्य नहीं रखा है। यह केवल एक हकीकत के रूप में, नेपथ्योक्ति से मात्र सूचित किया गया है।।

तथा यशोधरा के "सहधर्मचारिणी" स्वरूप को प्रकट करने के लिए रोहिणी नदी के जलविवाद के प्रसंग में वह सिद्धार्थ के मत का अनुमोदन करती है-ऐसा दिखाया है। उस सन्नारी में भी धर्म एवं करुणा सूक्ष्म रूप से जागृत रही होगी-वह उसके "धरातले तु प्रवहन्ति नद्यः सर्वेषां कृते" वचन से प्रमाणित किया गया है। सिद्धार्थ ने इसी धर्मपरायणता को तत्क्षण पहचान भी लिया था, और उसी स्व-भाव को ध्यान में लेते हुए, वह गृहत्याग करने का समय आता है, तब यशोधरा की मूक-सम्मति है ही ऐसा मान लेता है। जो आगे चल कर, पंचम अंक में, नारी-जगत् को प्रव्रज्या की अनुमति दिलवाने के लिए, यशोधरा उसी वचन का विनियोग करती है। धर्मशीला यशोधरा के मुख में रखे गये इस वाक्य के द्वारा, बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन में समग्र नारी-जगत् की प्रतिनिधिभूत यशोधरा का अवदान उजागर करने का सोचा गया है। नाटक की प्रस्तावना में जो विचार बिन्दु सूत्रधार और नटी के संवाद में रखा था-उसकी परिणति ऐसे दिखाई है। यशोधरा की इस तरह की विचारधारा **थेरी अपदान** में संगृहीत निम्नोक्त[2] वचनों को देखते हुए निराधार नहीं रहेगी।।

सिद्धार्थ ने जब गृहत्याग किया तब वे एक पुत्र के पिता भी बन गये थे। तो प्रश्न उठता है कि वे अपनी जिम्मेदारी से निकल कर, पुत्रवात्सल्य को भूल कर कैसे गृहत्याग कर पाये?-यह भी विवाद का विषय है। प्रस्तुत नाटक में,

1. *यथा मह्यं शील-गुण-संवरु अप्रमादो वदनावगुण्ठनमतःप्रकरोमि किम्।* इन शब्दों से अवगुण्ठन-प्रथा का प्रत्याख्यान करती गाथाएँ 372 से 383 में देखी जा सकती है।, पृ.300-302
2. उपकार करने वाली, सुखदुःख में समान रहनेवाली, सद्-अर्थ दिखानेवाली एवं अनुकम्पाशील स्त्री ही सही स्त्री होती है-ऐसा कह कर आपने जिसकी स्तुति की है, वह मैं आपकी पूर्वाश्रम की पत्नी हूँ।। (यह उक्ति भद्रा कात्यायनी = यशोधरा के द्वारा प्रव्रज्या मांगते समय बुद्ध को कही गई है।)

बालावस्था में वे एक ओर से अन्तर्मुख बनते चले उसके पीछे माता महामाया की सात दिन में ही मृत्यु हो जाना एक प्रमुख कारण हो सकता है, तो वे जब गृहत्याग करते हैं, तब वे सोचते हैं कि-पुत्र राहुल के पास कम से कम उसकी माता यशोधरा तो है ही। जो मातृसुख उनको नहीं मिला था वह राहुल के पास तो है ही-इस विचार से शायद वे गृहत्याग कर पाये होंगे ऐसा इस नाटक में दिखाया है।। इति. दिक्।।

[6]

बोधि एवं निर्वाण का स्वरूप।

सिद्धार्थ ने कठिनतम तपश्चर्या एवं मारविजय के पश्चात् जिस सम्यक् संबोधि को प्राप्त किया उसका स्वल्प परिचय भी प्राप्त करने की पाठक को इच्छा होगी ही। अतः बौद्ध-साहित्य एवं बौद्ध-दर्शन के संमान्य प्रॉफेसर डॉ. श्री सूर्यप्रकाश व्यास जी के शब्दों को उद्धृत करना उचित रहेगा। उन्होंने अपने "*यूँ ही कोई बुद्ध नहीं बनता*" शीर्षक से लिखी पुस्तक में लिखा है:--जब बुद्ध को यह अनुभव हुआ कि मुझे साधना के माध्यम से ही बोधि प्राप्त करने की ओर अग्रसर होना है तो उन्होंने शरीर की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए ध्यान के चार प्रकारों पर अपने चित्त को क्रमशः केन्द्रित किया। एक-एक प्रकार का ध्यान करते हुए तथा आगे के स्तर की ओर बढ़ते हुए धीरे धीरे उन्होंने चारों प्रकार के ध्यानों में पूर्णता प्राप्त की। **प्रथम ध्यान** के फलस्वरूप उनकी पूर्व जन्मों की स्मृति शुद्ध हुई और उन्हें अपने पूर्व जन्मों के नाम, गोत्र, जाति, आहार, आयु तथा सुख-दुःख के अनुभवों का स्पष्टरूप से स्मरण हुआ[1]। **दूसरे लाभ के अन्तर्गत** उनको ऐसे दिव्य चक्षु प्राप्त हुए जिसके कारण वे अन्य सभी जीवों के नाम, गोत्र, जाति आदि को स्पष्ट देख सकते थे। **तीसरे लाभ** के अन्तर्गत उन्होंने देखा कि सभी प्राणियों को उनके कर्मो के अनुसार फल प्राप्त होता है अर्थात् अच्छे कर्म करने वाला स्वर्ग का सुख भोगता है और बुरे कर्म करने वाला नरक के दुःखों को भोगता है। इन सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, ध्यान के बल पर ही आगे बढते हुए उन्होंने चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त किया। **अगले लाभ के अन्तर्गत** उनको यह अनुभव हुआ कि इस संसार के चेतन और अचेतन पदार्थ घड़ी की तरह एक दूसरे को प्रभावित करते हुए आगे बढ़ते हैं। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद का पारिभाषिक नाम दिया गया। पुनः अगले ज्ञान में उन्हें यह

---

1. इस सन्दर्भ में, प्रस्तुत नाटक के पंचमांक (गर्भाङ्क) में चन्द्र-किन्नर-युगल की जातक-कथा रखी है और बुद्ध का तथागतत्व सिद्ध किया गया है।

अनुभव हुआ कि यह संसार बारह कार्य-कारणों के क्रम से चल रहा है। ये बारह कारण हैं-अविद्या-संस्कार-विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना-तृष्णा-उपादान-भव-जाति-जरामरण।

इन बारह कारणकार्यों की इस कड़ी में प्रत्येक कारण अग्रिम कार्य को उत्पन्न करता है और वह अग्रिम कार्य कारण बन कर आगे वाले कार्य को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अविद्या से प्रारम्भ हुई यात्रा मृत्यु की मंजिल तक पहुँचती है। इसमें हर पड़ाव पर दुःख और केवल दुःख ही है। इसलिये यदि इस लड़ी को तोड़ना है या दुःख से छुटकारा पाना है तो पहली आवश्यकता यही है कि अविद्या को विद्या यानी सम्यक् ज्ञान से दूर करना होगा। इसी ज्ञान अथवा सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। इस का सरल अर्थ है लड़ी की पहली कड़ी के न होने पर दूसरी कड़ी का भी नहीं होना। इसी ज्ञान से एक पूरक सिद्धान्त निकलता है जिसका नाम है-क्षणभङ्गवाद।।

संक्षेप में, यही बोधि बुद्ध को प्राप्त हुई। इसी बोधि के फलस्वरूप सिद्धार्थ बुद्ध बने और सम्बुद्ध, सम्यक् सम्बुद्ध, तथागत आदि कहे गये। वैसे सिद्धार्थ नाम भी यहाँ इस लिए सार्थक है कि बुद्ध ने अपने जीवन के बड़े प्रयोजन (अर्थ) को प्राप्त (सिद्ध) कर लिया है। इस बोधि प्राप्त करने के समय उनकी अवस्था 35 वर्ष की थी अर्थात् सिद्धार्थ से बुद्ध बनने कि यही यात्रा 29 वर्ष दो माह में प्रारम्भ हुई और 6 वर्ष बाद बोधि प्राप्ति के साथ पूरी हुई।। (द्रष्टव्य:-*यूँ ही कोई बुद्ध नहीं बनता*, लेखक-डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, उज्जयिनी, 2020, पृ. 22-24)

बौद्ध दर्शन में "निर्वाण" का स्वरूप:--यहाँ प्रासंगिकतया भगवान् बुद्ध ने जिस निर्वाण की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या की थी उसका स्वरूप भी जानना आवश्यक है। सामान्य बुद्धि से यदि सोचा जाय तो निर्वाण का मतलब होता है-(दीपक का) बुझ जाना। यानी देहावसान को भी निर्वाण कहा जा सकता है। लेकिन दूसरे सोपान पर, इस शब्द का जो दार्शनिक भूमिका पर मार्मिक अर्थ होता है-वह जानना जरूरी है। बौद्ध साहित्य के आरूढ विद्वान् श्री धर्मानन्द कोसाम्बी ने जो लिखा है, वह पठनीय है:-निर्वाण के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक तर्क किये हैं। कोई कहता है कि निर्वाण अर्थात् अभाव (Annihilation) मात्र, दूसरा कुछ नहीं। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। बौद्ध अनुयायीओं की संख्या इतनी अधिक है कि हम ऐसा नहीं मान सकते हैं कि वे अभाव की उपासना कर रहे हैं। यद्यपि बुद्ध जब विद्यमान थे तब उनके विरोधियों ने भगवान् बुद्ध को अक्रियावादी (Annihilationist) कह दिये थे। इस सन्दर्भ में, वज्जी के सेनापति सिंह ने बुद्ध से भी प्रश्न पूछा था। तब बुद्ध ने कहा था-हे सिंह, यह

(अक्रियावादी होना) आरोप एक अर्थ में सही है। कैसे?, तो-सभी पापी विचारों की (अकुशल संस्कारों की) अक्रिया मुझे पसंद है। इस तरह की अक्रिया का मैं उपदेश देता हूँ। इस लिए मुझे अक्रियावादी कहा जा सकता है। इससे विपरीत कोई ऐसा भी कह सकता है कि मैं क्रियावादी (Realist) हूँ, क्योंकि पुण्य विचारों की (कुशल संस्कारों की) क्रिया करना मुझे पसंद है। ऐसी क्रियाएँ करने का, एवं उनको पूर्णत्व तक पहुँचाने का, मैं उपदेश देता हूँ। अतः मुझे कोई क्रियावादी कहेगा तो मुझे इससे आपत्ति नहीं है। (यह संवाद अंगुत्तर निकाय में एवं महावग्ग में आता है।) इससे सूचित होता है कि बुद्ध ने अभाव प्राप्त करने का उपदेश नहीं दिया था।।

जम्बुखादक नामके परिव्राजक ने जब शारिपुत्र को "निर्वाण क्या है?" ऐसा प्रश्न किया था। तब शारिपुत्र ने कहा था कि- *यो खो आवुसो रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो इदं वुच्चति निव्वाणं।* अर्थात्-लोभ, द्वेष एवं मोह का जो क्षय उसी को निर्वाण कहते हैं।। इसका तात्पर्य यह होता है कि-हे आयुष्मान्! लोभ, द्वेष एवं मोह मन के ये तीन अकुशल धर्म (संस्कार) नष्ट होते हैं, उसीको निर्वाण कहते हैं।..... त्रिपिटकों में अनेक नामों से निर्वाण का उल्लेख किया गया है, किन्तु उसका विस्तृत वर्णन कहीं पर नहीं मिलता है। जिनके अन्तःकरण में से लोभ, द्वेष एवं मोह समूल नष्ट हुए हैं, अर्थात् जिनकी वासनाओं का क्षय हुआ है, वैसे महर्षियों को ही निर्वाण का साक्षात्कार होता है। ऐसे लोग ही निर्वाण क्या होता है-वह बता सकते हैं।।

पदमच्चुतमच्चन्तं असंखतमनुत्तरं।
निव्वानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो।। (अभिधम्मत्थसंगह)

"जिनकी वासनाओं का क्षय हुआ है वैसे महर्षि लोग ऐसा कहते हैं कि-निर्वाण अच्युत पद है, उसका अन्त नहीं होता है, वह अत्यंत परिशुद्ध है एवं लोकोत्तर है।"

विशेष में, श्रीधर्मानन्द कोसाम्बी ने कहा है कि-अर्हत् पद की प्राप्ति होने के बाद निर्वाण का साक्षात्कार होता है। तथापि सकल दुःखों का निःशेष नाश नहीं होता है। लोभ, द्वेष एवं मोह के कारण होने वाली मानसिक पीड़ा तो तुरंत ही नष्ट होगी, किन्तु शारीरिक दुःख तो यावत् जीवन रहेंगे ही। बुद्ध को छत्तीस वे वर्ष में निर्वाण पद का साक्षात्कार हुआ था। उसी समय उनके मन में लोभ, द्वेष एवं मोह से होने वाली मानसिक पीड़ा का नाश हो गया था। किन्तु शीतोष्ण, रोग इत्यादि के कारण होने वाले शारीरिक दुःखों का पूर्णतया विनाश नहीं हुआ था। अर्हतों के मरण को परिनिर्वाण कहते हैं। क्योंकि उनके लिए मरण के कारण होने वाले शारीरिक दुःखों का नाश होता है। लेकिन परिनिर्वाण के बाद अर्हत् कौन

सी स्थिति में होते हैं? इसका वर्णन कहीं पर नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति अनिर्चनीय ही कही जायेगी। भगवान् बुद्ध के निर्वाण को महापरिनिर्वाण ही कहा जाता है।।

(बुद्धचरित, धर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, पृ. 176)

[7]

उपेक्षा, मुदिता, मैत्री, करुणा, (अशुभ एवं अनित्यता)-नाम के"ब्रह्म-विहार" का स्वरूप।

भगवान् बुद्ध ने जनसामान्य में लडाई-झगडा, मारपीट, लूंट, राग-द्वेष-ईर्ष्यादि जनित अगणित दुःख पैदा होते हैं, उनको सर्वथा हटाने के लिए इन मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षादि के गुणों को विकसित करने का उपदेश दिया है। श्रीधर्मानन्द कोसम्बी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि मैत्री, करुणादि को स्पष्ट करने वाली पंक्तियाँ *करणीयमेत्त* सुत्त में मिलती है:-

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुनमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं।।1।।

मेत्तं च सब्बलोकेस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियं च असंबाधं अवेर असपत्तं।।2।।

तिठ्ठं चरं निसिण्णो वा सयानो वा यावदस्स विगतमिद्धो।
एतं सतिं अधिट्ठेय्य ब्रह्ममेतं विहारं इधमाहु।। 3।।

अर्थात्-"माता जिस तरह से अपने इकलौते पुत्र का परिपालन प्राणों का त्याग करके भी करती है, वैसे ही प्राणी मात्र के प्रति अपरिमित प्रेम से अपने मन को भर देना चाहिए।(1) मन में अपरिमित मैत्री की भावना करनी चाहिए। उपर, नीचे और चारों ओर प्रेम को प्रवाहित करना। प्रेम की कहीं पर भी रुकावट नहीं होनी चाहिए। प्रेम की दृष्टि में न कोई शत्रु होना चाहिए, न कोई प्रतिस्पर्धी होना चाहिए। (2), खडे़ हो, चलते हो, बैठे हो, या सोये हुए हो तब, जब तक नींद न आये तब तक मैत्री की भावना को सदैव जागृत रखनी चाहिए। क्योंकि पण्डित लोग उन्हीं को *ब्रह्म-विहार* कहते हैं"।।

इन गाथाओं का विवरण करते हुए श्री धर्मानन्द कोसम्बी लिखते हैं कि-यहाँ ब्रह्मदेव यानी मैत्री, करुणा, मुदिता अथवा उपेक्षा-इनमें से किसी एक तरह की मनोवृत्ति हो सकती है। माता जैसे दूध पी रहे अपने बालक का मैत्री (प्रेम) से पालन करती है, वह बीमार हो जाय तो करुणा से उसकी सेवा करती है, उसके बाद वह बालक जब विद्याभ्यास में चतुर, पटु होता है तो उसको देख

कर मुदित अन्तःकरण से उसकी पीठ को थपथपाते हुए शाबासी देती है, और वह बालक जब बड़ा हो कर अपनी स्वतन्त्र जिन्दगी शुरू करता है, तब कदाचित् माता के संस्कार से विरुद्ध वर्तन कर देता है तब वही माता उसकी उपेक्षा करती है, कभी उसका द्वेष नहीं करती है, और फिर भी उसको आवश्यकता पड़ने पर मदद करने को तत्पर भी रहती है-उसी तरह से महात्माओं को इन चार श्रेष्ठ मनोवृत्तियों से प्रेरित होते हुए, जनकल्याण करते रहना चाहिए। यहाँ पर जिस ब्रह्मदेव को पितामह कहा है, वे दूसरे कोई नहीं हो सकते, वे तो इन चार मनोवृत्तियों की साक्षात् मूर्ति ही हैं। अब, बुद्ध के सामने ब्रह्मदेव प्रकट हुए का मतलब क्या हुआ? तो, बुद्ध के मन में इन मनोवृत्तियाँ सुविकसित हुईं। जिसके कारण बुद्ध धर्मोपदेश करने के लिए तत्पर हुए।।

श्रीधर्मानन्द कोसम्बी ने दिया हुआ "ब्रह्म-विहार" का विवरण सुग्राह्य एवं आकर्षक होते हुए भी, इस विषय के विशेष जिज्ञासुओं को यह बताना आवश्यक है कि-भगवान् बुद्ध ने उपेक्षा, मुदिता, मैत्री एवं करुणा जैसी केवल चार भावनाओं का ही उपदेश नहीं दिया था। विनय-पिटक को देखने से मालूम होता है कि उन्होंने तो कुल षट् भावनाओं की भावना करने का उपदेश दिया था, और वह भी अपने पुत्र राहुल को। प्रासंगिक रूप से उसका परिचय दिया जाता है:--

भगवान् बुद्ध प्रारम्भ में यश, सारिपुत्त, मोग्गलान (मौद्गल्यायान) जैसे जो तत्त्वजिज्ञासु घर से बेघर=आगारिक से अनागारिक हो कर नये भिक्खु बनने के लिए आते थे तब उन को वे पहली शिक्षा तो ब्रह्मचर्यपालन की ही देते थे। तत्पश्चात् (विनयपिटक के अनुसार) दान-कथा, शीलकथा, स्वर्गकथा, कामवासनाओं का दुष्परिणाम, अपकार दोष और निष्कामता का माहात्म्य प्रकाशित करते थे। जिसको सुन कर शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्ति का चित्त प्रसन्न हुआ देख कर, उसमें बुद्धत्व को जगाने वाली देशना (= चार आर्य सत्य) देते थे। जिसमें क्रमशः "दुःख, उसका समुदय, निरोध और मार्ग" जैसे चार आर्य-सत्य कहते थे। उसी तरह से बुद्ध ने अपने पुत्र, राहुल को जब शिक्षान्वित करने का कार्य किया तब उन्होंने उसको "आनापानि"= प्राणायाम की प्रारम्भिक विधि सम्पन्न होने के उपरान्त जो उपदेश दिया था उसमें उपेक्षा, मुदिता, मैत्री, करुणा, अशुभ एवं अनित्यता-नाम की षट् भावनाओं को विकसित करने का कहा था। इन छह भावानाओं से भावित हुए व्यक्ति को "चेतो विमुक्ति" प्राप्त होती थी। जिससे एक निश्चित प्रकार की मनःस्थिति पैदा होती थी, उसीको "ब्रह्मविहार" का नाम दिया गया है। त्रिपिटक एवं उन पर लिखे गये टीका-साहित्य में "मेत्ता-करुणा-मुदिता-उपेक्खा सहगतेन चेतसा..." जैसी पदावली में इन का उल्लेख बार बार मिलता है।।

मज्झिमनिकाय के भिक्खु वग्ग में "महाराहुलोवाद सुत्तन्त" में स्वयं बुद्ध ने अपने पुत्र राहुल को मैत्री, करुणादि षट् भावनाओं की निरंतर भावना विकसित करने को कहा है। इसके पालि-शब्दों का मूलपाठ इस तरह का है:- *(क) मेत्तं, राहुल, भावनं भावेहि। मेत्तञ्हि ते, राहुल, भावनं भावयतो यो व्यापादो सो पहीयिस्सति[पहीस्सति-इति पाठभेद:]।। (ख)करुणं, राहुल, भावनं भावेहि। करुणञ्हि ते, राहुल, भावनं भावयतो या विहेसा सा पहीयिस्सति।। (ग)मुदितं, राहुल, भावनं भावेहि। मुदितञ्हि ते, राहुल, भावनं भावयतो या अरति सा पहीयिस्सति।। (घ) उपेक्खं, राहुल, भावनं भावेहि। उपेक्खञ्हि ते, राहुल, भावनं भावयतो यो पटिघो सो पहीयिस्सति। (ङ) असुभं, राहुल, भावनं भावेहि। असुभञ्हि ते, राहुल, भावनं भावयतो यो रागो सो पहीयिस्सति।। (च)अनिच्चसञ्ञं, राहुल, भावनं भावेहि। अनिच्चसञ्ञञ्हिते, राहुल, भावनं भावयतो यो अस्मिमानो सो पहीयिस्सति।। आनापानस्सतिं, राहुल, भावनं भावेहि। आनापानस्सति हि ते, राहुल, भाविता बहुलीकता महाप्फला होति महानिसंसा।।*[1]

इन पालिशब्दों का अनुवाद ऐसा किया जा सकता है:-"(क) राहुल! मैत्री-(सब को अपना मित्र समझना)-भावना की तू भावना कर। मैत्री-भावना की भावना करने से राहुल, जो व्यापाद (=द्वेष) है, उससे तू छुट जायेगा। (ख) राहुल! करुणा (=सारे प्राणियों पर दया करना)-भावना की तू भावना कर। करुणा-भावना की भावना करने से राहुल, जो तेरी विहिंसा (=परपीडन करने की इच्छा) होगी, वह छुट जायेगी। (ग) राहुल! मुदिता (= दूसरों को सुखी देख प्रसन्न होना)-भावना की भावना कर। राहुल, जो तेरी अ-रति (ईर्ष्या करने की भावना) है, वह हट जायेगी। (घ) राहुल! उपेक्षा (=शत्रु की शत्रुता की उपेक्षा) भावना की भावना कर। राहुल, जो तेरा प्रतिघात (प्रतिहिंसा, वैरभाव) है, वह हट जायेगा। (ङ) राहुल! अशुभ (=सभी भोग बुरे हैं)-भावना की भावना कर। जो तेरा राग है, वह चला जायेगा। (च) राहुल, अनित्यसंज्ञा (=सभी पदार्थ अनित्य है)-भावना की भावना कर। जो तेरा अस्मिमान (अहंकार) है, वह छुट जायेगा।।राहुल! आणापान-सति (आनापान-स्मृति अर्थात् प्राणायम) भावना की भावना कर। आणापान-स्मृति भावना करना, उससे बढना वही राहुल, महाफलप्रद है। वही बडे माहात्म्य वाला है।।"(सामान्यतया हम श्वास के आने-जाने पर ध्यान नहीं देते हैं। लेकिन व्यक्ति यदि श्वास के आने-जाने की संख्या पर ध्यान देते हुए, उनकी गिनती करता रहता है तो भटकते चित्त की एकाग्रता सिद्ध हो सकती है।)

---

1. Vipassana Research Institute, www.tipitaka.org, Paragraph no. 120, page-51

विशेष विमर्शः-1. बुद्ध एवं राहुल के बीच में हुई उपदेश-कथा (महाराहुलोवाद सुत्तन्त) के दौरान बुद्ध ने कहा है कि-राहुल! तू मुदिता की भावना की भावना कर (उस भावना को मन में विकसित कर), जिससे तेरे मन में रही "अरति" का नाश होगा। यहाँ श्री राहुल सांकृत्यायन जी ने अरति शब्द का अर्थ "मन न लगना" तथा अन्यत्र-"कंटाला, कार्य करने में अरुचि" अर्थ किया है। किन्तु ऐसा अर्थ चिन्त्य लगता है। इस शब्द का अर्थ तो ईर्ष्या, असूया, मत्सर ही करना सुसंगत लगता है। यहाँ प्रश्न किया जायेगा कि ऐसा ईर्ष्या परक अर्थ ही क्यूं करना चाहिए। तो उसका समाधान ऐसा है कि-मार-विजय के प्रसंग में मार की विविध सेनाओं का जो परिगणन किया गया है (सुत्तनिपात, पधान सुत्त) उनमें 1. काम, 2. अरति, 3. क्षुधा-तृषा, 4. तृष्णा, 5. आलस्य, 6. कुशंका, 7. गर्व, 8. लाभ-सत्कार प्राप्त करने की इच्छा तथा 9. गलत रास्ते से प्राप्त की गई कीर्ति ये सेनाएं गिनाई गई हैं। इस सन्दर्भ को ध्यान में लेते हुए, अरति शब्द का अर्थ ईर्ष्या, असूया, मत्सर ही करना होगा। यह अरति नाम की भावना मुदिता नाम की भावना की विरोधिनी है-ऐसा मज्झिम निकाय के उपर्युक्त महाराहुलोवाद (भिक्खु वग्ग) के संवाद को देखते हुए निर्णीत किया जाता है।।

इस सन्दर्भ में, रायस डेवीड्सन एवं न्यानलोक के शब्दकोशों में प्रदर्शित किये अर्थ भी पुनर्विचारणीय है। मुदिता एक ऐसा गुण है कि जिससे व्यक्ति अपने मन को यदि भावित कर लेता है तो दूसरे व्यक्तियों के अभ्युदय, विजय, यश, समृद्धि आदि को देख कर, उसका मन राजी होता है, प्रसन्न होता है। जिसको अहैतुकी प्रसन्नता कही जा सकती है। यदि यह गुण जिसके चित्त में विकसित नहीं हुआ होगा तो, वह सामने वाले दूसरे व्यक्तिओं की कीर्ति, अभ्युदय, समृद्धि आदि को देखते ही, उसके मन में अरति = नाखूशी पैदा जायेगी। जिसके कारण, अन्ततो गत्वा सामने वाले व्यक्ति के प्रति उसके मन में ईर्ष्या, असूया, मात्सर्य पैदा होगा ही। जो विनाशकारी कार्य करवाती है। (भगवान् बुद्ध के संघ में दिन-प्रतिदिन नये नये भिक्षुओं का प्रवेश देख कर, प्रतिनायक देवदत्त के मन में भी अरति ही पैदा हुई थी। जिसके कारण उसने बुद्ध का वध करने का भी बहुविध प्रयास किया था।) इसी लिए बुद्ध ने राहुल को निरन्तर मुदिता की भावना को विकसित करने का उपदेश दिया है।।

विशेष विमर्श-2:-मनुष्यों के चित्त में आजन्म कतिपय वेदनाएं ऐसी स्थापित की है कि जो मनुष्यों को इस संसार में बहुविध प्रवृत्तियाँ करवाती हैं। वैदिक दर्शनों में इनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर के नाम से उल्लिखित की गई हैं। इन छह मनोवृत्तियों में उत्तर, उत्तरवर्तिनी मनोवृत्ति को बलवत् से बलवत्तर कही गई है। अर्थात् इन छह में मत्सर (ईर्ष्या) ही सर्वतो

बलवान् कहा गया है। तथा दार्शनिकों ने इनको मनुष्यों के "षड् रिपु" कहे हैं। किन्तु लौकिक दृष्टि से कहे तो ये मनोवृत्तियाँ संसारचक्र के चालक बल भी है।।

किन्तु भगवान् बुद्ध ने जिन छह भावनाओं को विकसित करने का उपदेश दिया है, वह अतिप्राचीन काल में विकसित हुआ अपूर्व तत्त्वदर्शन है। क्योंकि वेदकालिक ईशावास्यादि उपनिषदों की रचना पूर्ण होते ही, भगवान् बुद्ध का प्रादुर्भाव (ईसा पूर्व 483 से ईसा पूर्व 562) हुआ है। शायद उस समय काम-क्रोध-लोभादि षड् रिपुओं का (=नकारात्मक मनोवृत्तियाँ) विचार विकसित हुआ ही नहीं था, उनसे पहेले की जो सोच है वही बुद्ध के दर्शन में प्रतिबिम्बित हो रही है। ये मैत्री, मुदिता, उपेक्षा, करुणादि सकारात्मक परिणाम देने वाली षट् मनोवृत्तियाँ हैं। तथापि वैदिक दर्शनों में और बौद्ध-दर्शन में छह छह मनोवृत्तियों का परिगणन देखने से, प्रासंगिक रूप से इन दोनों मनोवृत्तियों की तुलना करने का भी मन होता है। जैसे कि, (क) बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित अशुभ की भावना को विकसित करने से राग नष्ट होगा ऐसा कहा गया है। इसी राग से ही षड् रिपुओं में जिनकी गिनती की जाती हैं वे काम, मोह और लोभ-ये तीन मनोवृत्तियाँ जन्म लेती है। एवं च, बुद्ध ने अनित्यता की भावना को विकसित करने का कहा है। उस के अभाव में षड् रिपुओं में जिसको मद[4] (अहंकार, अभिमान) कहा गया है वह मनोवृत्ति आकारित होती है। मुदिता की भावना को विकसित करने से, बुद्ध कहते हैं कि-अरति (ईर्ष्या, मत्सर[5]) का नाश होता है। करुणा की भावना को विकसित करने से, बुद्ध ने कहा है कि क्रोध[6] नामक (षड् रिपु में से दूसरी) मनोवृत्ति का नाश होगा। इस तरह से, बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अशुभ, अनित्यता, मुदिता और करुणा-इन चार भावनाओं से ही काम-क्रोधादि षड् रिपुओं का दमन हो जाता है। तत्पश्चात्, बुद्ध ने जो दो अन्य भावनाएं-उपेक्षा तथा मैत्री-बताई हैं, उनसे, (अपमान एवं असुविधा से जनित) वैर तथा द्वेष भाव का उन्मूलन होता है। इस दृष्टि से की तुलना से मालूम होता है कि-बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट ये षड् भावनाओं का मूल्य अनितरसाधारण है।। (ख) बुद्ध ने 1. उपेक्षा, 2. मुदिता, 3. मैत्री, 4. करुणा, 5. अशुभ और 6. अनित्यता की भावनाओं को उल्लिखित की है, जो हितकारक सिद्ध होने वाली मनोवृत्तियाँ है। वैदिक दर्शन में जिन छह की गिनती की गई है, वे विघातक मनोवृत्तियाँ के रूप में पहचानी गई हैं। अत एव, उनको "षड् रिपु" के रूप में भी व्याख्यायित की है। (ग) 1. उपेक्षा की भावना से चित्त आप्लावित हो जाने पर, बुद्ध कहते हैं कि वैर की भावना नष्ट होगी। 2. मुदिता की भावना से अरति यानी मात्सर्य (असूया) को जीता जा सकता है। 3. मैत्री की भावना से द्वेषभाव का नाश होता है। 4. करुणा की भावना से व्यक्ति के मन में रही क्रोध की भावना को जीती जा सकती है।

5. दुनिया के सभी पदार्थ अशुभ है ऐसी भावना करने से व्यक्ति में रहा राग चला जाता है। (वैराग्य प्राप्त होता है।) 6. जगत् के पदार्थों के प्रति अनित्यता की भावना विकसित करने से व्यक्ति की अस्मिमानता (अहंकार, मद) विनष्ट होती है।। (घ) वैदिक दर्शनों में जिन छह मनोवृत्तियाँ गिनाई हैं उनमें केवल नकारात्मक मनोवत्तियाँ ही विशद की गई हैं, उनके सामने बौद्ध-दर्शन में केवल सकारात्मक मनोवृत्तियाँ का ही उपेदश दे कर, उन अच्छी अच्छी भावनाओं से जो जो नकारात्मक भावानाएँ हैं, उनका शमन भी विशद किया है।। इति दिक्।। इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ बताते हुए कोश-ग्रन्थों में कहा है कि-

1. मेत्ता (मैत्री) यानी हितसुखोपनयकामता। (active love, loving kindness)।

2. करुणा यानी अहितदुक्खापनयकामता। एवं परदुःखे सति साधूनां हृदयं कम्पनं करोति। (pity, compassion, preventive love),

3. उपेक्षा यानी अदुक्खुं असुखं वेदना। (जिसको भगवद्गीता में हर्ष-शोक एवं स्तुति-निन्दा की स्थिति में स्थिरमतिमान् व्यक्ति कहा गया है।) (zero point between joy and sorrow, indifference, or steadiness of mind under stress), अट्ठशालिनी टीका में इस उपेक्षा के दश भेद गिनाये हैं।

4. मुदिता *यानी मोदन्ति वत भो सत्ता आविप्पयोग-कामता मुदिता।* (disinterested love, altruistic, or sympathetic joy, Elasticity of corporeality)॥

[8]

पञ्च शील के सिद्धान्त का पाठ

पञ्चशील के सिद्धान्त इन शब्दों में व्यक्त किये गये हैं:--1. *पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादयामि।* (प्राणों का अतिपात यानी हिंसाचार करने से विरत होने की मैं शिक्षा देता हूँ।) 2. *अदिण्णादाना वेरमणी सिक्खापदं समादयामि।* (किसी का न दिया हुआ ले लेने से यानी चोरी करने से विरत होने की मैं शिक्षा देता हूँ।) 3. *कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादयामि।* (कामोपभोग के मिथ्या आचारों से विरत होने की मैं शिक्षा देता हूँ।) 4. *मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादयामि।* (मृषावाद यानी असत्य-भाषण से विरत होने की मैं शिक्षा देता हूँ।) 5. *सुरा-मेरय-मज्ज-पमादठ्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादयामि।* (सुरा, मेरय[1] एवं मद्य जैसे नशीले पदार्थों का सेवन करने से विरत होने की मैं शिक्षा देता हूँ।) भगवान् बुद्ध ने गृहस्थ एवं गृहिणिओं के लिए "चारित्तशील" (आचरण

1. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेव शरण अग्रवाल,चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1996, पृ. 128

करने योग्य शील) एवं "वारित्तशील" (यानी निषिद्धशील)-ऐसा द्विधा विभाजन किया है। उनमें से जिसकी पंच शील के रूप में प्रसिद्धि है वे उपर्युक्त निषिद्धशील है। इसका विनयपिटक के मंगलसुत्त तथा सिगालसुत्त में पाठ है।।

[9]

बौद्ध दर्शन के त्रिपिटक।

भगवान् बुद्ध ने मनुष्यों के कल्याण के लिए अपने सद्धर्म का उपदेश यावज्जीवन मौखिक एवं संवादों के माध्यम से दिया था। उन वचनों का कालान्तर में जो संग्रह किया गया है, उनको "त्रिपिटक" या तिपिटक (तीन पिटारें) कहते हैं। जैसे कि-

1. **सुत्तपिटक** (=सूत्रपिटक, इस में बुद्ध के उपदेश वचनों को एकत्र किया हैं।) इस पिटक का पांच भागों में विभाजन किया गया है:-1. दीघ्घनिकाय, 2. मज्झिमनिकाय, 3. संयुत्त निकाय, 4. अंगुत्तर निकाय एवं 5. खुद्दक निकाय। [इस खुद्दक निकाय में 15 ग्रन्थ हैं। जैसे कि-खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरी गाथा, जातक, निदेस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस एवं चरियापिटक।] (इन दो अन्तिम ग्रन्थों में 24 पूर्वबुद्धों का वर्णन मिलता है।) (जातक-गाथाओं से बनी जातक-कथाओं का परिचय नीचे [10] में दिया गया है।)
2. **विनयपिटक** (इसमें बौद्ध भिक्षुकों के लिए बनाये गये नियमों, अनुशासनों का संग्रह है) इस में भी पांच विभाग है:-1. महावग्ग, 2. चुल्लवग्ग, 3. पाराजिका, 4. पायित्तयादि एवं 5. परिवार पाठ।
3. **अभिधम्मपिटक**। (=अभिधर्म पिटक, इसमें मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विचारों का संग्रह किया गया है।) इसमें कुल सात ग्रन्थ है:-1. धम्मसंगणि, 2. विभंग, 3. धातुकथा, 4. पुग्गल पग्गति, 5. कथावत्थु, 6. यमक एवं 7. पट्टान।।

यह जानकर भारी आश्चर्य होगा कि पालि-भाषा में निबद्ध इन त्रिपिटकों की एवं तत्सम्बद्ध साहित्य की इयत्ता महाभारत से तीन गुना अधिक है! (उनमें पुनरुक्तांश भी बडी मात्रा में देखे जाते हैं।) इन त्रिपिटकों पर सिंहल भाषा में टीकाएँ लिखी गई थी, जिनको "अट्ठकथाएँ" कही जाती है। आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवीं शती में उन टीकाओं का पालि में रूपान्तरण किया। इसकी जानकारी निम्नोक्त श्लोक से मिलती है:- *सीहलदीपं पन आभथाथ वसिना महामहिन्देन। ठपिता सीहलभासाय दीपवासिनमत्थाय।। अपनेत्वान ततोहं सीहलभासं मनोरमं*

भासं। तन्तिनयानुच्छविकं आरोपेन्तो विगतदोसं।। (दीघनिकाय की अट्ठकथा की आरम्भिक प्रस्तावना में दी गई गाथा।) इसका अर्थ है:-यह अट्ठकथा महामहिन्द (सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र, जो भारत से) सिंहल द्वीप में ले आया था। तथा इस द्वीप के लोगों के कल्याण के लिए उनको सिंहल भाषा में लिखी गई थी। अब उनको सिंहल भाषा में से निकाल कर, (मैं बुद्धघोष) मनोरम एवं शास्त्र के अनुकूल ऐसी पालि भाषा में (पुनः) स्थापित करता हूँ।। त्रिपिटकों के पाठ की यह पाठयात्रा में बौद्ध धर्मचक्र-प्रवर्तन की यानी दर्शनग्रन्थों की "नीचैर्गच्छति च दशा चक्रनेमिक्रमेण" देखी जा सकती है ....।। भारत में ही पालि में लिखी गई ये अट्ठकथाएं सिंहल देश में गई, वहाँ सिंहली भाषा में रूपान्तरित हुईं, और फिर एक बार पालि में रूपान्तरित हो कर भारत में वापस लौट आयीं।

इन अट्ठकथाओं (टीकाओं) के नाम इस तरह है:-1. दीघनिकाय अट्ठकथा पर सुमंगलविलासिनी, 2. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा पर पपंचसूदनी, 3. संयुत्तनिकाय अट्ठकथा पर सारत्थप्पकासिनी, 4. अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा पर मनोरथपूरणी, 5. विनय अट्ठकथा पर समंतपासादिका, 6. धम्मसंगणि अट्ठकथा पर अट्ठसालिनी, 7. विभंग अट्ठकथा पर संमोहविनोदिनी एवं 8. धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक तथा पट्ठान इन पाँच प्रकरणों की अट्ठकथा पर पंचकरण अट्ठकथा है।। खुद्दकनिकाय के प्रकरणों पर अलग अलग आचार्यों ने अट्ठकथाएँ लिखी हैं।।

इति दिक्।।

[10]

बौद्ध जातक-कथाएँ।

(प्रस्तुत नाटक में तीन जातक-कथाओं का विनियोग किया गया है:--1. नाटक के आरम्भ में, (दान-पारमिता का निदर्श रूप) शश-पण्डित जातक-कथा, 2. चतुर्थांक में (आर्यशूर की जातक-माला में दी गई) शक्र-जातक-कथा तथा 3. पञ्चमांक के गर्भांक में चन्द्र किन्नरयुगल की जातक-कथा। अतः सामान्य जिज्ञासुओं के लिए बौद्ध-साहित्य में जातक-कथाओं का स्थान और उनका स्वरूप बताना उपकारक होगा:-)

सुत्तपिटक के खुद्दक-निकाय में संगृहीत 15 ग्रन्थों में से एक *"जातक"* नाम का ग्रन्थ भी है। ये जातक-कथाएँ पालि भाषा में रची गई हैं तथा ये मूल में केवल गाथा स्वरूप ही थीं। अतः उनको यदि पूर्वापर सन्दर्भ के बिना पढ़ी जाय तो वे सुगम, सुबोध नहीं हैं। किन्तु जब उनको जब पूर्वापर सन्दर्भ में, किसी कहानी के माध्यम से प्रस्तुत की जाती हैं तो उनका मर्मोद्घाटन हो जाता है। ये गाथाएँ त्रिपिटक में ही, भगवान् बुद्ध के मुख में रखी गई हैं, इस लिए उनकी

प्राचीनता निश्चित है। लेकिन सुत्तपिटक में आई धम्मपद की गाथाएँ जैसे बिना पूर्वापर सन्दर्भ देखे भी, समझ में आ सकती हैं, वैसी ये जातक गाथाएं बिना पूर्वापर सन्दर्भ को जाने समझ में नहीं आती हैं। इस लिए सिंहल देश में इन गाथाओं के आगे-पीछे कुछ कथांश जोड़े गये। जिसको "जातक-अट्ठकथा" यानी "जातक अर्थ-कथा" ऐसा नाम दिया गया है। आचार्य बुद्धघोष (ईसा की पाँचवीं शती में) अभिधम्मपिटक पर टीका लिखने के बाद, भारत से चल कर सिंहल देश (श्रीलंका) गये थे। उन्हों ने वहाँ जा कर, उन जातक-ट्ठकथाओं का सिंहली-भाषा से पालि भाषा में अनुवाद किया और उनको फिर से भारत में ले आये। (इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख त्रिपिटक के महावंश (परिच्छेद 38, गाथा संख्या-215 से 246)में किया है।) महायान परम्परा में इन जातक-कथाओं का सविशेष महत्त्व है।

जातककथा शब्द का अर्थ होता है-(बुद्ध के) अतीत जन्मों की कथा। जनि प्रादुर्भावे धातु से कर्मणि भूतकृदन्त का निष्ठा-त प्रत्यय लगने से जात (जन्म लिया हुआ) शब्द बनता है। उसी जात-शब्द को स्वार्थ में-क प्रत्यय लगने से "जातक" शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है:-जिसने जन्म लिया है ऐसा कोई भी व्यक्ति। बौद्ध साहित्य में ये जातक-कथाएँ भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों (पूर्वावतारों) का निरूपण करती हैं।।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी एक निश्चित प्रकार के पुष्प को विकसित (प्रादुर्भूत) होने में भी यदि सैंकड़ों वर्षों का समय अपेक्षित है तो क्या कोई व्यक्ति एक ही जन्म के पुरुषार्थ से पूर्णज्ञानी (बुद्ध) बन सकता है? श्रीकृष्ण ने श्रीमद्-भगवद्गीता में कहा है कि-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। (गीता, 7-19)

तथा- **शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।** (गीता, 6-41)

इत्यादि वाक्यों से सिद्ध पुरुषों के पूर्वभवों को स्वीकारा गया है। (श्रीमद्-भगवद्-गीता के इन विचारों का प्रभाव महायानी बौद्धों पर पड़ा है।[1]

---

1. प्राचीनतम भगवद्-गीता के पाठ का परवर्ती काल में नया संस्कार भी किया गया है। अतः उत्तरर्ती काल के भगवद्गीता के पाठ में कुत्रचित् बौद्ध-दर्शन का प्रभाव भी देखा जा सकता है। जैसे कि, बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन का प्रतिबिम्ब गीता के (3-16) यज्ञचक्र-प्रवर्तन में पड़ा है। सर्वं दुःखम्, सर्वं क्षणिकम्-आदि का ही अनु-वाद करते हुए श्रीकृष्ण के मुख से निकला है कि-*अनित्यम् असुखमिमं लोकं प्राप्य भजस्व माम्।* (9-33), एवं "*ब्रह्म-निर्वाणमृच्छति*" (2-72) में बुद्धदर्शन के "निर्वाण-पद" का अनुरणन सुनाई पडता है।

जिससे ये जातक-कथाओं का बहुत विकास हुआ है।) इस अभिप्राय के अनुसार, प्रत्येक जीव को अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए अनेक जन्मों तक निरंतर सभान प्रयास करना होता है। उसी तरह से बौद्ध परम्परा में भी यह विचार स्वीकृत है कि सिद्धार्थ गौतम ने भी केवल एक जन्म की तपश्चर्या से ही बुद्धत्व नहीं प्राप्त किया था। सिद्धार्थ से गौतम बुद्ध की परिणति होने से पहले, उन्होंने अपने अनेक पूर्वावतारों में दया, दान, शील, मैत्री, करुणा आदि सद्धर्म के गुणों का विकास किया था। इन पूर्वावतारों में उस जीव का नाम था-बोधिसत्त्व।।

बुद्ध ने अपने पूर्वावतारों में बोधिसत्त्व के रूप में जब जब जन्म लिये थे तब वे कदाचित् तपस्वी, कदाचित् राजा, कदाचित् सिंह योनि में, हाथी, अश्व, गीध, महाकपि, शतपत्र, किन्नर, ब्राह्मण एवं देवराज इन्द्र तक के स्वरूपों में प्रकट हुए थे। उन सब पूर्वावतारों के जीवन की घटनाओं को लेकर ये सारी जातक-कथाएँ आकारित की गई हैं। इन तमाम योनियों में जन्म लेने के बावजूद भी वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति के प्रति सदैव जागृत एवं प्रयत्नशील रहे हैं। इन जन्मों में उन्होंने जो दया, दान, सत्य, प्रज्ञा, शील, मैत्री, करुणादि गुणों का चरमोत्कर्ष सिद्ध किया, उनकी पराकाष्ठा हासिल की, जिनको "पारमिता" कही गई हैं। इन पूर्वावतारों में बोधिसत्त्व ने अपने संपर्क में आये, आसपास के सभी जीवों की मदद की है, उनके दु:ख, क्षुधा, व्याधि, आपत्ति आदि का संहरण करने के साथ सुख पहुँचाया है। अत: यह जीव भले ही कपि के रूप में जन्म लिये हो, या पक्षी के रूप में जन्म लिये हो, उनको बोधिसत्त्व (बोधि = ज्ञान अर्जित करने की क्षमता वाला जीव) कहा गया है। सारांशत: बोधिसत्त्व अर्थात् बुद्धत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील जीव। अत: सभी जातक-कथाओं का नायक "बोधिसत्त्व" के नाम से जाना जाता है।।

पालि जातक-कथाओं की संख्या 547 के आसपास है। इन कथाओं के संग्रह के आरम्भ में उपोद्घात के रूप में तीन "निदान" रखे गये हैं। जैसे कि-*1. दूरे निदान।* इसमें बुद्ध के पूर्व में हुए सभी पूर्वबुद्धों के साथ बोधिसत्त्व की मुलाकात भी हुई थी और ऐसी भविष्यवाणी की गई थी कि यह बोधिसत्त्व अमुक अवतारों के बाद पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त करेंगे। *2. अविदूरे निदान।* इस में सिद्धार्थ गौतम का जीवनचरित, महाभिनिष्क्रमण, तपश्चर्या और बोधगया में बुद्धत्व की प्राप्ति पर्यन्त की कथा रखी है। *3. सन्तिके निदान।* इसमे बुद्ध का धर्मोपदेश, धर्मप्रचार, संघ की स्थापना, बिम्बिसार, पुत्र राहुल को दाय भाग देने के सन्दर्भ में प्रव्रज्या देना इत्यादि की कथाएँ हैं। इन तीन निदानों के बाद जो 547 जातक-कथाएँ रखी हैं उनको चार अंशों में निरूपित की गई है:-(क) *पच्चुपत्र वत्थु* यानी वर्तमान कथा, (ख) *अतीत* वत्थु यानी पूर्वजन्म की कथा, (ग) *गाथा*

एवं *अत्थवण्णना* यानी गाथा एवं अर्थ का वर्णन (=व्याख्या)। (घ) समाधान यानी अतीत कथा में आये हुए सभी पात्रों की वर्तमान काल के पात्रों के साथ पहचान। अन्त में, ऐसी कथा सुनने के बाद, श्रोता को क्या उपदेश ग्रहण करना है? उसका निरूपण होता है। इन चार अंशों के समूह से एक जातक-कथा बनती है।।

*** *** *** *** *** *** *** ***

भगवान् बुद्ध के जीवन की आवश्यक जानकारियाँ [2], [3] एवं [4] क्रमांक के भागों में दी गई हैं, ये बहुशः त्रिपिटकों से प्राप्त हो रही प्राचीनतम सामग्री है। किन्तु बुद्ध-जीवन की इन्हीं घटनाओं की जानकारी बुद्धघोषाचार्य की (पालिभाषा-निबद्ध) जातकट्ठकथा में किन शब्दों में दी गई है?-यह जानने के लिए पाठक को परिशिष्ट-2 में दिये गये आठ गद्यखण्डों का अवलोकन करने का अनुरोध हैं।।

[11]

हीनयान एवं महायान।

गौतम बुद्ध के दार्शनिक विचार दो धाराओं में विकसित हुए हैं। (क) हीनयान एवं (ख) महायान। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने इनका परिचय करवाते हुए लिखा है कि- Buddhism in all its forms goes back to the life and teaching of the Buddha. While the austerities practised by him till he attained enlightenment appeal to the Hinyaana, the Paali or the Southern school; his life of service and compassion for 45 years after the attainment of enlightenment is the authority for the Mahaayaana, the Sanskrit, or the Northern school. (See: Preface to theApadana, part-1, Vol. -5, General Editor: Bhikkhu J. Kasyap, Pali Publication Board, Bihar Govn., 1959.) यानी कठोर तपश्चरण से जुड़े भगवान् बुद्ध के पूर्वजीवन का अनुसरण करने वाले अनुयायी हीनयान-मार्गी है। और बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद, उन्होंने 45 वर्षों तक अपना करुणामय जीवन केवल धर्मोपदेश के लिए व्यतीत किया उसको आदर्श बना कर उस मार्ग पर चलने वाले अनुयायी महायानी कहलाये। हीनयानियों ने दक्षिण में, श्रीलंका में त्रिपिटकों का पालि में संरक्षण किया। तो, उत्तरी भारत में मगध, मथुरा से लेकर गान्धार तक फैले महायानियों ने बुद्ध के वचनों को संस्कृत में परिवर्तित करने का काम किया। इस तरह का विभाजन बहुत सटीक लगता है।।

प्रॉफेसर हिम्मतसिंह सिन्हा (कुरुक्षेत्र) बताते हैं कि-हीनयान यानी छोटा वाहन, अर्थात् जिसमें एक ही व्यक्ति बैठ सकता है। इसको सिकुडा हुआ तंग

रास्ता भी कह सकते हैं। महायान अर्थात् बडा वाहन, जिसमें अनेक लोग एक साथ बैठ सकते हैं। दुःखनिवृत्ति की इच्छा रखने वालों का यह विशाल मार्ग है। हीनयानी बौद्ध अपने को सब से पुरातन एवं मौलिक मानते हैं। इन स्थविरों (वृद्धों) के द्वारा सुरक्षित रखी गई त्रिपिटकों की पाठ-परम्परा श्रीलंका एवं ब्रह्मदेशादि में आज विद्यमान है। बौद्ध भिक्खुओं की इन दो शाखाओं के पीछे जो ऐतिहासिक घटना रही है वह भी ज्ञातव्य है:-कालाशोक ने (ईसा पूर्व 383 में) जब दूसरी संगीति बुलाई, (जिसमें देशभर से सभी बौद्ध भिक्खुओं को एकत्र करके, मौखिक परम्परा से चले आ रहे त्रिपिटकों के पाठ का संगायन करवाया। उस समय कतिपय भिक्खुओं के पाठ में विकृति आ गई है-ऐसा बताने पर, उन सब को संघ से बाहर निकाल दिये। तो उन भिक्खुओं ने मिल कर, तुरंत अपना एक अलग संघ बना लिया और अपने को महासांघिक घोषित कर दिया। आगे चल कर इसी में से महायान का आरम्भ हुआ है। (महायानियों ने बुद्ध के विचारों को संस्कृत के सहारे प्रसार करने का उपक्रम किया है। तथा हीनयानियों ने मूल पालि-प्राकृत को संरक्षित करके रखा।)

थेरवादी प्राचीनतम थे, जिनको बाद में हीनयानवाले कहे गये हैं। इस विचारधारा में बुद्ध के दो शिष्य-शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन-प्रमुख हैं। (गौतम बुद्ध के पुत्र राहुल की प्रव्रज्याविधि का कार्य इस शारिपुत्र के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। यह शारिपुत्र बुद्ध के महानिर्वाण से दो वर्ष पहले ही निर्वाण कर गये थे। जिनके भी अवशेषों पर, सम्राट् अशोक के द्वारा एक बडा और कतिपय छोटे छोटे स्तूप मध्यप्रदेश के वैशाली जिले में सांची में बनवाये गये हैं।)[1] बुद्ध ने जब उनका अन्त काल नजदीक आ गया था तब अपने (एक तीसरे) शिष्य आनन्द को कहा था कि मेरे जाने के बाद किसी दूसरे के कहने में मत आ जाना। अब तुम को

---

1. नये साधु को प्रव्रज्या देने की विधि को उपसंपदा कहते हैं। जिसमें-प्रव्रज्या लेने के इच्छुक व्यक्ति को मुंडन करवा कर काषाय वस्त्र से अंग को ढक देना है। वह एकत्र हुए अन्य भिक्षुओं को नमस्कार करके विनती करे कि-सव्व दुक्खनिस्सण-निवावण-सच्छिकरणत्थं इदं कासावं गहेत्वा पव्वाजेथ मं, भन्ते! अनुकंपं उपादाय। तब उसको भूमि पर बिठा कर उसके पास तीन बार "बुद्धं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।" बुलवाना है।। (बीस वर्ष से कम वय वाले को श्रामणेर कहते हैं, उसको किसी भिक्षु की निश्रा में ही रहना होता है। सब से पहला यशोधरा का पुत्र राहुल ही श्रामणेर बना था। जो शारिपुत्र के पास रहा) सांची का यह स्तूप थेरवादियों का होने के कारण, उसके चार तोरण-द्वार में 1. बोधिवृक्ष, 2. त्रिरत्न, 3. धर्मचक्र-प्रवर्तन, 4. स्तूप-पूजा का शिल्पांकन बार बार किया गया है। परन्तु उनमें कहीं पर बुद्ध की एक भी आकृति नहीं बनाई गई है।।

मार्ग दिखाने के लिए मैं अधिक समय तुम्हारे पास नहीं रहने वाला हूँ। अतः *आत्मदीपो भव*। हीनयानी बौद्धानुयायियों ने गौतम बुद्ध के इस वचन-"*आत्मदीपो भव*" (= अपने निर्वाण का मार्ग अपने आप खोजो) को उद्धृत करके कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मुक्ति का विचार एवं प्रयास स्वयं ही करना चाहिए। अर्थात् हीनयानी बौद्ध व्यष्टि के उद्धार का रास्ता दिखाते हैं। वे बताते हैं कि बुद्धत्व की प्राप्ति का लक्ष्य तो बहुत दूर की बात है, लेकिन स्वयं ध्यान, तपश्चर्या की साधना करने पर, व्यक्ति को "अर्हत्" पद की प्राप्ति हो सकती है। इस तरह ये हीनयानी निजी मुक्ति, निर्वाण की बात करते हैं। इनको स्वार्थी विचारधारा वाले भी कहे जा सकते हैं। क्योंकि वे संसार के अन्यान्य जनसमूह के दुःखों की चिन्ता करते ही नहीं है।।

इनके प्रतिपक्ष में महायानी बौद्ध खड़े हैं। वे कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने सब से पहला तो यही दर्शन किया है कि-"सर्वम् दुःखम्"। संसार के सभी जीव जरा, रोग एवं मृत्यु के दुःखों से ग्रस्त है। अतः, वे अपने पूरे जीवन काल में जनकल्याण के लिए दया, दान, करुणा, मुदितादि की देशना देते रहे हैं। तो हम भला, कैसे स्वार्थी बन सकते हैं? अतः सब के दुःखों की निवृत्ति का विचार एवं प्रयास करना चाहिए। इस दृष्टिकोण पर महायानी बौद्ध दर्शन खड़ा हुआ है। इन महायानी बौद्धों के मतानुसार, बुद्ध पहले भी अनेक बार जन्म ले चुके हैं, जो"बोधिसत्त्व" कहे जाते हैं। संसार के सभी पतित, दुःखी जीवों पर करुणा करने के लिए वे बार बार जन्म लेते हैं। लोककल्याण करना यह बोधिसत्त्व के जीवन का परम प्रयोजन रहा है, और इसी बोधिसत्त्व को महायानी बौद्धों ने अपना आदर्श बनाया हैं। इस सन्दर्भ में एक घटना कहना आवश्यक है:-गौतम बुद्ध के जीवन काल में एक बार-किसी रूपजीविनी के घर भिक्षा का निमन्त्रण मिला। जब बुद्ध उसके घर जाने लगे तो शिष्य आनन्द ने बुद्ध को टोका कि आप किस के घर जा रहे हैं?, वह तो एक वेश्या है। तब गौतम बुद्ध ने बताया कि दीपक की वहीं पर जरूरत है कि जहाँ अन्धेरा है। जहाँ प्रकाश है वहाँ दीपक की आवश्यकता नहीं है। जो लोग पतित है, अन्धेरे में हैं, उनके लिए मेरा जीवन है। पतित के घर जाने से मेरी तपश्चर्या की भी परीक्षा हो जायेगी। तथा किसी एक पतित का मैं उद्धार कर सकूँगा, तो मैं मानूँगा कि मैं सारी मनुष्य प्रजा को अन्धेरे से बाहर निकाल सकता हूँ। अतः महायानी बौद्धों के विचार अनुसार-बोधिसत्त्व कहते हैं कि जिन जीवों के मार्ग में कंटक होंगे उनके जीवन में मैं रथ लेकर आऊँगा, मैं उनका सारथि बनूँगा। जो भव-सागर में डूब रहे होंगे, उनके जीवन में मैं नौका बन कर आऊँगा। जहाँ जहाँ अन्धकार होगा वहाँ में दीपक बन कर जाऊँगा इत्यादि। बुद्ध ने जब देखा कि समग्र संसार दुःखाक्रान्त है तब उन्हों ने

कहा कि सभी के प्रति प्रेम की, मैत्री की, करुणा की वर्षा करो। इस महायान विचारधारा का जातक-कथाओं में रोचक कहानियों के माध्यम से विस्तार से निरूपण किया गया है। इन जातक-कथाओं में वर्णित बोधिसत्त्व पशु, पक्षी, खरगोश, कपि, हाथी, सुपारग, इन्द्र देवतादि बहुविध योनियों में उत्पन्न हुए हैं-ऐसा बताया गया है।। (अजन्ता की गुफाएँ महायानीयों की होने से, वहाँ बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ शिल्पांकित हुई हैं।)

हीनयानी विचारकों ने[1], ऐतिहासिक गौतम बुद्ध को ही माना है। तथा वे जगन्नियन्ता कोई ईश्वर को नहीं मानते हैं, और आत्मतत्त्व जैसे किसी नित्य पदार्थ को भी नहीं मानते हैं। (यद्यपि गौतम बुद्ध ने स्वयं ईश्वर है या नहीं? अथवा आत्मा जैसा कोई अविनाशी पदार्थ है कि नहीं? इन प्रश्नों के विषय में मौन रखा था, उनके उत्तर नहीं दिये थे।) अत: हीनयानीयों की दृष्टि में गौतम बुद्ध केवल एक आदर्श मानव हैं, वे उनको भगवान् की कोटि में नहीं रखते हैं। वे संसार को अनित्य एवं क्षणभंगुर मानते हैं। उनके मत से कुछ भी नित्य नहीं है। वे संसार को नित्य परिवर्तनशील बताते हैं। "यह दीपक है"-ऐसा कहने में, जिस क्षण में दीपशिखा देखी गई है, वह दूसरी क्षण में नष्ट हो जाती है और उसके स्थान में दूसरी दीपशिखा आ जाती है। यानी प्रत्येक क्षण एक नया तैल-बिन्दु जलता है, और हर क्षण नये नये तैल-बिन्दु से एक नवीन ज्योत प्रकट होती है। विलीन होनेवाली ज्योति के स्थान में वैसी ही दूसरी ज्योति आ जाने से हमें "यह वही ज्योति है, जो मैं ने कुछ क्षण पहले देखी थी" ऐसी भ्रान्ति होती है। इसी को हीनयानीयों ने "प्रवाह-नित्यता" कही है। निष्कर्षत: वे लोग "सर्वं क्षणिकम्" (अनित्यता) के विचार पर बल देते हैं।।

महायानीयों के मत से जगत् को एक दु:खहर्ता की आवश्यकता है। वे गौतम बुद्ध की उपासना में, भक्ति में मानते हैं और इसी लिए उन्होंने बुद्ध को ही जगदीश्वर मान लिया। इतिहास-पुरुष गौतम बुद्ध को "भगवान् बुद्ध" की कोटि में स्थापित किया। इस सन्दर्भ में, उनके ग्रन्थों में बुद्ध की तीन कायाओं का भी विचार प्रस्फुटित हुआ। (क) बुद्ध की "निर्माण-काया"। इसको रूप-काया भी कहते हैं। यानी इतिहास-पुरुष (जो राजा शुद्धोदन के घर पुत्र के रूप में जन्म लिये थे) सिद्धार्थ गौतम बुद्ध। यह लोककल्याण के लिए शरीरधारी बन कर आये। जिन्होंने बहुजन-हिताय, लोकानुकम्पाय अपना जीवन व्यतीत किया। चूंकि

---

1. हीनयानी दार्शनिकों की दो शाखाएँ है:-1. वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद) एवं 2. सौत्रान्तिक (बाह्यार्थ-अनुमेयवाद)। तथा महायानीयों के दर्शन की भी दो शाखाएँ है:-3. योगाचार (विज्ञानवाद) एवं 4. माध्यमिक (शून्यवाद)।।

यह निर्माण-काया (पार्थिव शरीर रूप काया) थी, इस लिए वह नाशवान् थी। गौतम बुद्ध ने इस निर्माण-काया को असली काया न मानने को कहा था। बल्कि उनकी जो दूसरी (ख) "धर्म-काया" है, वही असली काया है, वही पारमार्थिक दृष्टि से सही है। इसीको "आध्यात्मिक-काया" भी कहते हैं। बुद्ध की जो तीसरी काया है, वह (ग) आनन्द-काया है। बुद्ध की यह काया अनादि एवं अनन्त है, जो तुषित क्षेत्र में निवास करती है। (बुद्ध ने स्वर्गलोक को "तुषित क्षेत्र"=संतोषदायक स्थान, ऐसा नाम दिया था।) इस क्षेत्र में निवास कर रहे बुद्ध का नाम "मैत्रेय बुद्ध" है। भविष्य में, जब गौतम बुद्ध के धर्म की हानि, विस्मृति होगी तब यह मैत्रेय बुद्ध पुनरवतरित होने वाले हैं। हीनयानी बौद्धों ने बुद्ध की केवल निर्माण-काया (इतिहास-पुरुष) को ही एक मात्र माना है। किन्तु महायानी बौद्धों ने तीनों कायाओं का स्वीकार करते हुए, गौतम बुद्ध के अवतरित होने से पहले हुए बोधिसत्त्वों को माने हैं तथा भविष्य में आने वाले मैत्रेय बुद्ध को भी स्वीकारा है। वे बताते हैं कि जब तक यह संसार रहेगा तब तक जितने जीव पैदा होंगे उन सब के दुःख दूर करने के लिए एवं सब को निर्वाण दिलाने के लिए बुद्ध निरन्तर अवतरित होते रहेंगे। इस तरह से, महायान में पहले दीपंकर बुद्ध हैं, दूसरे गौतम बुद्ध हैं और तीसरे, जो भावि बुद्ध है वह मैत्रेय बुद्ध हैं।।

हीनयानी बौद्ध, जो रूढिवादी होने के कारण उन्होंने बुद्ध की केवल निर्माण-काया को ही माना है। (जिस काया में रहते हुए उन्होंने यशोधरा से विवाह किया, उनका पुत्र भी हुआ और बाद में, कुशीनारा नगर में उस काया का अवसान हुआ।) चुंकि बुद्ध ने किसी नित्य पदार्थ माना नहीं था। इसी लिए वे बुद्ध दुबारा आयेंगे-इस बात को नहीं मानते हैं। एवञ्च वे फिर नहीं आने वाले हैं इसी लिए उन्होंने अन्त काल में शिष्य आनन्द को "आत्मदीपो भव" कहा था। अतः, हीनयानी कहते हैं कि सभी श्रावकों को अपनी मुक्ति के लिए स्वयं मार्ग खोजना है, स्वयं को ध्यान, तपश्चर्यादि करना हैं। यद्यपि बुद्धत्व की कोटि अतिशय दुःसाध्य है, तथापि इसमें श्रावक की कोटि से आरम्भ करके, तपश्चर्यादि साधना करके "अर्हत्" पद को प्राप्त करना है। अपने आपका दीपक बनना है। (हीनयानीयों के मत से बुद्धत्व तक पहुँचना तो अतिदुःसाध्य है। अतः श्रावक से आरम्भ करके अर्हत् तक ही पहुँचा जा सकता है।)।

यहाँ पर, महायानी बौद्ध कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने जो आत्मदीपो भव-कहा था वह दूसरे सन्दर्भ में कहा है। जैसे कि, (बुद्ध के न रहते हुए) भविष्य में किसी भी अन्य विचार, या दर्शन, को ग्रहण करने से पहले व्यक्ति स्वयं अपनी बुद्धि से विवेक को विकसित करे और उन नवीन विचारों की परीक्षा करे। जो युक्ति-संगत हो उसको स्वीकारे और जो युक्ति-संगत न होवे उसको न

स्वीकारे। अत: महायानीयों ने तर्क को प्राधान्य दिया है। तथा बुद्ध की तुषित क्षेत्र में चिरस्थायी रही आनन्द-काया का अनेक बार अवतार हुआ है और निरन्तर होता रहेगा, जिनमें से वज्रपाणि बोधिसत्त्व, पद्मपाणि बोधिसत्त्वादि आते रहते हैं-ऐसा अभिप्राय दिया है। बोधिसत्त्व जब तक सब को निर्वाण की प्राप्ति नहीं करवायेंगे, तब तक वे चिरस्थायी रहेंगे।

डॉ. सूर्य प्रकाश व्यास जी बताते हैं कि-जीवनयात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुँच कर बुद्ध ने न संघ को अनिवार्य माना, न धम्म को। बल्कि सब कुछ भिक्षुओं पर छोड़ दिया-अत्त दीपो भव। अत्त दीपो विहरथ। अपना प्रकाश स्वयं बनो। देशना के प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात में उन्हों ने कहा कि-मैंने बेडे की तरह पार उतरने के लिए तुम्हें धम्म का उपदेश किया, उसे पकड़ रखने के लिए नहीं। धम्म को बेड़ेके समान जानकर तुम धम्म को भी छोड़ दो, अधम्म की तो बात ही क्या?।-

(यूँ ही कोई बुद्ध नहीं बनता, पृ. 31-32)

इस सन्दर्भ को देखते हुए कहना होगा कि-*आत्मदीपो भव।* की यह तीसरी व्याख्या है!

[12]

दश या षड् पारमिताएं।।

बोधिसत्त्व का परिचय देते हुए जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अभिधानचिन्तामणि कोश में भगवान् बुद्ध को "पारमिताधर" कहे हैं। उन्होंने लिखा है कि-

बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुस्त्रिकालविज्जिन:।
बोधिसत्त्वो महाबोधिरार्य: शास्ता तथागत:।।

पञ्चज्ञान: षडभिज्ञो दशार्हो दशभूमिग:।
चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञो दशपारमिताधर:।। (2-146, 147)

बोधिसत्त्व एक ऐसा व्यक्तित्व है कि जिन्हों ने अपने अनेक पूर्वावतारों में क्रमश: दश पारमिताओं को सिद्ध की थी। बोधिसत्त्व ने पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त करने से पहले, अपने अभूतपूर्व उदार चरितों से क्रमश: दया, दान, मैत्री इत्यादि सद्गुणों की सर्वोच्च सर्वोत्कृष्ट ऊँचाइयाँ (पराकाष्ठा) सिद्ध की थीं। बोधिसत्त्व ने दानवीरतादि की जिन पराकाष्ठाओं को सिद्ध की हैं, वे "पारमिता" कही जाती हैं।।

इन पारमिताओं के निरूपण का इतिहास जानना आवश्यक है। विनयपिटक

तथा अभिधम्मपिटक में पारमिताओं का वर्णन नहीं है। इनका सर्व प्रथम निर्देश तो प्राचीनतम सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय में आये बुद्धवंश में प्राप्त होता है। वहाँ शारिपुत्र ने भगवान् बुद्ध की पारमी यानी पारमिताओं के वृत्तान्तों को जानने के लिए पुछा कि-हे भगवन्! आपने दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उपेक्षा नाम की दश पारमिताएं, दश उपपारमिताएं तथा दश परमार्थ पारमिताएं कैसे सिद्ध की थी?[1] इस जिज्ञासा के उत्तर में बुद्ध ने अपने पूर्वावतारों की एवं अतीत के बुद्धों की जातक कथाओं को सुनाई। इन कथाओं में पारमिताओं का निरूपण है।। तत्पश्चात् खुद्दकनिकाय में समाविष्ट 15 ग्रन्थों में एक चरिया-पिटक भी है। उस चरिया-पिटक में भी बुद्ध के पूर्व जन्मों की चर्याओं का पद्यात्मक (गाथाओं में) निरूपण है। लेकिन चरियापिटक की इन गाथाओं में बुद्ध की केवल सात पारमिताओं का वर्णन हैं। इन सात पारमिताओं को स्फुट करने के लिए 35 जीवनचर्याओं को प्रस्तुत की गई हैं। इस सिलसिले में, चौथे क्रम में हीनयानी एवं महायानी संस्कृत में लिखे गये ग्रन्थों में केवल छह (जैसे कि-दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा) पारमिताओं का निरूपण मिलता है।

भगवान् बुद्ध ने दश पारमिताएं सिद्ध की थीं। जैसे कि-1. दान पारमिता, 2. शील पारमिता, 3. नैष्क्रम्य पारमिता, 4. प्रज्ञा पारमिता, 5. वीर्य पारमिता, 6. क्षान्ति पारमिता, 7. सत्य पारमिता, 8. अधिष्ठान पारमिता, 9. मैत्री पारमिता तथा 10. उपेक्षा पारमिता। इस तरह की पारमिताओं की सिद्धि होने पर बोधिसत्त्व निम्नोक्त शब्दों में बोले हैं:-

(1) याचक को सामने आया हुआ देख कर, मैं ने मेरे शरीर का भी त्याग कर दिया है। वह मेरी दान पारमिता है। (यथा-शशपण्डित जातक कथा)

(2) बबूल के शूल (तीक्ष्ण कंटक) मेरे कानों में घुसड़ने पर भी तथा

---

1. सारिपुत्तो महापञ्ञो, समाधि ज्झान कोविदो।
पञ्ञाय पारमिप्पत्तो, पुच्छति लोकनायकं।। 74
कीदिसो ते महावीर, अभिनीहारो नरुत्तम।
कम्हि काले तया धीर, पत्थिता बोधिमुत्तमा।। 75
दानं सीलञ्च नेक्खम्मं पञ्ञावीरियञ्च कीदिसं।
खन्ति सच्च अधिट्ठानं, मेत्तु पेक्खा च कीदिसा।। 76
दस उपपारमी तया धीर, कीदिसी लोकनायक।
कथं उपपारमी पुण्णा, परमत्थपारमी कथं।। 77,
(खुद्दकनिकायस्य बुद्धवंशे प्रथमं रतन चंकमन कण्डम्।)

शक्ति नामक अस्त्र से मेरी पर प्रहार करने पर भी उस सपेरे पर क्रोध नहीं आया है। वह मेरी शील पारमिता है।

(3) मैं ने मेरे अधिकार का राज्य भी थूंक की तरह त्याग दिया है, उसको छोड़ते समय मुझे कोई आसक्ति नहीं हुई थी। वह मेरी नैष्क्रम्य पारमिता है।

(4) प्रज्ञा की खोज में मैं ने एक ब्राह्मण को दुःख में से छुड़वाया। तथा जैसे भिक्षु उत्तम, मध्यम एवं अधम सब के पास से भिक्षा ग्रहण करता है, उसी तरह से मैं ने सब (ज्ञानियों) को पूछ पूछ कर प्रज्ञा की सीमा को पार कर दिया है। वह मेरी प्रज्ञा पारमिता है।

(5) समुद्र के मध्य में पहुँच कर, पार को नहीं देख सकने वाले सभी मनुष्य मर गये, किन्तु मेरे मन में कोई विकार उत्पन्न हुआ नहीं है, वह मेरी वीर्य पारमिता है।

(6) तीक्ष्ण कुल्हाड़ी से जैसे किसी जड चीज को काटा जाय वैसे काशीराज मुझे काट रहे थे, तब भी मेरे मन में उसके प्रति क्रोध पैदा नहीं हुआ,वह मेरी क्षान्ति (क्षमा) पारमिता है।

(7) सत्यवादिता की रक्षा करने के लिए मैं ने मेरा जीवन का भी परित्याग कर दिया है एवं उस तरह से मैं ने सभी क्षत्रियों को मुक्ति दिलाई थी, वह मेरी परमार्थ सत्य पारमिता है।

(8) मुझे माता-पिता के प्रति एवं महाशय प्रति भी कोई द्वेष नहीं है। मुझे बुद्ध पद ही प्रिय है, अतः मैं ने इस व्रत का अधिष्ठान किया है, मैं पर्वत के समान अचल हूँ। यह मेरी अधिष्ठान पारमिता है।

(9) मैं किसी को भय उत्पन्न नहीं करता हूँ और न मुझे कोई भयभीत कर सकता है। मैं सदैव मेरे मैत्रीबल पर निर्भर रहता हुआ गहन वनों में घूमता हूँ। वह मेरी मैत्री पारमिता है।

(10) मृतशरीर की हड्डियों का तकिया बना कर, श्मशान भूमि में मैं शयन कर सकता हूँ। वहाँ चरवाह लोक (गोप) आ कर मेरे शरीर पर थूंके या कुछ भी करे, तब भी मैं उदासीन रहता हूँ। वह मेरी उपेक्षा पारमिता है।।

इतनी पारमिताओं की सिद्धि होने के बाद सिद्धार्थ गौतम "बुद्ध" बने हैं। हीनयानी बौद्धों ने अष्टांगिक मार्ग पर बल दिया है, तथा महायानीयों ने पारमिता की सिद्धि पर बल दिया है। बौद्ध-धर्म में शील, समाधि एवं प्रज्ञा इन तीन की शिक्षा पर बल दिया गया है। अतः, यह जानना आवश्यक है कि-इनके साथ पूर्वोक्त पारमिताओं का सम्बन्ध कैसे बिठाया जाता है:--

त्रिविध शिक्षाएं	अष्टाङ्गिक	पारमिताएं
1. शील	सम्यक् वचन	सत्य पारमिता
	सम्यक् कर्म	दान पारमिता
	सम्यक् आजीविका	शील पारमिता
		क्षान्ति पारमिता
2. समाधि	सम्यक् व्यायाम	वीर्य पारमिता
	सम्यक् स्मृति	मैत्री पारमिता
	सम्यक् समाधि	उपेक्षा पारमिता
		अधिष्ठान पारमिता
3. प्रज्ञा	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञा पारमिता
	सम्यक् संकल्प	नैष्कर्म्य पारमिता

विशेष:- ऐसा भी माना गया है कि ब्राह्मण संस्कृति के कुछ राजाओं ने जिन बौद्ध ग्रन्थों का नाश किया था उनमें से कहीं पर इक्कीस पारमिताएँ भी बताई थी। काशीस्थ किसी प्रकाशक ने कदाचित् ऐसा भी घोषित किया था कि त्रिपिटकाचार्य पण्डित राहुत सांकृत्यायन जी ने तिब्बत से प्राप्त किये किसी हस्तलिखित ग्रन्थ में ये इक्कीस पारमिताएँ निरूपित हैं, जिनका वे प्रकाशन करने वाले है। यद्यपि वह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित हुआ हो ऐसा ज्ञात नहीं है॥

[13]

त्रिपिटकों की पाठ-सुरक्षा के लिए छह संगीतियाँ

गौतम बुद्ध ने जो धर्मोपदेश दिया था, वह मौखिक रूप से दिया था। तथा गुरु-शिष्य की परम्परा में उपदेश स्मृतिबद्ध करके रखे जाते थे। लेकिन परिनिर्वाण के बाद तुरंत बुद्ध के धर्म-वचनों को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। इस सन्दर्भ में एक हकीकत प्राप्त होती है, वह निम्नोक्त है:-

बुद्ध का महानिर्वाण होने के बाद सातवें दिन, महाकाश्यप अपने पाँच सौ शिष्यों को लेकर पावा से कुशिनारा की ओर जाने निकला था। तब मार्ग में ही उसने एक आजीवक पंथ के परिव्राजक से सुना कि-बुद्ध का महानिर्वाण हो गया है। उस समय जिन भिक्षुओं को अर्हत् पद की प्राप्ति नहीं हुई थी, वे शोकग्रस्त हो कर रोने लगे। तो महाकाश्यप ने सांत्वना देते हुए कहा कि-"हे भिक्षुक! आप शोक न करें। क्योंकि बुद्ध ने ही कहा था कि प्रिय व्यक्ति एवं वस्तुओं का वियोग

भी एक दिन होता ही है। जो उत्पन्न होता है, वह मरता ही है।" तब उस संघ में एक भिक्षु ऐसा था जो वार्धक्य में प्रव्रजित हुआ था, जिसका नाम सुभद्र था, (बुद्ध का अन्तिम शिष्य भी सुभद्र था। लेकिन उससे यह भिन्न भिक्षु है।) वह बोला:-"हे मित्र! आप शोक न करें, क्योंकि हम सब उस महाश्रमण के त्रास से मुक्त हो गये हैं। "ऐसा ही करना और वैसा कभी नहीं करना"... इत्यादि नियमों से वह हमें बार बार बाधित करता था। अब तो हम हमारी इच्छानुसार व्यवहार करेंगे।" इसको सुनते ही महाकाश्यप ने भिक्षुसंघ को कहा कि-अब शीघ्र ही धर्म (बुद्ध के उपदेश वचन) एवं विनय वचनों (भिक्षुसंघ के लिए बनाई नियमावली) का संग्रह कर लेना चाहिए। क्योंकि यदि ऐसा संग्रह नहीं किया जायेगा तो सुभद्र जैसे अधर्मवादी भिक्षुक बलवान् बनते जायेंगे और धर्मवादी भिक्षुक दुर्बल होते चले जायेंगे।।

इस समय राजगृह में (बिम्बिसार के पुत्र) अजातशत्रु का शासन चल रहा था। उसके राजगृह के समीप आयी सप्तपर्णी गुफा में बुद्ध निर्वाण के बाद प्रथम चातुर्मास में ही बौद्ध भिक्षुओं को एकत्र किये गये। वहाँ महाकाश्यप ने अपने संघ में से 499 भिक्षुओं को चुन लिया, जिनको अर्हत् पद की प्राप्ति हुई थी। उस समय आनन्द को अर्हत् पद नहीं मिला था। फिर भी सभी भिक्षुओं ने महाकाश्यप से विनती की कि इस कार्य में आनन्द को भी शामिल किया जाय। क्योंकि आनन्द ने बुद्ध के सांनिध्य में रह कर धर्म एवं विनय का खूब अभ्यास किया है। महाकाश्यप ने वैसा ही किया। वहाँ पर अध्यक्ष स्थान पर विराजमान महाकाश्यप ने आनन्द को धर्म के विषय में बुद्ध-वचन पूछे, तथा उपालि को बुद्ध द्वारा प्रदत्त विनय के विषय में प्रश्न किये। दोनों ने सम्यक् उत्तर दिये। (उसी रात्रि में आनन्द को अर्हत् पद की प्राप्ति भी हुई।) 1. आनन्द ने सुत्तपिटक एवं 2. उपालि ने विनय-पिटक का पाठ सर्व प्रथम संगृहीत किया। इस सभा में अन्य दो बातों पर भी निर्णय लिया गया:-3. आनन्द पर जो आक्षेप लगाये थे उनके उत्तर दिये गये। तथा 4. छन्न को ब्रह्मदण्ड की सजा दी गई, जिस पर उसने परिताप व्यक्त किया। यह प्रथम "संगीति" कहलाई, जो सात महिनों तक चली थी तथा इस प्रथम संगीति का वर्णन विनय-पिटक के अन्त भाग में, 11 पंचशतिका स्कन्धक में दिया गया है।। इस प्रवृत्ति का कालान्तर में बार बार आवर्तन होता गया।। इतिहास में प्रसिद्ध हुई अन्य संगीतियाँ निम्नोक्त है:-

(2) ईसा पूर्व 383 में, मगध में शिशुनाग का पुत्र कालाशोक राजा था। बुद्ध-परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद, भिक्षुओं के संघ में कुछ 10 सिद्धान्तों को लेकर, जो मतभेद शुरू हुए थे उसको मिटाने के लिए दूसरी संगीति वैशाली में बुलाई गई। तब यश नाम का एक बौद्ध भिक्षु उस समय वैशाली में आ कर बैठा

था। वैशाली के भिक्षुओं ने विहार के प्रांगण में एक बडा ताम्रपात्र रखा था और वैशाली के उपासकों को उसमें धन (सुवर्ण एवं रजत की) मुद्राएं, आभूषणादि का दान देने को कहा गया था। तो यश ने उसका विरोध किया[1]। यश ने कहा कि भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को सुवर्ण या रजत को स्पर्श भी करने की अनुमति नहीं दी है। तो इन सब का दान कैसे लिया जा सकता है? अब वैशाली के भिक्षुओं का (बाहर से आये) यश के साथ झगडा शुरू होता है। यश ने अपनी बात वैशाली के उपासकों को समझाई और वैशाली के जनसमूह ने कहा कि सच्चा बौद्ध-भिक्षु तो एक ही है, जो यश है। सामने खडा था वैशाली का भिक्षुसंघ, जिसने यश को क्षमा मांगने को कहा। यश ने क्षमा-याचना करने से इनकार कर दिया।[2] परिणामतः, वैशाली के भिक्षुओं ने यश को संघ से निष्कासित घोषित किया।। तत्पश्चात् यश ने कौशाम्बी, अवन्ती, अट्ठोपांग के भिक्षुओं का सम्पर्क किया, वे यश के साथ हो गये। वे सब अर्हत रेवत से जा कर मिले। वह भी यश की बात को मानता है। परन्तु उसी समय वैशाली के वज्जिओं के साथ वहाँ का भिक्षुसंघ भी अर्हत रेवत के पास आ कर अपना पक्ष रखता है। अब दोनों पक्षों के बीच विवाद उग्र होता चला। जिसके कारण एक परिषद् का आयोजन करना आवश्यक बन गया। तो पूर्व और पश्चिम के चार-चार भिक्षुओं की एक समिति बनाई गई। तथा भिक्षु अजित को समिति का प्रधान एवं सब्बकामनी को सभापति बनाया गया। सभा ने वज्जिओं के (यानी वैशाली के) भिक्षुओं के विरोध में निर्णय दिया। वैशाली के भिक्षुओं का मत अधर्मयुक्त है। इस निर्णय सब को मान्य रखना था। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। अतः इस प्रसंग से बौद्धसंघ दो भागों में विभक्त हुआ:-(क)वैशाली के वज्जियों का एवं पाटलीपुत्र का (पूर्वी दिशा के) प्राच्यों का समूह, और (ख) पश्चिम के कौशाम्बी तथा अवन्ति का जनपद का संघ। अब जिनको समिति का निर्णय मान्य नहीं था उन वैशाली के भिक्षुओं ने (=वज्जिपुत्तकों ने) अपना नया महासंघ बनाया। वे महासांघिक कहलाये। उन्होंने धनादि का दान स्वीकारने के अपने निर्णय को उचित ठहराया। दूसरी ओर, जो प्रतीच्य (पश्चिम के) भिक्षु थे वे स्थविरवादिन् (थेरवादी) कहलाये। (आगे चल कर, महासांघिक 11 उपवर्गों में विभक्त हुए थे। तथा थेरवादियों में भी मतभेद होने से वे अन्य 7 वर्गों में पुनः विभक्त हो गये।) इस तरह से, सव्वकामनी की अध्यक्षता में और कालाशोक के शासनकाल में दूसरी संगीति का आयोजन हुआ। तब भिक्खुओं के विनय (नियमों) को लेकर,

---

1. द्रष्टव्यः-विनय-पिटक के अन्त भाग में 12. सप्तशतिका स्कन्धक।
2. द्रष्टव्य-प्राचीन राजवंश और बौद्धधर्म, ले. अच्युतानन्द घडियाल, वाराणसी, पृ.168

उसके कठोर पालन का आग्रह रखनेवाले "स्थविरवादिन्" कहलाये और जिन भिक्खुओं ने उनमें थोड़ा बदलाव माँगा वे "महासांघिक" कहलाये।

(3) ईसा पूर्व 250 में, सम्राट् अशोक के शासन काल में, मोग्गलिपुत्त तिष्य की अध्यक्षता में तीसरी संगीति का आयोजन अशोकाराम, पाटलिपुत्र (बिहार) में हुआ। यह संगीति कुल नव महिनों तक चलती रही थी। इस संगीति में "कथावस्तु" नामक अभिधम्ममपिटक का संगायन हुआ। [कथावस्तु में पाँच सौ ऐसे प्रश्नों समावेश किया है कि-जिनसे बुद्ध की शिक्षा के विषय में खडे किये गये संदेह या नासमझी उठी थी, उनका निराकरण किया गया है। वहाँ एकत्र हुए भिक्षुसंघ ने उनको सर्वसम्मति से पारित कर दिया।] इस परिषद् में कुल 1000 प्रतिभागी बौद्ध-अनुयायी थे। लेकिन उसमें से महासांघिकों को बहिष्कृत किये गये थे और केवल स्थविरवादियों को ही इस संगीति में एकत्र किये गये थे। एवमेव, इस संगीति में विद्वान् भिक्षुओं को देश के अन्य प्रदेशों में तथा विदेशों में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए बाहर भेजने का निर्णय लिया गया था। (अतः पुष्यमित्र का प्रादुर्भाव होने से पहले ही, बौद्धधर्म के स्थिरवादियों का दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान हो गया। जो सिंहल देश, ब्रह्मदेश, थाईलेन्डादि तक पहुँच गया।) [इसी निर्णय के अनुसन्धान में सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र (मिहिन्द) और पुत्री संघमित्रा को श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये भेजा था। वहाँ पर वट्टगामिनि अभय की अध्यक्षता में भी बौद्ध साधुओं का संगायन हुआ और वहीं पर त्रिपिटकों को पहली बार लिपिबद्ध यानी "ग्रन्थस्थ" किया गया था।] सम्राट् अशोक ने जो संगीति बुलाई थी उसमें जो दुराचारी भिक्षु थे, उनका भिक्षुवेश निकलवा कर, श्वेत वस्त्र दे कर संघ में से हटा दिये गये थे ऐसा सारनाथ के शिलास्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इससे सूचित होता है कि त्रिपिटकों का उच्चरित पाठ यथातथ सुरक्षित रखने के लिए तीन बार प्रयास किया गया है।

थेरवादियों ने ऐसी जानकारी दी है कि-सम्राट् अशोक ने कुल नव स्थानों पर विद्वान् भिक्षुओं को भेजे थे। उनके नाम इस तरह के हैं:-(1) मज्झन्तिक स्थविर को कश्मीर और गान्धार (कश्मीर, अफघानि-स्तान, उत्तर पश्चिमी पाकिस्तान में स्थित पेशावर), (2) महादेव स्थविर को महिसमण्डल यानी मैसुर, (3) योनक धम्मरक्खित स्थविर को अपरान्तक (उत्तर गुजरात, काठियावाड, कच्छ और सिन्ध), (4) रक्खित स्थविर को वनवासी (दक्षिण भारत में उत्तरी कर्नाटक), (5) महाधम्मरक्खित स्थविर को महारट्ठ (गोदावरी के परिसर का प्रदेश), (6) स्थविर महारक्खित को योनक-लोक यानी प्राचीन युनान (ग्रिस), (7) स्थविर मज्झिम को हिमवन्त (हिमालय का प्रदेश), (8) स्थविर सोण और उत्तर को सुवण्ण भूमि यानी बर्मा, म्यांन मार, तथा (9) स्थविर महेन्द्र तथा पुत्री

संघमित्रा सहित अन्य भिक्खुओं को ताम्बपत्रि द्वीप अर्थात् श्रीलंका में भेजे गये थे।। सम्राट् अशोक ने सीरिया और मिसर जैसे दूरातिदूर देशों में भिक्खुओं को धर्मोपदेश के लिये भेजे, उसी से प्रेरणा लेकर, कुषाण वंशी सम्राट् कनिष्क ने कुमारजीव तथा बोधिधम्म जैसे स्थविरों को मध्य एशिया और चीन देश में भेजे गये। वहाँ से चौथी शताब्दी में, बौद्ध धर्म कोरिया में पहुँचा और वहाँ से जापान तक पहुँचा। वहाँ से पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया में, थाईलेन्ड, कंबोडिया, लाओस, वियतनाम एवं इन्डोनेशिया में यह धर्म फैल गया। शान्तिरक्षित, पद्मसंभव तथा कमलशील जैसे भिक्षुओं के द्वारा तिब्बत, नेपाल में भी उसका प्रसार हो गया।। *(द्रष्टव्यः-गौतम बुद्धः जीवन परिचय और शिक्षा, प्रका. विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, नाशिक, महाराष्ट्र, 2016)*

(4) ई. स. प्रथम शताब्दी (127 से 150) में जब कनिष्क का शासनकाल चलता था, तब कुण्डलं वन (काश्मीर) में वसुमित्र और प्रतिपक्ष में अश्वघोष की अध्यक्षता में चौथी संगीति बुलाई गई। जिसमें 500 भिक्षुओं ने भाग लिया था। उस परिषद् में सर्वास्तिवादी बौद्धधर्म के सिद्धान्तों पर संस्कृत में भाष्य लिखा गया। जिसको महाविभाषा कहा जाता है। त्रिपिटकों पर लिखी गयी इस संस्कृत "विभाषा" टीका को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करवायी गयी एवं पत्थर के पिटारों में बन्ध करके, गान्धार प्रदेश की पर्वतमालाओं में कहीं पर जमीन में गाडी गई है। (जो अभी तक किसी के हाथ नहीं लगी है) कनिष्क के समय में ही भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ घढने का आरम्भ हुआ, तथा मूर्तिकला के इतिहास में "गान्धार-शैली" का प्रादुर्भाव हुआ। उससे पहले अजातशत्रु से लेकर सम्राट् अशोक पर्यन्त बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थी, बल्कि केवल छत्र, स्तूप, बोधिवृक्ष एवं धर्मचक्र-प्रवर्तन के चिह्नों का ही शिल्पांकन करवाया था। क्योंकि वे थेरवादी यानी हीनयानीयों की विचारधारा का अनुसरण करते थे। किन्तु कनिष्क के समय में बुद्ध की मूर्तिपूजा शुरू होती है। कनिष्क के द्वारा बुलाई गई इसी चौथी संगीति में बौद्ध-धर्म के 18 विविध सम्प्रदायों का परिगणन किया गया और उनको मान्यता दी गई। कनिष्क के द्वारा की गई बौद्धधर्म की इतनी बड़ी सेवा के कारण उसको "दूसरा अशोक" भी कहा गया है।।

(5) पाँचवी संगीति का स्थान है-बर्मा (म्यांनमार) का मांडले नगर, ई.स. 1871 का वर्ष, जिसमें राजा मिन-डॉ-मिन के राज्याश्रय में 2400 भिक्षुओं के त्रिपिटकों का संगायन किया। इस संगीति में क्रमशः सभापति के रूप में महास्थविर भदन्त ऊ जागराभिवंस, भदन्त ऊ नरिंदाभिधज तथा भदन्त ऊ सुमंगल सामी बैठे थे। इस प्रसंग में पांच महिनों का समय लगा। अन्त में, संगमरमर की पट्टिकाओं पर इन त्रिपिटकों को उत्कीर्ण भी करवाये गये। इनको तैयार करने में

सात वर्षों का समय लगा।।

(6) छट्ठी संगीति का आयोजन भी बर्मा के रंगून के पास आयी महापाषाण गुहा (ई. स.1954) में हुआ था। उस समय वहाँ के प्रधानमन्त्री ऊ नु थे। इस संगीति में समग्र विश्व से 2500 बौद्ध भिक्खुओं ने भाग लिया था। उसमें सभापति के रूप में भदन्त अभिधज महारट्ठ गुरु भदन्त रेवत थे। भगवान् बुद्ध की 2500वीं जन्म शताब्दी, ई.स. 1956 की वैशाखी पूर्णिमा के दिन उसका समापन हुआ।। (प्रथम तीन संगीतियाँ भारत में, चौथी वट्टगामिनी के समय में श्रीलंका में, तथा पाँचवी–छठ्ठी बर्मा में हुई थी।)

उपर्युक्त संगीतियों में जिन भिक्खुओं ने मिल कर बुद्ध के वचनों का साथ में संगायन किया वह एक पाठ–समीक्षा का, पाठ–निर्धारण का ही उपक्रम कहा जा सकता है। जिससे परस्पर की स्मृति में कोई अन्तर हो तो तुरंत उसके मूल रूप की चर्चा की जाय, उसको पुनः मूल रूप में प्रतिष्ठित किया जाय। ऐसी धर्मपरिषद् को "संगीति" या "संगायन" कहते हैं। त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन ने कहा है[1] कि बुद्ध के उपदेशों को सामान्यतया त्रिपिटकों (तीन भागों) में विभक्त किया जाता है। किन्तु वस्तुतः सुत्तपिटक एवं विनयपिटक ही प्राचीनतम एवं सर्वाधिक श्रद्धेय हैं। क्योंकि चुल्लवग्ग के पंचशतिका स्कन्धक में केवल धर्म (सुत्त) तथा विनय के संगायन की ही बात का उल्लेख है, (प्राचीनता की दृष्टि से अभिधम्मपिटक बाद का है)।

श्री सांकृत्यायन ने बताया है कि सम्राट् अशोक के समय में मगध बौद्ध धर्म का केन्द्र था, बाद में वह मथुरा के नजदीक आये उरुमुंड (गोवर्धन) पर्वत के पास केन्द्रीभूत हुआ। वहाँ पिटकों का संस्कृतानुवाद शुरू हुआ। तत्पश्चात् मथुरा में जब शकों का वर्चस्व बढ़ गया, तब सर्वास्तिवादियों का केन्द्र मथुरा से चल कर कश्मीर और गान्धार की ओर चला गया। वहाँ शक राजा कनिष्क (ई. स. की प्रथम शती) ने त्रिपिटकों को लेखबद्ध करवाये। तथा त्रिपिटकों पर संस्कृत में "विभाषा" नाम की टीकाएँ लिखवाई गई। (अतः सर्वास्तिवादी को "वैभाषिक बौद्ध" कहे गये।) उसी तरह, सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा जो सिंहल देश में त्रिपिटकों को ले गये थे, वह मौखिक परम्परा में सुरक्षित रहे। बुद्ध–निर्वाण वर्ष 483 ईसा–पूर्व से आरम्भ करके, राजा वट्टगामनी (ईसा पूर्व 29 से 1) तक वहाँ के स्थविरवादी बौद्धों ने परिश्रमपूर्वक त्रिपिटकों को कण्ठस्थ रखा था। किन्तु उनमें थोडा सा (अनावश्यक अनुनासिक उच्चारणों का) भाषिक

---

1. विनय पिटक, (प्रस्तावना भाग में), अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1935

परिवर्तन (=प्रवेश) भी हुआ था। तथा राजा वट्टगामनी ने उनको सिंहल देश में लिपिबद्ध करवाया।

[14]

"सिद्धार्थ" नाम की ऐतिहासिकता एवं "बुद्ध" के लिए प्रयुक्त नामान्तर

भगवान् बुद्ध के पूर्वाश्रम का नाम "सिद्धार्थ" था ऐसी सर्वसाधारण जानकारी प्रचलन में है। किन्तु बौद्ध साहित्य के गम्भीर अध्येताओं ने इस नाम की ऐतिहासिकता पर भी विवाद खडा किया है। सिद्धार्थ शब्द का पालि भाषा में "सिद्धात्थ" ऐसा रूपान्तरण होता है। लेकिन यह नाम केवल अपदान एवं जातक-कथाओं के गद्यांश में ही मिलता है। (जातक-कथाओं के गद्य की अपेक्षा से जो पद्यात्मक गाथाएँ हैं, वही प्राचीनतम मानी जाती है।) एवमेव, अपदान में भी यह "सिद्धार्थ" नाम गोत्रवाचक "गौतम" नाम के साथ प्रयुक्त नहीं हुआ है। सिद्धात्थ नाम तो त्रिपिटकोत्तर साहित्य में मिलता है। अर्थात् त्रिपिटकों में यह सिद्धार्थ या सिद्धात्थ नाम कहीं पर नहीं मिलता है। [अतः श्रीधर्मानन्द कोसाम्बी जी ने अपने व्याख्यानों में सिद्धार्थ नाम का प्रयोग नहीं किया है, प्रत्युत "बोधिसत्त्व" शब्द का प्रयोग करना ही उचित माना है।] कहने का तात्पर्य यही है कि सिद्धार्थ ऐसा नाम निकाय एवं विनय पिटक में नहीं मिलता है। हाँ, यह सही है कि बुद्ध के चौबीस पूर्वावतारों में इस नाम का विनियोग हुआ है। लगता है कि-यह "सिद्धार्थ" ऐसा शब्द नाम के रूप में नहीं, किन्तु "अर्हत्" एवं "तथागत" की तरह एक विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त हुआ होगा। यही विचार मेक्स म्युलर ने 1860 में व्यक्त[1] किया है।

उपर्युक्त विचारणा से सम्बद्ध एक सन्दर्भ उल्लेखनीय है:-बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद, जब वे ऋषिपत्तन में अपने पुराने साथी तपस्वियों को मिलते हैं (जहाँ प्रथम धर्मोपदेश दिया था, धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था) तब उन पंच वर्गीय भिक्षुओं ने बुद्ध को गोत्र नाम से सम्बोधित किया एवं मित्र भी कहा। [द्रष्टव्य:-अपिस्सु भगवंतं नामेन च आवुसोवादेन च समुदाचरन्ति।-विनय-पिटक, 1-9., अपि च खो मं नामेन च आवुस्सोवादेन च समुदाचरन्ति।-मज्झिमनिकाय,1-171, 2-93.] तत्पश्चात् बुद्ध स्वयं उन सब को उसी तरह से संबोधित करने के लिए मना करते हैं, क्योंकि वे अब अर्हत् बने हैं, तथागत बने हैं। [द्रष्टव्य:-*मा भिक्खवे, तथागतं नामेन च़ आवुस्सोवादेन च समुदाचरथ अर्हम्, भिक्खवे, तथागतो सम्मासम्बुद्धो।*-मज्झिमनिकाय, 1-171]

---

1. Müller. F. Max 'Buddha and Buddhism' in 1860

उपर्युक्त उद्धरणों से ऐसा विचार (कल्पना) करने का मन होता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध के वचनों की मौखिक पाठ-परम्परा (तत्पश्चात्, लिपिबद्ध करते समय) में से, संगीतियों के दौरान, त्रिपिटकों के पाठ में से सिद्धार्थ ऐसा नाम हटा देने की प्रवृत्ति हुई होगी।। तथा "सर्वार्थसिद्ध" ऐसा नाम थेरवादी पाठ में, सर्वास्तिवाद एवं लोकोत्तरवाद के ग्रन्थों में (ही) प्रयुक्त होता रहा दिखता है।।

बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध के लिए अन्य भी अनेक नामों का प्रयोग हुआ है। इनमें से कतिपय नामों के अभीष्टार्थों का विवरण जिज्ञासुओं के लिए देना चाहिए। इतिहास पुरुष गौतम सिद्धार्थ, जिन्होंने शाक्य वंशीय राजा शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, इसलिए वे **शाक्यसिंह** एवं **शौद्धोदनिः** नामों से अभिहित होते हैं। वे गौतम गोत्रीय होने से **गौतम बुद्ध** कहे जाते हैं। तथा दुनिया के सभी जीवों के दुःखों का निवारण कैसे होगा? यह जानने के लिए उद्यत हुए थे, इसलिए वे **महाभिषक्** भी कहे गये हैं। उन्होंने इन्द्रियों पर विजय हासिल की थी इस लिए वे जिन भी कहे गये हैं। अपने अनुयायियों को संवाद के माध्यम से धर्मोपदेश करने के कारण वे "**शास्ता**" के पद से भी अभिहित किये जाते हैं। तथा वे ब्राह्मण संस्कृति के प्रतिपक्ष में खड़े हुए थे, इस लिए उनको **श्रमणोत्तम** नाम से भी पहचाने जाते हैं।।

बुद्धत्व प्राप्ति होने से पहले उन्हों ने अपने पूर्वावतारों में विविध योनियों में जब जन्म लिया था, तब वे बोधिसत्त्व के नाम से जाने जाते हैं। इस बोधिसत्त्व का पुरोगामी 24 बुद्धों के साथ प्रत्यक्ष संवाद भी हुआ था। इन 24 पूर्व बुद्धों के नाम इस तरह से है:-दीपंकर, **कौण्डिन्य, मंगल, सुमन, रेवत, शोभित, अनोमदर्शी, पद्म, नारद, पद्मोत्तर, सुमेध, सुजात, प्रियदर्शी, अर्थदर्शी, धर्मदर्शी, सिद्धार्थ, तिष्य, पुष्य, विपश्यी, शिखी, वेस्सभू (वैश्यभू), क्रकुसन्ध, कोणागमन तथा काश्यप।** (तथा पच्चीसवें गौतम बुद्ध।)

इनमें से *दीपंकर संज्ञक* बुद्ध की विभावना ऐसी है कि यह अतीत में हुए सब से पहले बुद्ध हैं। वे चार असंख्येय एवं एक लाख कस्सप पूर्व में पृथिवी पर हो गये थे।[1] ऐतिहासिक गौतम बुद्ध वर्तमान समय के बुद्ध है, तो दीपंकर बुद्ध अतीत के बुद्ध हैं। तथा भविष्य में होने वाले बुद्ध को मैत्रेय बुद्ध नाम दिया गया है। भूत-भविष्य-वर्तमान के ऐसे तीन बुद्ध अलग अलग नामों से अभिहित किये

---

1. दीपंकरो पि भगवा आगन्त्वा, सुमेधतापसस्स सीसभागे ठत्वा.....इतो कप्पसतसहस्साधिकानं चतुन्नं असंख्येयानं मत्थके गोतमो नाम बुद्धो भविस्सति।-जातकट्ठकथा, सम्पूर्णानन्द सं. वि.वि. काशी, पृ. 46

गये हैं। दीपंकर का मूर्ति-विधान देखा जाय तो-वे बैठे हुए दक्षिण हस्त से अभय मुद्रा को दिखा रहे होते हैं। (नेपाल, चीन, थाईलेन्ड में वे खड़े हुए भी आकारित किये गये हैं।) एवं उनके साथ में दो बोधिसत्त्व भी दिखाये जाते हैं, जिनका नाम मंजुश्री एवं वज्रपाणि है। (कुत्रचित् अवलोकितेश्वर एवं वज्रपाणि भी उनके साथ में होते हैं।)

महायानी बौद्धों ने **अमिताभ** (जिसको नापा नहीं जा सकता हो ऐसी आभा वाले) बुद्ध वर्तमान जगत् के अधीश्वर हैं। इस नाम के अन्य स्वरूप अमिदा, अमितायुस भी प्रचलन में हैं। वे अन्तरिक्ष, स्वर्ग में स्थित माने जाते हैं। तिब्बत एवं मोंगोलिया में माना जाता है कि-पाँच ध्यानी बुद्धों (अक्षोभ्य, अमोघसिद्धि, रत्नसंभव, विरोचन एवं अमिताभ) में से एक हैं। इस अमिताभ के साथ में अवलोकितेश्वर तथा वज्रपाणि प्रदर्शित किये जाते हैं।। तीसरा महत्त्वपूर्ण नाम है:- **अवलोकितेश्वर** बुद्ध। जिनके 108 अवतार हुए हैं ऐसा माना गया है। इनमें से एक अवतार पद्मपाणि का है और उनका चित्र अजन्ता (महाराष्ट्र) की गुफाओं में भित्तिचित्र में मौजुद है। (द्रष्यव्य-परिशिष्ट-3) अवलोकितेश्वर शब्द सूचित करता है तदनुसार यह बुद्ध अधोमुख बताये जाते हैं। क्योंकि वे स्वयं स्वर्ग लोक में खड़े हैं और पृथिवी लोक के दुःखी जीवों की चीत्कार को सुनने को तत्पर रहते हैं, ताकि वे तुरंत दुःखी व्यक्ति की मदद करने को पहुँच सकें!

[15]

बुद्ध के प्रधान भिक्षुओं (महाश्रावकों) का परिचय

भगवान् बुद्ध के प्रभाव में तत्कालिक ब्राह्मण संस्कृति के सभी दार्शनिक मत निष्प्रभ होने लगे। आषाढी पूर्णिमा के दिन वाराणसी में बुद्ध ने प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन किया, तब पंच वर्गीय भिक्षु सब से पहले उनके शिष्य बनें। तत्पश्चात् यश एवं उसके चार साथियों का संघ में प्रवेश हुआ। उसके बाद बुद्ध ने उरुवेल में आ कर, कश्यप एवं उसके पांच सौ अनुयायियों पर प्रभाव डाला। चौथे क्रम में, वे जब राजगृह आये तब (संजय नाम के गुरु को छोड कर) सारिपुत्त एवं मौगल्लान बुद्ध के शिष्य बने हैं। वे दोनों के साथ संजय के 250 शिष्य भी जुड़े। उसके बाद तो संघ की कीर्ति भी बढ़ी और शिष्य-संख्या भी बढ़ती चली है। जिसका वर्णन महावग्ग में मिलता है।

यहाँ एक उल्लेखनीय बिन्दु है- भगवान् बुद्ध के संघ में भिक्षु बनने वाले कतिपय व्यक्ति तो उनके स्वयं के कुटुम्बीजन भी थे। जैसे कि, शाक्यकुल में शुद्धोदन, शुक्लोदन, अशुक्लोदन, धौतोदन एवं अमितोदन नाम के पाँच भाई थे।

उनको अमितावी नाम की एक बहन भी थी। इन भाईयों के घर कौन कौन पुत्र पैदा हुए?, तो 1. शुद्धोदन की प्रथम पत्नी महामाया से बोधिसत्त्व (सिद्धार्थ) का जन्म हुआ और दूसरी पत्नी महाप्रजापति से नन्द नाम का पुत्र जन्मा। कालक्रम से सिद्धार्थ गौतम बुद्ध बना और नन्द भी बौद्ध भिक्षुक बना। 2. शुक्लोदन के घर दो पुत्र हुए, महानाम और अनुरुद्ध। महानाम बोधिसत्त्व के जन्म से पहले पैदा हो चुका था। किन्तु वह गृहस्थी बना रहा। तथा उसका अनुज भ्राता अनुरुद्ध बौद्ध भिक्षु बना था। 3. अमितोदन के घर आनन्द नाम का पुत्र जन्मा, जो बुद्ध के प्रधान शिष्यों में अतीव महत्त्व रखता है। इस आनन्द ने ही सुत्तपिटक का प्रथम गान किया था और बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय कुशीनारा में वही उपस्थित था। (अशुक्लोदन तथा धौतोदन की संतति का निर्देश नहीं मिलता है।)

अब बुद्ध के कतिपय प्रधान शिष्यों का परिचय कर लेना उपकारक होगा। बुद्ध के शिष्यों के लिए बुद्धघोषाचार्य ने "असीति महासावक" शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु उन 80 के नामों की सूचि कहीं से मिलती नहीं है। श्रीधर्मानन्द कोसम्बी जी ने "बौद्धसंघनो परिचय"[1] नामके ग्रन्थ में कुल मिला कर 77 महाश्रावकों (=शिष्य) का परिचय दिया है। उनमें से सात नाम प्रधान हैं। 1. कौण्डिन्य, 2. सारिपुत्त (शारिपुत्र), 3. मोग्गलान (मौद्गल्यायन), 4. महाकाश्यप, 5. उपालि एवं अनुरुद्ध, 6. आनन्द, 7. राहुल।।

1. **कौण्डिन्य** का परिचय देते हुए श्री धर्मानन्द जी ने लिखा है कि-भगवान् बुद्ध ने ही अंगुत्तनिकाय के एकनिपात के एतदग्गवग्ग में कहा है कि- *एतदग्गं भिक्खवे, मम सावकानं भिक्खूनं रत्तञ्ञूनं यदिदं अञ्ञासिकोण्डञ्ञो।* ("भिक्षुओं, सब से लम्बे समय तक संघ में रहने वाले भिक्षुश्रावकों में कौण्डिन्य पहला है।" बोधिसत्त्व के जन्म के बाद, जिन आठ ब्राह्मणों ने भविष्यकथन किया था, उनमें कौण्डिन्य सब से युवान् व्यक्ति था। कौण्डिन्य यह गोत्र नाम है और मूल नाम "सुदत्त" है ऐसा जातकट्ठकथाकार का कहना है। अन्य ब्राह्मणों ने संदिग्ध (द्विधाजनक) रीति से कहा था, लेकिन कौण्डिन्य ने निश्चितता पूर्वक कहा था कि यह बुद्ध ही बनेगा। बोधिसत्त्व ने जब गृहत्याग किया तब उनके साथीदार अन्य (वृद्ध) ब्राह्मण तो जीवित नहीं रहे थे। अतः कौण्डिन्य ने उनके पुत्रों को बताया कि-"गौतम ने गृहत्याग किया है और वह निश्चित बुद्ध होगा। अतः हम सब प्रव्रज्या लेकर उनके धर्मामृत का लाभ लें।" भविष्यकथन करने वाले उन सात ब्राह्मणों के पुत्रों मे से चार ने कौण्डिन्य के कहने से प्रव्रज्या ले

1. बौद्धसंघनो परिचय-लेखकः अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, प्रथमावृत्ति-1925, पुनर्मुद्रण-1988, (पृ. 161 से 286)

ली। उन्हों ने बोधिसत्त्व के पास जा कर, उनकी सेवा शुरू की। ये पाँचो को "पञ्च वर्गीय भिक्षुओं" के नाम से जाने जाते हैं। उन पाँचों को ही बोधिसत्त्व ने बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाने के बाद, प्रथम धर्मोपदेश दिया था, जिसको धर्मचक्र-प्रवर्तन कहा जाता है। तथा बुद्ध का प्रथम संघ उन पञ्चवर्गीय भिक्षुओं से ही बना था।।

2. **शारिपुत्र**[2] एवं 3. **मौद्गल्यायनः**- भगवान् बुद्ध ने कहा है कि- *महापञ्ञानं यदिदं सारिपुत्तो।* (=महा-प्राज्ञानां श्रावकानां मध्ये अयं शारिपुत्रः श्रेष्ठः।) "भिक्षुओं, मेरे महाज्ञानी भिक्षुश्रावकों में सारिपुत्त श्रेष्ठ है।" तथा, *इद्धिमन्तानं यदिदं महामोग्गल्लानो।* "हे भिक्षुओं, ऋद्धिमान् भिक्षुश्रावकों में महामोग्गलान श्रेष्ठ है।"(द्रष्टव्य-अंगुत्तनिकाय में एककनिपात का एतदग्ग-वग्ग) अतः यह जानना रसप्रद होगा कि बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र की व्यक्तिरेखा कैसी रही होगी?। सारिपुत्त और मोग्गल्लान बुद्ध के दो प्रधान शिष्य (=अग्रश्रावक) रहे हैं। सारिपुत्त के पिता का नाम वंगन्त तिष्य था और माता का नाम शारद्वती, सारिका (जिसकी आवाज सारिका पक्षी जैसी थी) अथवा रूपशारी था। अतः माता के नाम से जो "सारिपुत्र" था, वह पिता के नाम से "उपतिष्य" भी कहलाता था। सारिपुत्त बुद्ध के नियमों का कठोर पालन करता था और करवाता भी था। अतः उसको *धर्मसेनापति* का बिरुद दिया गया था। बौद्ध शिल्पकला कारीगरियों में सारिपुत्त को बुद्ध के दक्षिणहस्त पर और मोग्गल्लान को वामहस्त पर बैठे हुए दिखाये हैं। श्रीलंका के थेरवादियों ने तो सारिपुत्त को बुद्ध के बाद, "द्वितीय बुद्ध" के रूप में स्वीकारा है। सारिपुत्त के शरीर का वर्ण सोनेरी था। वह अत्यंत बुद्धिमान् एवं वाक्पटु था। अतः जब कभी बुद्ध शिष्यों को उपदेश देते देते परिश्रान्त हो जाते थे तब वे सारिपुत्त को उपदेश देने का कार्य सोंपते थे। सारिपुत्त नये दीक्षित हुए भिक्षुओं का अनुशासन भी करता था और ध्यान की कोटिओं का ज्ञान भी देता था। कहा जाता है कि अभिधम्म-पिटक के विकास में सारिपुत्त का योगदान अतिमहत्त्व का है।

पिटकों से मिल रही जानकारी के अनुसार, उपतिस्स (सारिपुत्त) एवं कोलित नामके दो वेद-पारंगत ब्राह्मण थे। दोनों समवयस्क एवं समानशील वाले होने के कारण दोनों में मैत्री बनी। उस समय राजगृह में जात्रा (गिर्यग्रसमजा-गिरग्गसमज्जा) का आयोजन होता था। दोनों मित्र वहाँ पर पहुँचे और नृत्य-गानादि का आनन्द लेने में संलग्न हुए। किन्तु पूर्व भव के पुण्यों का उदय हुआ और वे सोचने लगे कि सौ साल के बाद इन में से कोई नहीं बचेगा। इस तरह जगत्

---

1. इसी सारिपुत्त के नाम पर अश्वघोष ने सारिपुत्त-प्रकरणम् लिखा था, जो आज लुप्तप्राय है।

की अनित्यता को जान लेने के बाद, वे तत्त्वजिज्ञासु बनकर निकल पडे थे। तत्कालिक दर्शनों से संतुष्ट नहीं होने पर, वे दोनों संजय नाम के गुरु की शरण में जाते हैं। वह आशंकावादी था। देवता या धर्म विषयक स्वीकृत मान्यताओं पर वह प्रश्न खडा करता था। लेकिन उपतिस्स एवं कोलित ने उसको भी छोड दिया। दोनों ने निश्चय किया कि जिसको संतोषकारक ज्ञान मिले तो दुसरे को बताना। अब रास्ते में उपतिष्य को बुद्ध के ही अश्वजित् एवं पुनर्वसु नाम के दो शिष्यों से भेट हुई। तब उपतिष्य ने उनको पुछा कि आपके मुख पर शान्ति की मुद्रा कैसे अंकित हुई है? उन्होंने बताया कि बुद्ध के कारण। बुद्ध कहते हैं कि-

ये धम्मा हेतुप्पभवा, तेसां हेतुं तथागतो आह।
तेसाञ्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ति।।[1]

(विनयपिटक, 3 महावग्ग)

अर्थात्- हेतु से उत्पन्न होनेवाली जितनी वस्तुएं हैं, उनका हेतु है, यह तथागत बतलाते हैं। उनका निरोध हैं, (उसको भी वे बतलाते हैं), यही महाश्रमण का वाद है। (अनुवादक-श्रीराहुल सांकृत्यायन), अर्थात्, बुद्ध सृष्टि का सर्जन अलौकिक नहीं मानते है)[2]।। इसको सुन कर, उपतिष्य कोलित को साथ में लेकर, बुद्ध को मिलते हैं। उन दोनों को आते देख कर ही, बुद्ध ने कह दिया कि ये मेरे "अग्रश्रावक" होंगे। वे उनके शिष्य बन जाते हैं। तब से उन दोनों का नया नाम प्रसिद्ध होता है:-सारिपुत्त और मोग्गलान। तत्पश्चात् उन दोनों का अनुगमन करते हुए संजय के 250 अनुयायी भी बौद्ध-संघ में जुड़ते हैं।।

श्रीधर्मानन्द जी लिखते हैं कि-त्रिपिटकों के स्वाध्याय में जिनका प्रवेश हुआ है उनको सारिपुत्त और मोग्गलान की महत्ता बताने की आवश्यकता नहीं है। सारिपुत्त के द्वारा उपदिष्ट वचन सुत्तपिटक में संगृहीत है। एकबार सेल नामके ब्राह्मण ने बुद्ध को प्रश्न किया की आपका सेनापति कौन है?, तो भगवान् ने कहा कि-

---

1. यह गाथा बौद्ध परम्परा में सुप्रसिद्ध है और शिलालेखों पर अनेक बार उत्कीर्ण की गई है।
2. ब्राह्मण-संस्कृति के पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति दैवी बताई है। जिसके लिए मत्स्य अवतार, कुर्म अवतार, वराह अवतारादि कल्पनाएं हैं। दार्शनिकों ने इसके लिए मायावाद या अनिवर्चनीय ख्याति का सहारा लिया है। जब बुद्ध ने सृष्टि एवं दुःख की उत्पत्ति के लिए तृष्णा को हेतु माना है। तृष्णाच्छेद होने पर संसारचक्र का निरोध हो सकता है। एक पक्ष अयथार्थवादी है, तो उसके प्रतिपक्ष में खडा बौद्धदर्शन यथार्थवादी लगता है।

मया पवत्तितं चक्कं धम्मचक्कं अनुत्तरं।
सारिपुत्तो अनुवत्तेति अनुजातो तथागतं।।

अर्थात् "मैं ने प्रस्थापित किया श्रेष्ठ चक्र-धर्मचक्र-सारिपुत्त चला रहा है, तथागत के पीछे पीछे ही वह चलने वाला है।" इसी तरह से मोग्गलान की योगसिद्धियाँ भी सुत्तपिटक तथा विनय पिटक में अनेकत्र उल्लिखित हैं।।

कालक्रम से अश्वजित् एवं पुनर्वसु किसी एक नगर में ही अपना नित्य निवास शुरू कर लेते हैं और बौद्ध-मार्ग का विकृत स्वरूप लोगों के सामने पेश करते हैं। नर्तकियों के साथ, गाने-बजाने वालों के साथ, मद्यपान करने वालों के साथ संबन्ध बना लेते हैं। तब बुद्ध ने सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान को ही "प्रव्राजनीय कर्म" (=संघ से बाहर निकालने की प्रक्रिया) के लिए उनके पास भेजा। (विनय-पिटक का 4. चुल्लवग्ग) सारिपुत्त ने उस "प्रव्राजनीय कर्म" से अश्वजित् एवं पुनर्वसु को बौद्धसंघ से निष्कासित किये।

उसी तरह से, देवदत्त, जो बुद्ध का बाल्यावस्था से विरोध करने वाला था, उसने भी बौद्ध-संघ में भेद पैदा किया और बुद्ध के कुछ शिष्यों को अपने साथ ले गया। अब वह भी गादीपति बन कर ऐश-आराम से रहने लगा। तो बुद्ध ने इसी सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान को देवदत्त के संघ में भेज कर, युक्तिपूर्वक अपने शिष्यों को फिर से वापस बुला लिये। इन दोनों शिष्यों की वयः बुद्ध से कुछ ज्यादा थी और बुद्ध के महापरिनिर्वाण से कुछ समय पहले ही सारिपुत्त का देहावसान हो गया। (बोधगया में उसका स्तूप बना, उनकी अस्थियों का पुनरपि बटवारा करके, अन्यत्र भी उसके स्तूप बनाये गये हैं, जिनमें से एक सांची, मध्यप्रदेश में भी है।)

बुद्ध ने सारिपुत्त को दीक्षा दी उसका वर्णन मूल सर्वास्तिवादी ग्रन्थों में मिलता है, जिसमें अनेक चमत्कारिक घटनाओं का निरूपण मिलता है। जैसे कि, बुद्ध ने धर्मोपदेश किया उसी समय उसके वस्त्र अपने आप बदल गये और मस्तक पर से सब केश निकल गये इत्यादि। बौद्ध भिक्षु होने के बाद, केवल पंदर दिनों में ही उसने अर्हत् पद प्राप्त कर लिया था। उसने ही बुद्ध के कहने पर, उनके पुत्र राहुल को भी भिक्षुक बनाया था। (चीनी यात्री फाहियान एवं ह्य एन त्संग के मत से यह सारिपुत्त नालक गाँव का रहने वाला था। जो सिद्धार्थ के जन्म के बाद ऋषि असित के साथ आये हुए शिष्य का नाम भी बताया जाता है।। यद्यपि सुत्तपिटक के नाळकसुत्त में तो असित एवं नालक को मातुल एवं भागिनेय बताये हैं।) पिटकादि ग्रन्थों में ऐसा भी बयान मिलता है कि-ऐतिहासिक बुद्ध के भी पूर्व में अनेक बुद्ध हुए थे। उनमें से एक अनोमदस्सी बुद्ध का नाम

आता है। अनोमदस्सी के दो ब्राह्मण शिष्य थे, जिनके नाम थे-सारद एवं श्रीवर्धन। वे दोनों ही कालान्तर में सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान बने हैं। जैसे कि-अपदान नामके ग्रन्थ में आये "सारिपुत्तत्थेर अपदान" नामक प्रकरण में निम्नोक्त पालि श्लोक लिखे हैं, जिनमें अनोमदस्सी बुद्ध ने भविष्यकथन किया था कि-

"250-पच्छिमे भव सम्पने मनुस्सत्तं गमिस्सति।
ब्राह्मणी सारिया नाम, धारयिस्सति कुच्छिना।।,

251-मातु या नामगोतेन पञ्ञायिस्सतियं नरो।
सारिपुत्तो ति नामेन तिक्खपञ्ञो भविस्सति।।,

254-सारिपुत्तो.. हेस्सति अग्गसावको।।"

सुत्तपिटके खुद्दक-निकाये थेरापदानं पठमोभागो। The Apadan, part-1, Pali Publication, 1959, https://ignca.gov.in 10478. इन पंक्तियों में सारिपुत्त को बुद्ध का अग्रश्रावक कहा है और तीक्ष्ण प्रज्ञावान् कहा है। इति दिक्।।

4. महाकाश्यप नाम का पाँचवां महाश्रावक था। अंगुत्तरनिकाय के एककनिपात के एतदग्ग-वग्गो में कहा है कि-*धुतवादानं* (पाठान्तर-*धुतङ्गधरान*) *यदिदं महाकस्सपो*।। त्रिपिटकों में चार "धुतंगों"=सादगी से रहनेवाले भिक्षु का उल्लेख मिलता है:-1. जंगल में ही रहना, 2. टूटे-फटे चीवरों को ही धारण करना, 3. केवल तीन ही चीवर का विनियोग करना, 4. भोजन के लिए किसी के निमन्त्रण का नहीं स्वीकार करना और केवल भिक्षा से ही जीवन-निर्वाह करना।[1] बुद्ध के महाकाश्यप नामके श्रावक (भिक्षु) ने इनमें से दूसरे धुतंग का पालन किया था तथा वह अपने अनुयायियों को भी इसी व्रत का पालन करने का कहता था। इसी लिए भगवान् बुद्ध ने भी कहा है कि-"हे भिक्षुओं, धुतंग =अत्यन्त सादगी से रहनेवाले मेरे भिक्षुओं में महाकाश्यप श्रेष्ठ है"। लेकिन यहाँ प्रश्न होता है कि बुद्ध ने "धुतंगों में श्रेष्ठ" जिस महाकश्यप का निर्देश किया है-वह कौन है? एवं वाराणसी में धर्मचक्र-प्रवर्तन करके, भगवान् बुद्ध ने (अग्निहोत्र करनेवाले) तीन ब्राह्मण काश्यप बन्धुओं को, उनके 500 शिष्यों के साथ, बौद्ध-भिक्षु बनाये थे। वह महाकश्यप कौन है?, इन दो महाकश्यपों में से, किसने (बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद हुई) राजगृह में हुई प्रथम संगीति में सभाध्यक्ष का कार्य किया था?। तो विशुद्धिमार्ग की "मनोरथपूरणी" टीका में धुतंग का पालन करने वाले महाकश्यप को राजगृह की प्रथम संगीति का

1. लेकिन श्रीधर्मानन्द कोसम्बी कहते हैं कि विसुद्धिमग्गो के द्वितीय परिछेद में 13 धुतंगो का भी निर्देश है।

सभाध्यक्ष बताया है। किन्तु स्थविर के रूप में तो अग्निहोत्र का त्याग करके, जो बौद्धभिक्षु बना था, वही महाकश्यप सभाध्यक्ष बन सकता है। क्योंकि धर्मचक्र-प्रवर्तन करके, बुद्ध जब राजगृह पधारे तब मगध के महातीर्थ नाम के गाँव में एक श्रीमन्त ब्राह्मण के घर कश्यप का जन्म हुआ था, जो बाद में धुतंग बना था। अतः यह धुतंग महाकश्यप प्रथम संगीति के समय में स्थविर नहीं हो सकता है।। फिर भी बौद्ध-साहित्य के विशेष जानकार ही इस विषय में प्रमाण हो सकते हैं।।

5. उपालि एवं अनुरुद्धः- अनुरुद्ध नामका महाश्रावक भी ध्यानास्पद है। उसके लिए बुद्ध ने कदाचित् कहा था:-"मेरे दिव्यचक्षु भिक्षुश्रावकों में अनुरुद्ध श्रेष्ठ है"। इसका जन्म शुद्धोदन के अमितोदन नाम के भ्राता के घर हुआ था। उसका ज्येष्ठ भ्राता महानाम था। पिता जी के मरण के बाद खेती कार्य का भार वही उठाता था। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति होने के बाद, उसने प्रव्रज्या लेने का विचार किया। अतः उसने खेती का पूरा कार्यक्रम कैसे चलाना होगा- वह अपने अनुज अनुरुद्ध को समझाया। कृषिकर्म जटिल है-ऐसा समझते हुए उसने कहा, अब मैं ही प्रव्रज्या लेता हूँ और मेरे ज्येष्ठ भ्राता महानाम ही खेती के कार्य को संभालते रहें। अब, अनुरुद्ध की माता ने प्रव्रज्या लेने की मनाई की। किन्तु पुत्र की जिद्द को देखते हुए उसने एक शर्त रखी कि यदि शाक्यों का एक अग्रेसर, जो अनुरुद्ध का मित्र भी था, यदि वह प्रव्रज्या लेता है तो वह अनुमति देगी। अनुरुद्ध ने अपने मित्र भद्दिय को समझाया। लेकिन तुरंत वह तैयार नहीं होता है। अनेक कोशिशों के बाद कुल छः शाक्यकुमार प्रव्रज्या लेने के लिए निकले। उनमें भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, कम्बिल एवं देवदत्त शामिल थे। उन्हों ने अपने साथ उपालि नाम का हजाम भी ले लिया। मार्ग में जाते हुए उन्होंने अपने किंमती वस्त्राभूषण निकाल कर उपालि को दे दिये और घर वापस चले जाने को कहा। उपालि ने वापस जाते समय सोचा कि-शाक्य लोग क्रूर होते हैं। मुझे अकेला वापस आया देख, वे कदाचित् मुझे मार डालेंगे। अतः उसने भी बुद्ध के पास जा कर, प्रव्रज्या लेने का दृढ संकल्प कर लिया। लेकिन अपने पास उन राजकुमारों के जो किमती वस्त्राभूषण थे उनका क्या किया जाय?, इस समस्या का हल निकालने के लिए, उसने जंगल के वृक्षों की शाखाओं पर उन वस्त्रों एवं आभूषणों को लटका दिये और उनके नीचे लिख दिया कि-"जो देखे, उसको ये दे दिया"! इस तरह से पूर्ण विरक्त हो कर, वह बुद्ध के पास पहुँचा। उन राजकुमारों ने कहा कि भगवान् इस उपालि हजाम को पहले प्रव्रज्या दें, ताकि हम उनको प्रणाम करके, पहले अपने अभिमान को छोडे। (इसी उपालि ने बुद्ध-निर्वाण के बाद, भिक्षुओं के लिए समय समय पर बुद्ध ने दिये विनय=नियमों का संगायन किया था, जिससे विनयपिटक का पाठ तैयार हुआ है। अतः

भिक्षुश्रावकों में विनयधर उपालि श्रेष्ठ है ऐसा कहा गया है।)। प्रव्रज्या के बाद पहले ही चतुर्मास में अनुरुद्ध ने ध्यानसमाधि को सिद्ध कर ली। जिससे उसको दिव्यचक्षुज्ञान भी प्राप्त हुआ। महा-परिनिर्वाण सुत्त में एक उल्लेख ऐसा मिलता है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के समय आनन्द के साथ यह अनुरुद्ध भी उपस्थित था। तब उसने अपने अन्तरचक्षुओं के ज्ञान से जाना कि भगवान् किन किन ध्यानों से गुजरते हुए निर्वाण में प्रवेश कर गये।।

6. शिष्य आनन्द के लिए भगवान् बुद्ध ने बहुविध विधान किये हैं। जैसे कि- *एतदग्गं, भिक्खवे, मम सावकानं भिक्खूनं बहुस्सुतानं यदिदं आनन्दो। ....* सतिमन्तानं, ... गतिमन्तानं, ... धितिमन्तानं, उपट्ठाकानं यदिदं आनन्दो।-अंगुत्तरनिकायस्य एककनिपाते चतुत्थवग्गो।। ("1. बहुश्रुत भिक्षुश्रावकों में आनन्द श्रेष्ठ है। स्मृतिमान् भिक्षुश्रावकों में आनन्द श्रेष्ठ है। गतिमान् भिक्षुश्रावकों में आनन्द श्रेष्ठ है। धृतिमान् भिक्षुश्रावकों में आनन्द श्रेष्ठ है। उपस्थापक भिक्षुश्रावकों में आनन्द श्रेष्ठ है।।") श्रीधर्मानन्द कोसम्बी कहते हैं कि-सभी 77 महाश्रावकों को के नाम दो से अधिक सुत्त मिलते नहीं हैं, केवल आनन्द ऐसा एक शिष्य है कि जिसके नाम पर, सुत्तपिटक में पाँच सुत्त अंकित हुए हैं। इससे ही उसकी महत्ता समझी जाती है।। जैसा कि पहले बताया है, आनन्द बुद्ध के पितृव्य अमितोदन का पुत्र है, और वह उंमर में बुद्ध से छोटा था। उसने अनुरुद्ध आदि छः शाक्यकुमारों के साथ प्रव्रज्या ली थी। वह इतना बहुश्रुत था कि महाकश्यप ने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद, आनन्द से ही सुत्तपिटक का पाठ तैयार करवाया था। सुत्तपिटक के अनेक सुत्तों के आरम्भ में-एवं मे सुतं (मैंने भगवान् के मुख से ऐसा निकलता हुआ सुना है) शब्द आते है। आनन्द बुद्ध का सच्चा भक्त था। बुद्ध के निर्वाण तक उसको अर्हत्पद नहीं मिला था। वह केवल स्रोतापन्न था, फिर भी बुद्ध का वह खूब प्रीतिपात्र था। बीच बीच में भगवान् के सेवा करने वाले अनेक भिक्षु थे, जैसे कि-नागसमाल, नागित, उपवाण, सुनकखत्त, चुन्दश्रामणेर, सागत,राध एवं मेधिय। लेकिन आनन्द जैसा एक भी नहीं था। उसीने बुद्ध को इस बात के लिए मना लिया था कि माता महाप्रजापति को प्रव्रज्या ले कर, भिक्षुणी बनने की अनुमति दी जाय। उसने माता की तीव्र इच्छा एवं जिस कठोर परिश्रम को लेती हुई नंगे पाँव चल कर, वह विहार के बाहर आयी थी-उसको देख कर आनन्द का दयालु मन हिल गया था। दयाशील होना तो बौद्ध होने की पहली शर्त है।।

7. राहुल श्रामणेर के लिए कहा गया है कि-एतदग्गं, भिक्खवे, मम सावकनं भिक्खूनं सिक्खाकामानं यदिदं राहुलो।-अंगुत्तनिकायस्य एककनिपाते ततियवग्गो।। (नियमों को सिखने के लिए आस्था रखनेवाले भिक्षुश्रावकों में राहुल श्रेष्ठ है।)भगवान् बुद्ध लम्बे समय तक राजगृह में रहे, तत्पश्चात् वे एक दिन

कपिलवस्तु पधारे और वहाँ के न्यग्रोधाराम में निवास किया। पिंडपात (भिक्षाटन) के लिए वे घूमते फिरते शुद्धोदन के घर की ओर आगे बढे। राहुल की माता यशोधरा ने उनको गवाक्ष से देख लिये। (इस सन्दर्भ में युट्युब पर उपलब्ध भन्ते इन्दरथन की"नरसिंह-गांथा" श्रवणीय है:- https://youtu.be/kcJ2zn5GKB8A) धर्मशीला पत्नी ने राहुल को कहा-यह श्रमण तेरा पिता है, जो लोकहित के लिए घर से बेघर हुए हैं। तू उनके पास जा और तेरा पैतृक अधिकार (विरासत, वसीहत) मांग ले। पुत्र राहुल श्रमण के पास जा कर, बोलता है कि-"हे श्रमण, मुझे तुम्हारी च्छाया सुखकर लगती है"। उसको सुन कर बुद्ध आगे चल देते हैं तथा पुत्र राहुल भी उनके पीछे अनुसरण करता है, एवं बार बार बोलता रहता है कि-"मुझे पैतृक अधिकार दो, पैतृक विरासत दो"। इस तरह वे दोनों चलते चलते विहार तक पहुँच जाते हैं। बुद्ध ने शारिपुत्र को बुला कर, कहा इसको प्रव्रज्या दो।

शारिपुत्र ने बुद्ध से पुछा कि मैं इसको किस तरह से प्रव्रज्या दूँ?। तब भगवान् ने कहा कि-हे भिक्षुओं, इस तरह से तीन शरणों से श्रामणेर-प्रव्रज्या देनी चाहिए। सब से पहले इस कुमार का क्षौर कर्म करो, फिर काषाय वस्त्र पहनाओ, उसके बाद वह सभी भिक्षुओं को वन्दन करें। उसके बाद, उसको जमीन पर कुकडु बिठा कर, तीन बार बोलना है कि- *बुद्धं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। बाद में शारिपुत्र ने इसी क्रम से राहुल को श्रामणेर बनाया।*

उसके बाद, अलग अलग प्रसंगों पर, स्वयं भगवान् ने उसको संबोधित किया है। जिनको अंबलट्ठिक राहुलोवाद, महाराहुलोवाद एवं चूळराहुलोवाद नाम से जाना जाता है और वे तीनों ही मज्झिमनिकाय में संगृहीत है। इनमें क्रमशः शील, समाधि तथा प्रज्ञा का निरूपण है। ये तीन बौद्ध धर्म के तीन सोपान भी है।। सम्राट् अशोक ने इन सुत्तों को बाभ्रा अभिलेखों में उत्कीर्ण करवाये हैं।।

---00---

परिशिष्ट-2

बुद्धघोषाचरियविरचिता जातकट्ठकथा के कुछ अंशः-

दूरे निदान

[1]

दीपंकर-भगवता सुमेधस्स बुद्ध-भाव-व्याकरणं

दीपंकरो पि भगवा आगन्त्वा, सुमेधतापसस्स सीसभागे ठत्वा, मणिसीहपञ्जरं उग्घाटेन्तो विय पञ्चवण्णप्पसादसम्पन्नानि अक्खीनि उम्मीलेत्वा कललपिट्ठे निपस्सं सुमेधतापसं दिस्वा "अयं तापसो बुद्धत्ताय अभिनीहारं कत्वा निपन्नो........ गोतमो नाम बुद्धो भविस्सती"ति ञत्वा, ठिकतो व परिसमज्झे व्याकासि:--पस्सथ नो तुम्हे इमं उग्गतपं तापसं कललपिट्ठे निपन्नं ति? एवं भन्ते! "अयं बुद्धत्ताय अभिनीहारं कत्वा निपन्नो। समिज्झिस्सति इमस्स पत्थना। इतो कप्प-सत-सहस्साधिकानं चतुन्नं असंख्यानं मत्थके गोतमो नाम बुद्धो भविस्सति, तस्मिं पनस्स अत्तभावे कपिलवत्थु नाम नगरं निवासी भविस्सति, माया नाम देवी माता, सुद्धोदन नाम राजा पिता, *अग्गसावको उपतिस्सो नाम थेरो, दुतियसावको कोलितो नाम, बुद्धपट्ठठाको आनन्दो नाम, अग्गसाविका खेमा नाम थेरी, दुतियसाविका उप्पलवण्णा नाम थेरी भविस्सति।*[1] परिपक्कञाणो महाभि-निक्खमनं कत्वा, महापधानं पदहित्वा, निग्रोधमूले पायासं पटिग्गहेत्वा, नेरञ्जराय तीरे परिभुञ्जित्वा, बोधिमण्डं आरुह्य, अस्सत्थरुक्खमूले अभिसम्बुज्झिस्सती ति।। (जातकट्ठकथा,पृ. 46)

[भावार्थ:-इस गद्यखण्ड में अनादि बुद्ध स्वरूप भगवान् दीपंकर ने जो भविष्य-कथन किया था कि यह सुमेधा तापस भविष्य में गौतम बुद्ध बनेंगे-इसका

---

1. अग्गसावको से लेकर भविस्सति-तक का भाग प्रक्षिप्त हो सकता है। क्योंकि बुद्ध के जीवन की घटनाओं में यहाँ क्रमभंग हो रहा है।पहले महाभिनिष्क्रमण होता है और कालान्तर में दो शिष्य (उपतिष्य एवं कोतिल, जो बाद में सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन के नाम से घोषित होते हैं) मिलते हैं। यहाँ जातकठ्ठकथा में मौग्गलायन का निर्देश ही नहीं है। आनन्द तो तीसरा शिष्य है। सारांशत:-एक ओर मौद्गल्यायन छुट ही गया है, तथा शिष्यों के नाम गृहत्याग से पहले कर दिया है। अत: यह प्रक्षिप्तांश का स्थान लगता है।।

निरूपण है। कल्प-शत-सहस्त्र वर्षों के बाद, जो गौतम बुद्ध होंगे वे कपिलवस्तु नामके नगर में निवास करने वाले होंगे, उनकी माता का नाम माया देवी होगा, उनके पिता राजा शुद्धोदन होंगे। तथा उनके अग्रश्रावक उपतिष्य (=सारिपुत्र) नामका स्थविर होगा, दूसरा श्रावक कोलित (=मौद्गल्यायन)तथा तीसार आनन्द नामका शिष्य जो बुद्ध के साथ सदैव उपस्थित रहेगा, अग्रश्राविका के रूप में क्षेमा नाम की स्थविरा होगा। (जो राजा बिम्बिसार की पत्नी का नाम है) दूसरी श्राविका उत्पलवर्णा नामकी स्थविरा होगी। यह गौतम बुद्ध परिपक्व ज्ञान होने पर महाभिनिष्क्रमण करके, महाप्रधान पद (युवराज पद) का त्याग करके, न्यग्रोध वृक्ष के नीचे पायस-ग्रहण करके, नेरंजरा नदी के पास जा कर उसका पान करके, बोधिमण्डल में आरोहण करके, अश्वत्थवृक्ष के मूल में बैठ कर अभिसम्बुद्ध होंगे।।] (इसके साथ **"अपदान"** ग्रन्थ का कथन तुलनीय है)

[2]

पारमिता-पूरण-कालो

१. दान पारमिता *(के वर्णन में शश-पण्डित जातक कथा का निर्देश)*

पारमियो पूरेन्तस्स चस्स अकित्तिब्राह्मणकाले, सङ्खब्राह्मणकाले, धनञ्जय-राजकाले, महासुदस्सनकाले, महागोविन्दकाले, निमिमहाराजकाले, चन्दकुमारकाले, विसय्हसेट्ठिकाले, सिबिराजकाले, वेस्सन्तर-काले ति दान पारमिताय पूरितत्तभावानं परिमाणं नाम नत्थि। एकन्तेन पनस्स ससपण्डितजातके-

भिक्खाय उपगतं दिस्वा सकत्तानं परिच्चजिं।
दानेन मे समो नत्थि एसा मे दानपारमी त्ति।।

एवं अत्तपरिच्चागं करोन्तस्स दानपारमिता परमत्थपारमी नाम जाता।। (पृ. 104-105)

[3]

अविदूरे निदान- **लुम्बिनीवने बोधिसत्तुप्पत्ति** (लुम्बिनी वन में बोधिसत्त्व का जन्म)

महामाया पि देवी पत्तेनतेलं विय दस मासे कुच्छिना बोधिसत्तं परिहरित्वा, परिपुण्णगब्भा ञातिघरं गन्तुकामा सुद्धोदनमहाराजस्स आरोचेसि-इच्छामहं, देव, कुलसंतकं देवदहनगरं गन्तुं त्ति। राजा "साधू" ति सम्पटिच्छित्वा, कपिलवत्थुतो याव **देवदहनगरा** मग्गं समं कारेत्वा, कदलिपुण्णघटधजपटाकादीहि अलङ्कारापेत्वा, देविं सोवण्णसिविकाय निसीदापेत्वा, अमच्चसहस्सेन उक्खिपापेत्वा, महन्तेन परिवारेन पेसेसि।

द्विन्नं पन नगरानं अन्तरे उभयनगरवासीनं पि लुम्बिनीवनं नाम मङ्गलसालवनं अत्थि। तस्सिं समये मूलतो पट्ठाय याव अग्गसाखा सब्बं एकपालिफुल्लं अहोसि। साखन्तरेहि चेव पुप्फन्तरेहि च पञ्चवण्णभमरगणा नानप्पकारा च सकुणसङ्घा मधुरस्सरेन विकूजन्ता विचरन्ति। सकलं लुम्बिनीवनं चित्तलतावनसदिसं महानुभावस्स रञ्ञो सुसज्जितआपानमण्डलं विय अहोसि। देविया तं दिस्वा सालवनकीळं कीळितुकामता उदपादि।

अमच्चा देविं गहेत्वा सालवनं पविसिंसु। सा मङ्गलसालमूलं गन्त्वा सालसाखं गण्हितुकामा अहोसि। सालासाखा सुसेदितवेत्तग्गं विय ओनमित्वा देविया हत्थपथं उपगञ्छि। **सा हत्थं पसारेत्वा साखं अग्गहेसि।** तावदेव चस्सा कम्मजवाता चलिंसु। अथस्सा साणिं परिक्खिपित्वा महाजनो पठिक्कमि। **सालसाखं गहेत्वा तिट्ठमाना एवस्सा** गब्भवुट्ठानं अहोसि।

तं खणं येव चतारो पि सुद्धचित्ता महाब्रह्मानो सुवण्णजालं आदाय सम्पत्ता। तेन सुवण्णजालेन बोधिसत्तं सम्पटिच्छित्वा मातु पुरतो ठपेत्वा, "अत्तमना, देवि होहि, महेसक्खो ते पुत्तो उप्पन्नो" ति आहंसु।। पृ. 131-132. (द्रष्टव्य-परिशिष्ट-3, बुद्धजन्म मातायाः चित्रम्)

[**भावार्थः-** इस गद्यखण्ड में, महामाया देवी ने, जब गर्भावस्था के दश मास पूर्ण हुए तब, शुद्धोदन के सामने अपने ज्ञातिगृह (मातपिता के घर) में जाने की इच्छा प्रकट की। महामाया का ज्ञातिगृह देवदह नाम के नगर में था। कपिलवस्तु एवं देवदह के बीच में, मार्ग में लुम्बिनी नामका मंगलकारी सालवृक्षों का उपवन था। उस पुष्प, फल, विविध पक्षियों के कूजन एवं भ्रमरगुंजन से परिपूर्ण उपवन में जा कर, महामाया को क्रीडा हेतु घूमने की इच्छा होती है। राजपरिजन के साथ वह उसमें पहुँचती है। वहीं पर, सालवृक्ष की (ललितविस्तर के अनुसार-प्लक्ष्यवृक्ष की) शाखा को पकड़ कर खड़े खड़े ही बोधिसत्त्व को जन्म दिया। तथा शुद्धचित्त वाले चार महाब्राह्मणों ने सुवर्णजाल में उस पुत्र बोधिसत्त्व को उठा लिया। इत्यादि।।]

सत्त सहजाता।

यस्सिं पन समये अम्हाकं बोधिसत्तो लुम्बिनीवने जातो, तस्सिं येव समये राहुलमाता देवी, आनन्दत्थेरो, छन्नो अमच्चो, काळुदायि अमच्चो कन्थको अस्सराजा, महाबोधिरुक्को, चतस्सो निधिकुम्भियो च जाता। तत्थ एका गावुतप्पमाणा, एका अद्धयोजनप्पमाणा, एका तिगावुतप्पमाणा, एका योजनप्पमगणा अहोसी ति। इमे सत्त सहजाता नाम।।

[**भावार्थः**---सिद्धार्थ का जन्म होने के साथ साथ अन्य सत्त्वों की भी उत्पत्ति हुई, जो सिद्धार्थ-बुद्ध-के जीवन से जुड़े हुए हैं। उनका नामशः वर्णन इस गद्य-खण्ड में किया गया है:-जिस समय बोधिसत्त्व लुम्बिनी वन में उत्पन्न हुए थे, तब उसी समय, राहुल की माता देवी (यशोधरा), शिष्य आनन्द स्थविर, छन्न नामक अमात्य (= अश्वपालक), काळुदायि नामका अमात्य, कन्थक नाम का अश्वराज, महाबोधि वृक्ष यानी अश्वत्थ-वृक्ष (जिसके मूल में बैठ कर सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी), चार निधिकुम्भ भी उत्पन्न हुए थे। उनमें से एक गोवृत्त प्रमाण था, एक अर्धयोजन-प्रमाण था, एक त्रिगोवृत्त-प्रमाण था और एक योजन-प्रमाण वाला था। (इस स्थान पर सिद्धार्थ की पत्नी का नाम क्या था?-वह बिन्दु प्रकट रूप से बताया गया नहीं है।

प्रस्तुत नाटक में, सिद्धार्थ के सारथि का नाम छन्नक दिया है, किन्तु जातकट्ठकथा में वह केवल छन्न ऐसा है। अमात्य का नाम उदायी दिया है, जो जातकट्ठकथा के अनुसार काळुदायी था। आचार्य बुद्धघोष ने इन जातकट्ठकथाओं का निर्माण सिंहली जातक-कथाओं के आधार पर किया है, जो मूल में सम्राट् अशोक के समय की है। अतः त्रिपिटकों में मिलने वाली जानकारियाँ प्राचीनतम हैं, और तत्पश्चात् कालिक इन जातकट्ठकथाओं में मिलने वाली जानकारियाँ प्राचीनतर हैं। अतः इनको भी आधार-सामग्री के रूप में लेना अनुचित नहीं माना जायेगा।]

[4]

काळदेवलो तापसो।

तस्सिं समये सुद्धोदनमहाराजस्स कुलूपको अट्ठसमापत्तिलाभी काळदेवलो नाम तापसो भत्तकिच्चं कत्वा, दिवाविहारत्थाय तावतिंसभवनं गन्त्वा, तत्थ......। देवता आहंसु-"मारिस, सुद्धोदनरञ्ञो पुत्तो जातो, सो बोधितले निसीदित्वा बुद्धो हुत्वा धम्मचक्कं पवत्तेस्सति। तस्स अनन्तं बुद्धलीळ्हं दट्ठुं धम्मं च सोतुं लच्छामा ति इमिना कारणेन तुट्ठुम्हा ति। तापसो तासं वचनं सुत्वा, खिप्पं देवलोकतो ओरुय्ह राज-निवेसनं पविसि-सित्वा, पञ्ञत्ताने निसिन्नो, "पुतो किर ते, महाराज, जातो, पस्सिस्सामि नं ति आह। राजा अलङ्कत-पटियत्तं कुमारं आनापेत्वा तापसं वन्दापेतुं अभिहरि। बोधिसत्तस्स पादा परिवत्तित्वा तापसस्स जटासु पतिट्ठहिंसु। बोधिसत्तस्स हि तेनत्तभावेन वन्दितब्बयुत्तको अञ्ञो नाम नत्थि। सचे हि अजानन्ता बोधिसत्तस्स सीसं तापस्स पादमूले ठपेय्युं, सत्तधा तस्स मुद्धा फलेय्य। तापसो "न मे अत्तानं नासेतुं युत्त" ति उट्ठायासना बोधिसत्तस्स अञ्जलिं पग्गहेसि। **राजा तं**

अच्छरियं दिस्वा अत्तनो पुत्तं वन्दि॥ (पृ. 138-139)

(अत्र एका पादटिप्पणी- *वुत्तं हि महावस्तुनामगन्धे "... ब्राह्मणमहाशालस्य पुत्रो श्यामो असितो वर्णेन..."। काळवण्णता हि तस्स अपरं नाम "काळदेवल" इति सञ्जातं। सुत्तनिपाते आगतत्ता असित इति नाम युत्तं पटिभाति, यतो महायानगन्थेसु पि इदमेव आगतं।*)

[**भावार्थः**- इस गद्यखण्ड में, बोधिसत्त्व के जन्म के बाद, उनके दर्शन करने हेतु एक काळदेवल अथवा असित नामके ऋषि कपिलवस्तुनगर में राजा शुद्धोदन के घर आये थे, और उन्होंने उस नवजात शिशु को जब प्रणाम किया तब पिता शुद्धोदन ने भी प्रथम वन्दन किया था-इसका उल्लेख मिल रहा है।]

[5]

ब्राह्मणेहि लक्खणकथनं

बोधिसत्तं पि खो **पञ्चमदिवसे** सीसं नहापेत्वा, नामगहणं गण्हिस्सामा ति राजभवनं चतुजातिगन्धेहि विलिम्पित्वा, लाजपञ्चमकानि पुप्फानि विकिरित्वा, तिण्णं वेदानं पारङ्गते अट्ठसतब्राह्मणे निमन्तेत्वा राजभवने निसीदापेत्वा, सुभोजनं भोजेत्वा, महासक्कारं कत्वा, "किन्नु खो भविस्सती" ति लक्खणानि पटिग्गहापेसुं। तेसु-

रामो धजो लक्खणो चापि मन्ती,
कोण्डञ्ञो च भोजो सुयामो सुदत्तो।

एते तदा अट्ठ अहेसुं ब्राह्मणा,
छळङ्गवा मन्तं व्याकरिंसु ति॥

इमे अट्ठेव ब्राह्मणा **लक्खणपट्टिग्गाहका** अहेसुं। पटिसन्धिगहणदिवसे सुपिनो पि एतेहेव पटिग्गहीतो। तेसु सत्त जना **द्वे अङ्गुलियो उक्खिपित्वा** द्वेधा व्याकरिंसु- "इमेहि लक्खणेहि समन्नागतो अगारं अज्झावसमानो **राजा होति चक्कवत्ती, पब्बजमानो बुद्धो**" ति। सब्बं चक्कवत्तिरञ्ञो सिरिविभवं आचिक्खिंसु। तेसं पन सब्बदहरो गोत्ततो कोण्डञ्ञो नाम माणवो बोधिसत्तस्स लक्खण-वरनिप्फत्तिं ओलोकेत्वा "एतस्स अगारमज्झे "ठानकारणं नत्थि, एकन्तेनेव विवटच्छदो बुद्धो भविस्सती" ति **एकमेव अङ्गुलिं उक्खिपित्वा** एकंस व्याकरणं व्याकासि। अयं हि कताधिकारो पच्छिम-भविकसत्तो भवित्वा, पञ्ञाय इतरे सत्त जने अभिभवित्वा "इमेहि समन्नागतस्स अगारमज्झे ठानं नाम नत्थि, **असंसयं बुद्धो भविस्सती**" ति एकमेव गतिं अद्दस। तस्मा एकं अङ्गुलिं उक्खिपित्वा एवं व्याकासि। अथस्स नामं गण्हन्ता सब्बलोकस्स अत्थसिद्धिकरत्ता **सिद्धत्थो** ति नाममकंसु॥ (पृ. 144-145)

[**भावार्थः-** इस गद्यखण्ड में तीन-चार बिन्दु ध्यानास्पद हैं। 1. बोधिसत्त्व के जन्म के बाद पाँचवें दिन नामकरण-विधि रखी गई थी। (और माता मायादेवी की मृत्यु बालक के जन्म के सातवें दिन पर हुई थी) जिसमें शुद्धोदन ने कुल आठ ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया था। जिनके नामों के निर्देश उपर्युक्त श्लोक में दिये हैं। 2. जन्मपत्रिका यानी जन्मकुण्डली के लिए उस प्राचीनतम भारत में "लक्षणपट्टिका" शब्द का प्रयोग होता था। 3. उन में से सात ज्योतिर्विदों ने दो दो अंगुलियाँ उठा कर (उत्क्षिप्त्वा) कहा था कि यह नवजातशिशु चक्रवर्ती राजा होगा अथवा प्रव्रज्या लेकर बुद्ध होगा। (द्रष्टव्यः *परिशिष्ट-3, चित्र-3*)

किन्तु कौण्डिन्य नामका माणवक, यानी अल्पवयस्क एक ज्योतिषी ने केवल एक ही अंगुलि उठा कर, भविष्यकथन किया था कि यह शिशु केवल प्रव्रज्या लेकर बुद्ध ही बनेगा। 4. इस समय नवजात शिशु का नाम "सिद्धार्थ" रखा गया था। यद्यपि श्रीधर्मानन्द कोसम्बी ने कहा है कि इस बालक का नाम सिद्धार्थ था-ऐसा उनको एक भी त्रिपिटक में नहीं मिला है। उसके लिए जो भी शब्द का प्रयोग मिलता है, वह एक मात्र "बोधिसत्त्व" ही है। किन्तु जातकट्ठकथा में, यहाँ पर नामकरण-विधि के प्रसंग में सिद्धार्थ नाम मिल रहा है।।]

(प्रस्तुत नाटक में हमने कौण्डिन्य के अलावा एक दूसरा (माण्डव्य नाम का) ज्योतिषी भी कल्पित किया है, जिसने भी अंगुलि उठाई थी। लेकिन उसकी एक अंगुलि उठाने का फलकथन इस बात को बताता है कि यह शिशु चक्रवर्ती राजा बनेगा और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके, संतति को पैदा भी करेगा। इन ज्योतिर्विदों का विनियोग करके विशाल कालखण्ड में फैले कथावस्तु का संग्रथन किया गया है। तथा रसान्तर के लिए भी उन्हीं का उपयोग किया गया है।)

[6]

चतूहि पुब्बनिमित्तेहिं आरक्खा (चार पूर्व-निमित्तों से पुत्र की रक्षा करने का विचार)

तदा पन राजा "किं दिस्वा मय्हं पुत्तो पब्बजिस्सती" ति पुच्छि। चत्तारि पुब्बनिमित्तानी ति। कतरं च कतरं चा ति। **"जराजिण्णं, व्याधितं, मत्तं, पब्बजितं"** ति। राजा "इतो पट्ठाय एवरूपानं मम पुत्तस्स सन्तिकं उपसङ्कमितुं मा अदत्थ। मय्हं पुत्तस्स बुद्धभावेन कम्म नत्थि। अहं मम पुत्तं द्विसहस्सदीपपरिवारानं चतुन्नं महादीपानं इस्सरियाधिपच्चं रज्जं कारेन्तं छत्तिंस-योन-परिमण्डलाय परिसाय परिवुत्तं गगनतले विचरमानं पस्सितुकामो" ति। एवं च पन वत्वा इमेसं चतुप्पकानं पुरिसानं कुमारस्स चक्खपथे आगमन-निवारणत्थं चतुसु दिसासु गावुते आरक्खं ठपेसि।। (पृ.146)

[भावार्थः- इस गद्यखण्ड में उन चार दृश्यों का परिगणन करवाया है कि जिनको देखने के बाद सिद्धार्थ के मन में संवेग उत्पन्न हुआ था। ज्योतिर्विदों के द्वारा भाविकथन हो जाने के बाद, राजा शुद्धोदन ने उन्हीं से पूछा था कि-किन दृश्यों को देख कर, मेरे पुत्र के मन में संवेग उत्पन्न होगा?-वह मुझे बताइए। अतः मैं उसके मार्ग में कहीं पर भी ये दृश्य देख न पाये उसका प्रबन्ध कर सकूँ। शुद्धोदन ने यह भी कहा था कि मुझे बुद्धभाव की प्राप्ति से कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो मेरे पुत्र को सहस्र द्वीपों में फैले, छत्तीस योजन परिमण्डल का राज्य भोगने वाला पुत्र देखना चाहता हूँ।]

असीतिञाति-कुलसहस्सेहिं सपुत्तपटिजाननं (असीति कुल के पुत्रों को देने का आश्वासन)

तं दिवसं च पन मङ्गलट्ठाने सन्निपतितेसु असीतिया ञातिकुलसहस्सेसु एकेको एकमेकं पुत्तं पटिजानि। अयं बुद्धो वा होतु, राजा वा। मयं एकमेकं पुत्तं दस्साम। सचे पि बुद्धो भविस्सति, खत्तियसमणेहेव पुरक्खत-परिवारितो विचरिस्सति, सचे पि राजा भविस्सति, खत्तियकुमारेहेव पुरक्खतपरिवारितो विचरिस्सती ति।।

[भावार्थः- इस गद्यखण्ड में, राजकुमार संन्यासी बन सकता है-यह सुन कर, राजदरबारी लोगों ने शुद्धोदन को आश्वासन दिया था कि वे किसी भी परिस्थिति में अपना एक एक पुत्र राजपुत्र की निश्रा में सौंप देंगे-ऐसी प्रतिज्ञा का निरूपण है।] (पृ. 147)

[7]

चत्तारि पुब्बनिमित्तानि (जराजिण्णं)

अथेकदिवसं बोधिसत्तो उय्यानभूमिं गन्तुकामो सारथिं आमन्तेत्वा, रथं योजेही ति आह। सो साधू ति पटिस्सणित्वा, महारहं उत्तमरथं सब्बालङ्कारेन अलङ्करित्वा, कुसुदपत्तवण्णे चत्तारो मङ्गलसिन्धवे योजेत्वा बोधिसत्तस्स पटिवेदेसि। बोधिसत्तो देवविमानसदिसं रथं अभिरुहित्वा उय्यानाभिमुखो अगमासि।।

देवता "सिद्धत्थकुमारस्स अभिसम्बुज्झनकालो आसन्नो, पुब्बनिमित्तं दस्सेस्सामा" ति एकं देवपुत्तं जराजज्जरं खण्डदन्तं पलितकेसं वङ्कं ओभग्गसरीरं दण्डहत्थं पवेधमानं कत्वा दस्सेसुं। तं बोधिसत्तो चेव सारथी च पस्सन्ति।।

ततो बोधिसत्तो सारथिं-"सम्म, को नामेस पुरिसो? केसा पिस्स न यथा अञ्ञेसं" ति महापदाने आगत-नयेन पुच्छित्वा तस्स वचनं सुत्वा, "धिरत्थु वत भो जातिया, यत्र हि नाम जातस्स जरा पञ्ञायिस्सती" ति संवेग्गहदयो ततो व पटिनिवत्तित्वा पासादमेव अभिरुहि।

राजा "किं कारणा मम पुत्तो खिप्पं पटिनिवत्तो" ति पुच्छि। "जिण्णं पुरिसं दिस्वा, देवा" ति। "जिण्णकं दिस्वा पब्बजिस्सती" ति आहंसु। "कस्मा मं नासेथ? सीघं पुत्तस्स नाटकानि सज्जेथ, सम्पत्तिं अनुभवन्तो पब्बज्जाय मतिं न करिस्सती" ति वत्वा, आरक्खं वड्ढेत्वा, सब्बदिसासु अद्धयोजने अद्धयोजने ठपेसि। (पृ. 153)

[**भावार्थः**- इस गद्यखण्ड में, सिद्धार्थ ने कैसे जरा का दर्शन किया उसका अद्भुत वर्णन किया है। जैसे कि-एक दिवस बोधिसत्त्व ने उद्यानभूमि में जाने की इच्छा से अपने सारथि को बुलाकर कहा कि रथ को जोड़ दो। सारथि ने साधु-ठीक है-ऐसा प्रतिवचन कह कर, एक उत्तमरथ, जो सर्वालंकार से अलंकृत था उसके साथ चार सिन्धुदेश के अश्वों को जोड़ा और बोधिसत्त्व को निवेदित किया। बोधिसत्त्व भी उस देवताओं के विमान सदृश रथ में आरोहण करके, बोधिसत्त्व उद्यान की ओर निकल पड़ा। अब, देवताओं ने सोचा कि-सिद्धार्थ कुमार का अभिसम्बोधन काल आ गया है। तो, जो पहले से ही निश्चित किये गये निमित्त को हम दिखायेंगे। उन्हों ने एक देवपुत्र को जरा से जर्जरित शरीरवाला, खण्डित हुए दांतों वाला, पलितकेशवाला, कटिभाग से झुक गये, हाथ में दण्ड लिये हुए और प्रकम्पित देहवाला बना कर, कुमार को दिखा दिया। ऐसे वृद्ध व्यक्ति को केवल कुमार एवं सारथि ही देख सकते थे।।

तब, बोधिसत्त्व ने सारथि से पूछा-हे सौम्य! इस पुरुष का नाम क्या है, यानी इसको क्या कहते हैं? उसके केश भी दूसरों जैसे नहीं है। सारथि ने बताया कि जन्म लेने वाले सभी के शरीर में प्रवेश करने वली यह जरा है। इसको वृद्धावस्था कहते हैं। इसको सुनते ही कुमार संविग्न, उद्विग्न हृदयवाला हो गया। अतः वे दोनों वापस घर लौट आये। अब, राजा ने पूछा कि मेरे पुत्र के संविग्न होने का क्या कारण है?, तब उत्तर मिला कि-एक जीर्ण पुरुष को देख कर। इसको सुन कर, राजा शुद्धोदन ने सोचा कि मेरा पुत्र जीर्ण व्यक्ति को देख कर, परिव्रजित हो जायेगा। तो क्या किया जाय कि वह मुझे छोड़कर चला न जाय?। उस पुत्र के सामने नाटकादि का प्रयोग करवाया जाय, सम्पत्ति का अनुभव करता हुआ वह प्रव्रज्या के लिए कभी मति ही नहीं करेगा। ऐसा बोल कर, उस राजा ने पुत्र की सुरक्षा बढ़ा दी, सभी दिशाओं में आधे आधे योजन पर, उसने व्यवस्था कर दी ताकि पुत्र किसी वृद्ध को फिर से देख न ले।।]

इसी के अनुसन्धान में अन्य तीन निमित्तों के लिए बुद्धघोष ने लिखा है कि-

(2) व्याधितः- पुनेकदिव, बोधिसत्तो तथेव उय्यानं गच्छन्तो देवताहिं निम्मित्तं व्याधितं पुरिसं दिस्वा, पुरिमनयेनेव पुच्छित्वा, संविग्गहदयो निवत्तित्वा

पासादं अभिरुहि। राजा पि पुच्छित्वा हेट्ठावुत्तनयेनेव संविदहित्वा पुन वड्ढेत्वा, समन्ता तिगावुतप्पमाणे पदेसे आरक्खं ठपेसि।।

(3) कालकतः- अपरं पुन एकदिवसं तथेव उय्यानं गच्छन्तो देवताहिं निम्मितं कालकृतं दिस्वा, पुरिमनयेनेव पुच्छित्वा संविग्गहदयो पुन निवत्तित्वा पासादं अभिरुहि।।

(4) पब्बजितः- अपरं पुन एकदिवसं उय्यानं गच्छन्तो तथेव देवताहिं निम्मितं सुनिवत्थं सुपारुतं पब्बजितं दिस्वा "को नामेसो सम्मा" ति। सारथिं पुच्छि। सारथि किञ्चा पि बुद्धुप्पादस्स अभावा पब्बजितं वा पब्बजितगुणे वा न जानाति देवानुभावेन पन "पब्बजितो नामेस, देवा" ति वत्वा, पब्बजाय गुणे वण्णेसि। बोधिसत्तो पब्बज्जाय रुचिं उप्पादेत्वा तंदिवसं उय्यानं अगमासि।।

दीघभाणका (=दीर्घनिकायस्य महावग्गे महापदाने) पनाह-चत्तारि निमित्तानि एकदिवसेनेव दिस्वा अगमासी ति।(जातकटठ्कथा, भाग-1, पृ. 153 से 154)

[8]

राहुलमातुया सिरिगब्भे भगवा

(राहुलमाता से बुद्ध की भेट)

सोतापत्तिफलं सच्छिकत्वा येव पन भगवतो पत्तं गहेत्वा, सपरिसं भगवन्तं महापासादं आरोपेत्वा, पणीतेन खादनीयेन भोजनीयेन परिविसि। भत्तकिच्चपरियोसाने सब्बं इत्थागारं आगन्त्वा भगवन्तं वन्दि, ठपेत्वा राहुलमातरं। सा पन "गच्छ, अय्यपुत्तं वन्दाही" ति परिजनेन वुच्चमाना पि "सचे मय्हं गुणो अत्थि, सयमेव मे सन्तिकं अय्यपुत्तो आगमिस्सति, आगतमेव नं वन्दिस्सामि" ति वत्वा न अगमासि।

भगवा राजानं पत्तं गाहापेत्वा, द्वीहि अग्गसावकेहि सद्धिं राजधीताय सिरिगब्भं गन्त्वा, "राजधीता यथारुचिं वन्दमाना न किञ्चि वत्तब्बा" ति वत्वा, पञ्ञत्ते आसने निसीदि। सा वेगेनागन्त्वा गोप्फकेसु गहेत्वा, पादापिट्ठियं सीसं परिवत्तेत्वा, यथाज्झासयं वन्दि। राजा राजधीताय भगवति सिनेहबहुमानादिगुणसम्पत्तियो कथेसि-"भन्ते, मम धीता तुम्हेहि कासायानि वत्थानि निवासितानी ति सुत्वा, ततो पट्ठाय कासाववत्था जाता, तुम्हाकं एकभत्तिकभावं सुत्वा, एकभत्तिका व जाता, तुम्हेहि महासयनस्स छड्डितभावं ञत्वा पट्टिकामञ्चके येव निपन्ना, तुम्हाकं मालागन्धाजीहि विरत्तभावं ञत्वा विरतमालागन्धा व जाता। अत्तनो ञातकेसु मयं पटि-जग्गिस्सामा ति सासने पेसिते एकञातिके पि न ओ। एवं गुणसम्पन्ना मे, भगवा, धीता ति।

"अनच्छरियं, महाराज, यं इदानि तया रक्खियमाना राजधीता परिपक्के ञाणे अत्तानं रक्खी"ति वत्वा, चन्दकिन्नरजातकं कथेत्वा, उट्ठायासना पक्कामि॥

(पृ. 238-239)

भावार्थः- भगवान् जब अपने घर वापस आये तब राजप्रासाद का स्त्रीवर्ग भगवान के वन्दन के लिए गये, वहाँ से वापस आकर परिजन वर्ग ने राहुलमाता (यशोधरा) को कहा कि तुम भी आर्यपुत्र को वन्दन करने के लिए जाव। तब यशोधरा ने कहा कि-यदि मुझ में कोई गुण होंगे, तो वे आर्यपुत्र स्वयं ही मेरे पास आने चाहिए। वे जैसे हि मेरे पास आयेंगे, तो मैं उनको वन्दन कर लूँगी। तब भगवान् अपने दोनों ही अग्रश्रावकों के (शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन के) साथ, श्रीगर्भ (यानी यशोधरा के कमरे) में जाते हैं। राजा (शुद्धोदन) ने कहा- भन्ते, आपने काषाय ग्रहण कर लिये हैं ऐसा सुन कर, यशोधरा ने भी काषाय पहन लिये हैं। आप भूमिशयन करते हैं ऐसा सुन कर, उसने अपने कमरे से पर्यङ्क को बाहर निकलवा दिया है। आपको सुगन्धि पुष्पमालादि से विरक्ति हो गई है ऐसा जान कर, उसने भी पुष्पमालादि का त्याग कर दिया है। .... ऐसे गुणों से यह सम्पन्न है। (अब बुद्ध ने कहा:-) "उसमें कोई आश्चर्य नहीं है, महाराज, उसने परिपक्व ज्ञान से जो अपना रक्षण कर रखा है वह उचित ही है। तत्पश्चात् बुद्ध ने चन्द्र-किन्नरी-जातक कथा को कही।।

(चन्द्र-किन्नरी-जातक की कथा का उल्लेख सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत आये "जातक" ग्रन्थ के पकिण्ण-निपात में 485. क्रमांक की कथा चन्दकिन्नरी-जातक है। जिसके 27 एवं 28 क्रमांक की गाथाएं नाटक के पंचम अंक की पादटिप्पणी एवं श्लोक-5-9 में उपयोग किया है।।)

---000---

परिशिष्ट-3 (चित्रशाला)

(1) Photographs of Buddha लुम्बिनी का शिलालेख-

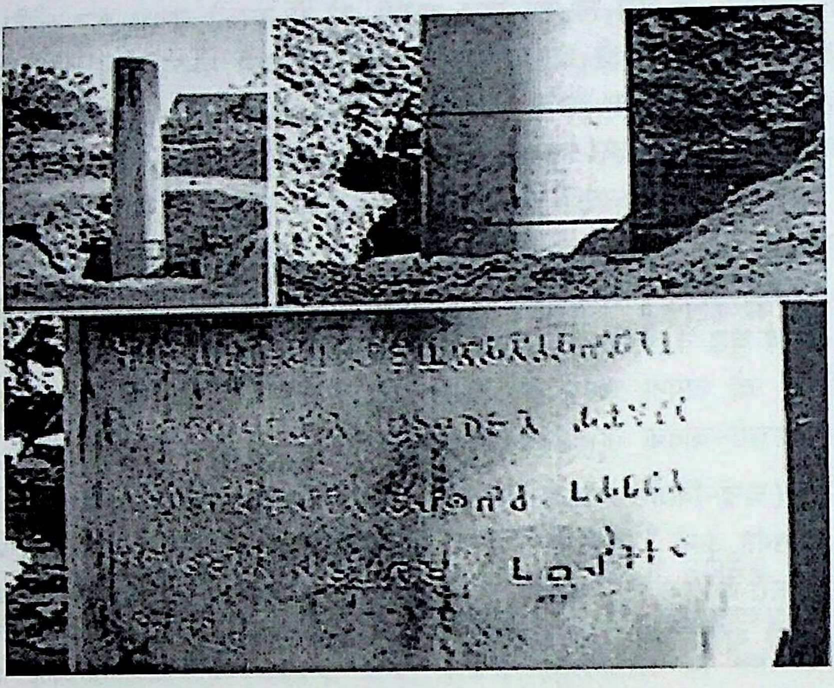

Rummindei Temple Pillar, near Nepal Tarai, 249 B.C. (Lumbini)

देवानपियेन पियदसिन लाजिंन वीसतिवसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति। सिला-विगढ-भीचा कालापित सिला-थंभे च उसथापिते। हिद भगवं जाते ति लुंमिनि-गामे उबलिके कटे अठ-भागियये च।।

(संस्कृतानुवाद:-) देवानां प्रियेन प्रियदर्शिना राज्ञा विंशतिवर्षाभिषिक्तेन आत्मना आगत्य महीयितं, इह बुद्धः जातः शाक्यमुनिः च उत्सर्पितः। इह भगवान् जातः इति लुम्बिनीग्रामः उद्बलिकः कृतः, अष्टभागिकः च।

Twenty years after his coronation, King Priyadarshi, beloved of the Gods, visited this spot and offered worship as the Buddha, the sage of the Shakyas was born here. He got a stone wall built around and also erected a stone pillar. Because the supreme Buddha was born here, he made the village Lumbini free from taxes and subject to pay (only) one-eight of produce (as land revenue.)

(2) महामाया देवी बोधिसत्त्व को जन्म दे रही है:-(सेन्ट्रल म्युझियम्, लाहोर से प्राप्त)

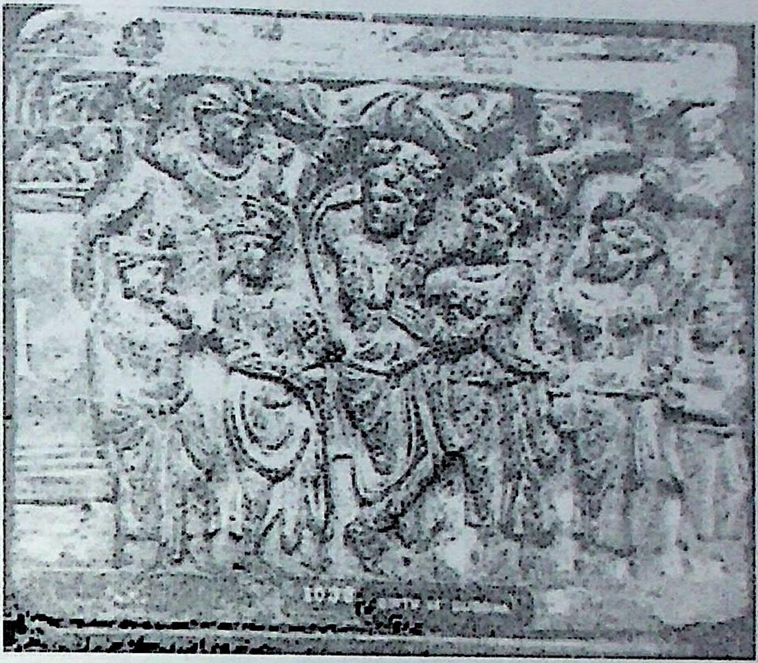

माता ने खडे खडे ही पुत्र को जन्म दिया।
इससे पुत्र का दिव्यत्व व्यक्त होता है।।

माता महामाया खडे हुए ही पुत्र को जन्म दे रही है-
पाण्डुलिपि में उसका चित्र।।

(3) ज्योतिषियों के द्वारा दो दो अंगुलियाँ उठाना-उस प्रसंग का शिल्पांकन (अमरावती शैली)

नागार्जुनकोण्डा, आन्ध्र-प्रदेश, तृतीय शताब्दी का शिल्प,
नेशनल म्युझियम ऑफ इन्डिया, दिल्ली

(4) धर्मचक्र का शिल्पांकन (सारनाथ म्युझियम)

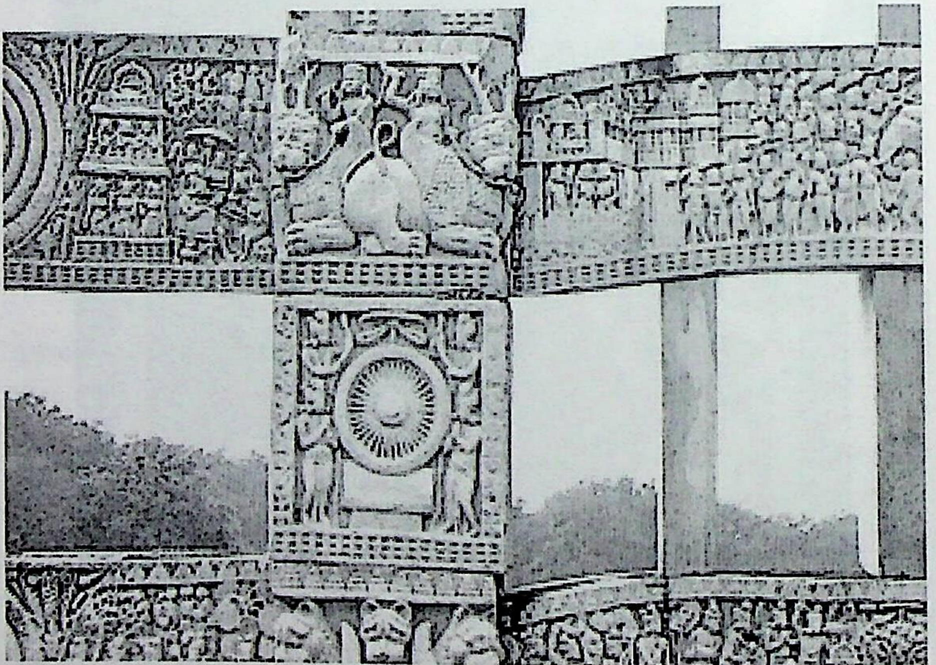

(5) बोधिवृक्ष का शिल्पांकन (सांची स्तूप से)

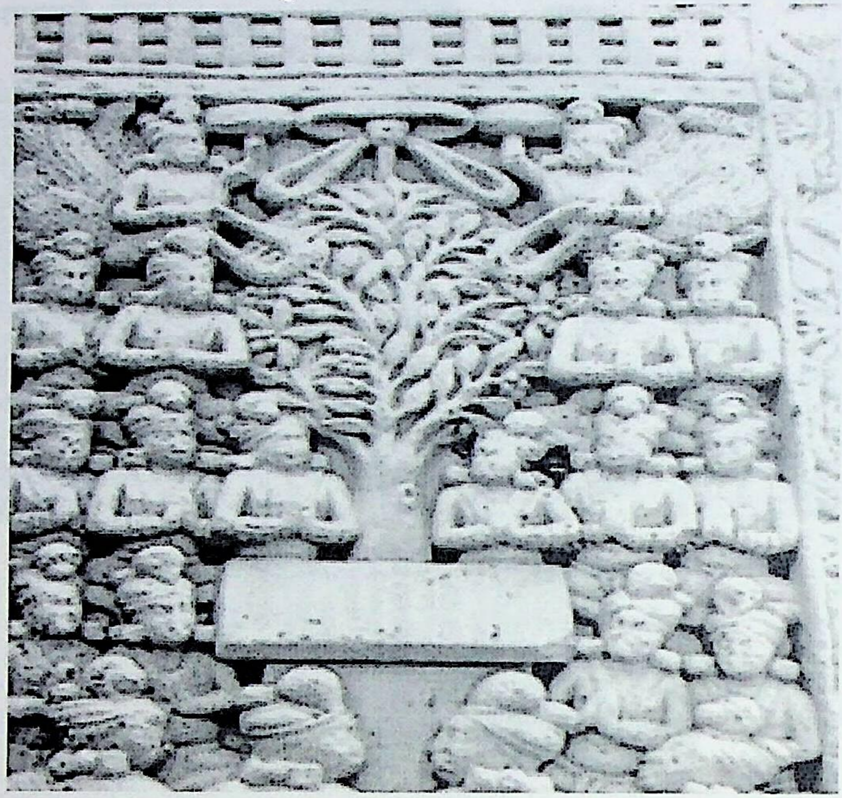

(6) ऋषिपत्तन, (सारनाथ) का स्तूप, जहाँ बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश दिया, धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था:-

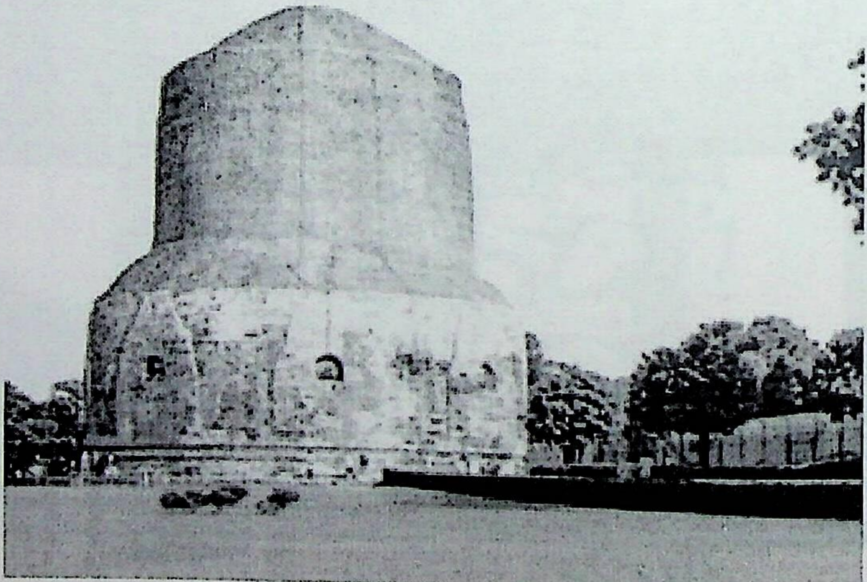

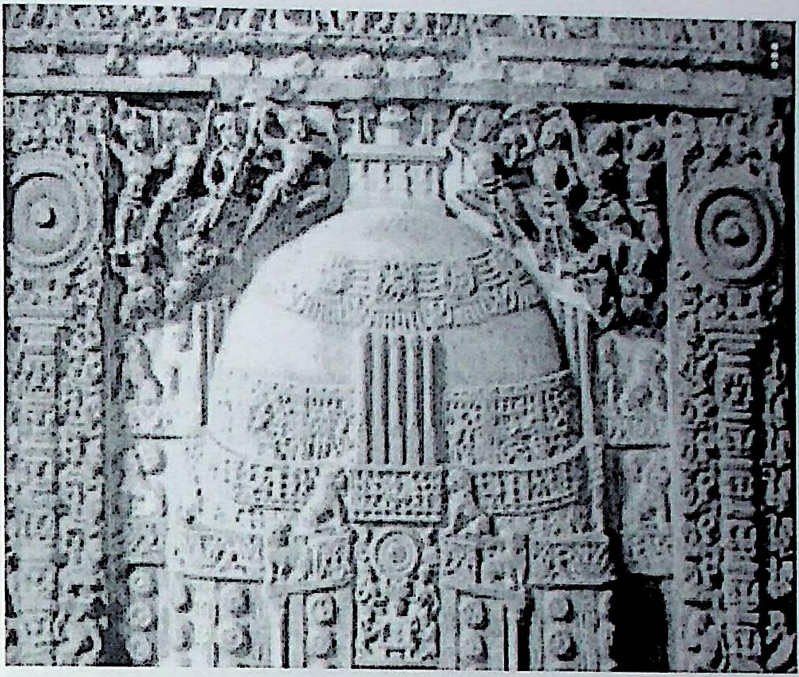

(7) बौद्ध धर्म में सर्वमान्य त्रिरत्न का शिल्पांकन (सांची स्तूप के तोरण-द्वार पर)

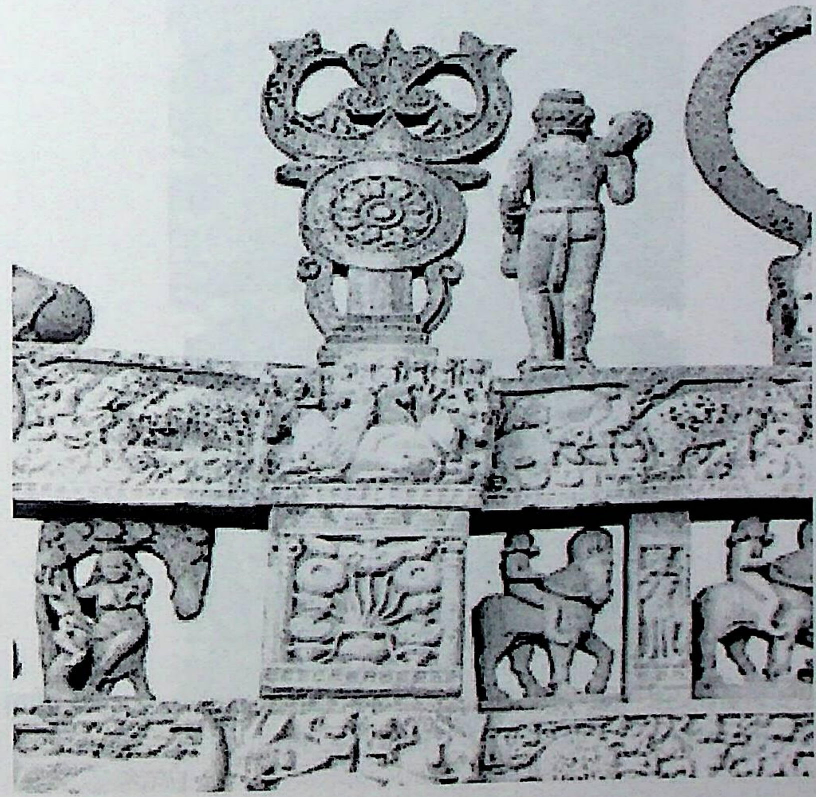

7. अमिताभ बुद्ध की मूर्ति

8. चोबीस पूर्व बुद्धों की शृङ्खला, जिसका प्रारंभ दीपंकर बुद्ध से होता है। धर्मशाला।

(9) अवलोकितेश्वर बुद्ध

(10) चार आर्य सत्य गिनाती हुई हस्त-मुद्रावाले बुद्ध (कुषाणकालिक गांधार शैली)

गान्धार पर्वतमाला, अफघानिस्तान

11. पद्मपाणि बुद्ध (अजन्ता की गुफा, जलगाँव, महाराष्ट्र)

12. कृशकाय बुद्धस्य मूर्तिः (लाहौर म्यूझियम, पाकिस्तान)

13. सारिपुत्त-बुद्ध का प्रधान शिष्य (धर्मसेनापति)

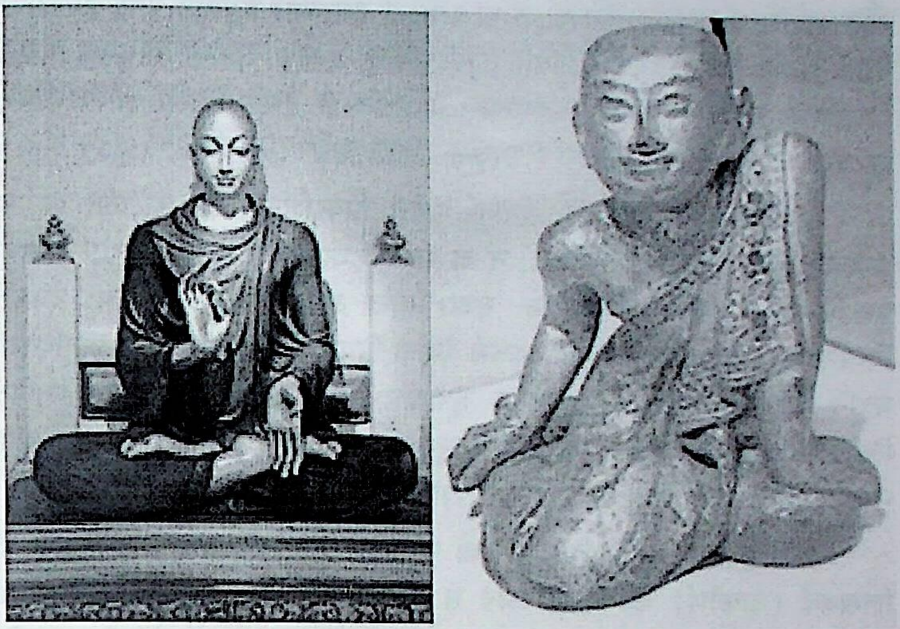

14. Ashoka's edict at Girnar, Gujarat

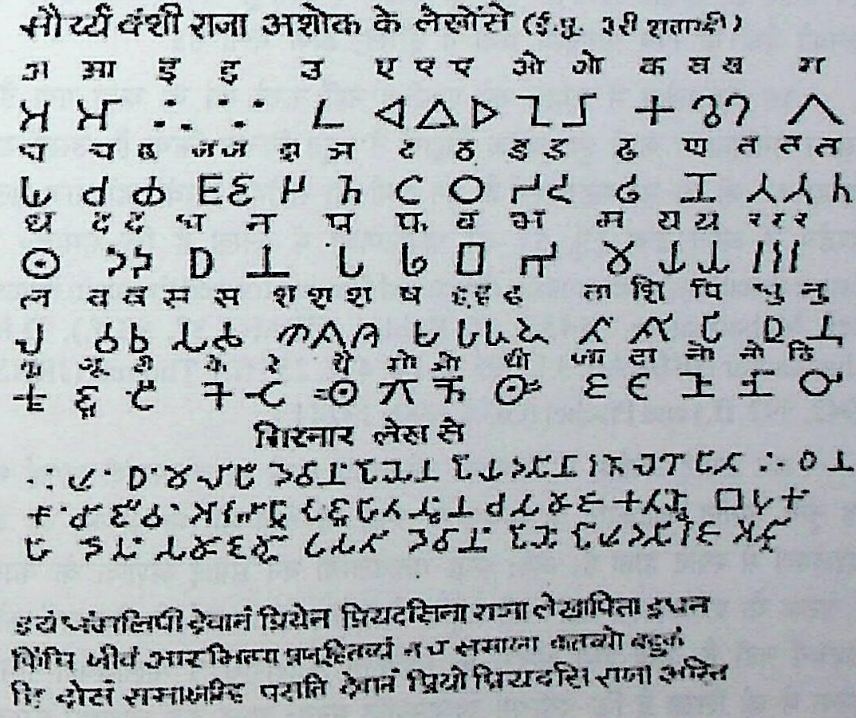

=इयं धंमलिपी देवानं प्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता। इध न किं चि जीवं आरभित्पा पजु(जू)हितव्यं। **न च समाजो कतव्यो।** बहुकंहि दोसं समाजम्हि पसति देवानं प्रियो प्रियदसि राञा। अस्ति पि तु एकचा समाजा साधुमता देवानं प्रियदसिनो राञो। (इत्यादि) -द्रष्टव्य- *हिस्टोरिकल एन्ड लिटररी इन्स्क्रिप्शन्स, सं. राज बली पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सिरीझ,वाराणसी, 1962, (पृ.5)*

अर्थात्- इयं धर्मलिपि: देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा लेखिता। इह न कश्चित् जीव: आलभ्य प्रहोतव्य:, **न च समाजं कर्तव्य:।** बहुकं हि दोषं समाजे पश्यति देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन: राजा। सन्ति अपि एकत्या: समाजा: देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन: राज्ञ:। (पुरा महानसे देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन: राज्ञ: अनुदिवसं बहूनि प्राणिशतसहस्राणि आलभ्यन्त सूपार्थाय। तत् अद्य यदा इयं धर्मलिपि: लिखिता त्रय: एव प्राणिन: आलभ्यन्ते सूपार्थाय-द्वौ मयूरौ, एक: मृग:। स अपि मृग: न ध्रुव:। एते अपि त्रय: प्राणा: पश्चात् न आलप्स्यन्ते।।)

अर्थात्- इस धर्मलिपि को देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा (अशोक) ने लिखवाई (उत्कीर्ण) करवाई है। अब से लेकर, किसी को भी जीव की हत्या करके होम नहीं करना है। (यानी किसी को भी हिंसक याग करने की अनुमति नहीं है) तथा "समाज" (मेला, सम्मेलन, नृत्य, संगीत, नाटकादि जैसे किसी भी निमित्त से जनसमूह को एकत्र) नहीं करना है। क्योंकि राजा (अशोक) इनमें बहु दोष देखते हैं। तथापि कतिपय ऐसे भी समाज (जनसमूह का एकत्रीकरण) हैं, जिनको देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने उचित, ठीक माना है॥

इस शिलालेख में समाज को एकत्रित नहीं करने का जो कहा गया है- उसका मर्मोद्घाटन करते हुए अनेक विद्वानों ने बहुत चिन्तन किया है। उसमें डॉ. भाण्डारकर जी का मत महत्त्वपूर्ण है। इन सभी का संदोहन करके, डॉ. राज बली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ (पृ. 5) की पादटिप्पणी में लिखा है कि-समाज= a festive assembly, where music, dance and feasting formed the main items- Ref. Mahabharata 1.143.3, cf. Buhler, (ZDMG, 37, 93 f.), D.R. Bhandarkar (JBBRAS, 3 1, 395 ff., IA, 432, 255 ff.), Thomas (JRAS, 1942, 392, ff.) and Pischel (GGA 1881, 1324 f.)

अब सम्राट् अशोक ने "समाज" को एकत्र करने पर जो पाबंदी लगाई थी वह नृत्य, संगीत, नाटकादि के सन्दर्भ में लगाई थी-ऐसा डॉ. भाण्डारकर जी के विश्लेषण से स्पष्ट होता है। अत: बौद्ध-मतावलम्बी बने सम्राट् अशोक के काल में नाटक के प्रणयन एवं मंचन की प्रवृत्ति में शिथिलता आ गई हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। तथा इसी सन्दर्भ में, महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में जो लिखा है कि-देवानाम् इदमामनन्ति मुनय: शान्तं क्रतुं चाक्षुषम् इसका

गर्भितार्थ भी समझ में आता है कि कालिदास (ईसा की पूर्व पहली या ईसा की पहली शताब्दी) की समकालिक सामाजिक स्थिति में, अशोक ने जो नाटकादि खेलने पर पाबंदी लगाई थी, उसकी गुंज सर्वथा बुझी नहीं थी। इसी लिए ही कालिदास को अपने नाटक के मंचन की वकालत करते हुए, नाटक को "शान्त" (अहिंसक) याग के रूप में पुरस्कृत करना पडा होगा।।

----0000----

परिशिष्ट-4

॥ बौद्ध-धर्म के साथ जुडे प्राचीन भारत के राजवंश॥

यदि हमें भगवान् बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन की दिग्विजय यात्रा को समझनी है तो, हमें त्रिपिटकों की सुरक्षा के साथ जुडे राजवंशों की ओर दृष्टिपात करना होगा। जिसमें सब से पहले तत्कालिक राजवंशों का अनुक्रम जानना अनिवार्य है। अतः इस परिशिष्ट में, उन राजवंशों की कुछ प्राथमिक जानकारी दी जा रही है:- उपनिषदोत्तरकालिक प्राचीन भारत में, यानी ईसा पूर्व 600 में तीन महान् विभूतियाँ का जन्म हुआ था। पूर्वी भारत के नेपाल और मगध में भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर जन्म लेते हैं। तथा पश्चिमोत्तर भारत में, शलातुर गाँव में महर्षि पाणिनि जैसे वैयाकरण जन्म लेते हैं। उस समय भारत के सोलह महाजनपदों का नाम बार बार सुनने में आता है। जैसे कि मगध, अंग, काशी, वज्जी, कुरु, पांचाल, मत्स्य, अवन्ति, चेदी, अश्मक, कोसल, कंबोज, गांधार, मल्ल, वत्स और शूरसेन (मथुरा)। इनमें से कतिपय भगवान् बुद्ध के साथ सविशेष संलग्न रहे हैं। किन्तु उनमें भी मगध जनपद का महत्त्व तो बहुत है। क्योंकि वहीं पर भगवान् बुद्ध को बोधिज्ञान मिला तथा धर्मोपदेश का कार्य भी किया। उस समय भगवान् महावीर भी वहीं पर रहे थे। तथा उन दोनों को मगध के राजाओं का ही आश्रय भी मिलता रहा था।

बौद्ध-धर्म से जुडे राजाओं का ऐतिहासिक क्रम ऐसा है:-मगध जनपद में **(क) हर्यंक वंश** का राजा बिम्बिसार (544 ईसापूर्व से 499 ईसा पूर्व) बुद्ध का समकालिक है। गृहत्याग के बाद सिद्धार्थ को मिलने के लिये आने वाला यही राजा बिम्बिसार था। उसका पुत्र अजातशत्रु है, बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद, प्रथम चातुर्मास में ही उसी के राजगृह में *प्रथम संगीति* हुई। उसके बाद, क्रम में आता है **(ख) शिशु नाग वंश**। उसमें पैदा हुए कालाशोक के समय (ईसा पूर्व 413 से 345) में बौद्धों की *द्वितीय संगीति* हुई। तत्पश्चात् मगध में **(ग) नन्दवंश** (ई. पू. 345 से 321) आता है। उसके बाद, **(घ) मौर्य वंश** के चन्द्र गुप्त मौर्य (ई. पू. 322-298) ने आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) के मार्गदर्शन में धनानन्द को पराजित करके राजगादी संभाली। (मौर्यवंश में जैनधर्म का अनुपालन होता था।) सिकन्दर के मृत्यु बाद, मगध के करवट बदली और चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिकन्दर के उत्तराधिकारी सेल्यूकस को युद्ध में परास्त किया। जिससे सेल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ करवाया और सन्धि कर ली। साथ में

सेल्यूकस ने अपने अधिकार-क्षेत्र का काबुल, कंधार, हेरात एवं बलूचिस्तान भी चन्द्रगुप्त को भेट कर दिये[1]। इस तरह से, मौर्य-साम्राज्य की सीमाएं अतिविस्तृत हो गई।।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार के घर सम्राट् अशोक पैदा हुए। पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य का उपर्युक्त विशाल राज्य अशोक के हाथ में आया। वह प्रारम्भ में बहुत क्रूर था, इसी लिए वह "चण्डाशोक" के नाम से जाना जाता था। पिता बिन्दुसार की मोत के बाद अशोक ने पहले अपने ही भाईयों की हत्या कर दी। तत्पश्चात् अशोक ने अपने राज्यारोहण के आठवें वर्ष में कलिंग पर आक्रमण किया। जिसमें रक्त की नदियाँ बहने लगी, लाखों की संख्या में सैनिक मारे गये। जिसको देख कर उसका हृदय शोकग्रस्त हो गया और उसने बौद्ध धर्म को अङ्गीकृत किया। इसके बाद सम्राट् अशोक की "धम्माशोक" एवं "देवानां प्रिय प्रियदर्शी" बनने की प्रक्रिया शुरू होती है। उसने (ई.पू. 268 से 232) में, मगध साम्राज्य के पाटलिपुत्र में *तृतीय बौद्ध संगीति* बुलाई थी। बौद्धधर्म के स्थविरवादी भिक्षुओं को उसने आश्रय दिया था। तृतीय संगीति के बाद, चुने हुए बौद्ध भिक्षुओं को पडोसी देशों में धर्म-प्रचारार्थ भेजने का निर्णय लिया गया था।

सम्राट् अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने कलिंग के युद्ध के बाद, जो बौद्ध धर्म को अंगीकृत किया, उसके बाद उसकी राजनीति भी सर्वथा बदल गई थी। इस विषय में प्रॉफेसर श्री राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि-धर्मविजय सब से मुख्य विजय है, न ताकात की विजय। (चट्टान लेख 13)। उसने एक धडाके से युद्ध बंद कर दिया। .... राजा सीमांत जातियों के प्रति चाहता है कि वे उससे न डरे, उस पर विश्वास करें और इससे उन्हें सुख ही मिलेगा, दु:ख नहीं। (कलिंग लेख-2)... धर्मघोष में भेरीघोष विलीन हो गया। हमें ध्यान रखना है कि अशोक के स्वतन्त्रता दान की शर्त थी। स्वतन्त्रता धर्म के साथ रहे। अशोक इस लिए भी उत्सुक था कि लोग धर्मके मार्ग पर चलें।। (द्रष्टव्य:-अशोक। लेखक-राधाकुमद मुखर्जी, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1974)

प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने कहा है कि भगवान् बुद्ध के द्वारा जो भाषित है वह सुभाषित है। अत:, उसने धर्म को चिरस्थायी बनाने के लिए तीन

---

1. सेल्यूकस ने अपनी पुत्री की सुरक्षा के लिए, अपने एक प्रतिनिधि मेगस्थनीझ को मगध साम्राज्य में निवास करने को भेज दिया। जो कईं वर्षों तक मगध के पाटलिपुत्र में ही रहा। उसमें भारत में अनेक यात्राएं की तथा उसका विवरण लिखा। जो प्राचीन भारत की संस्कृति और इतिहास जानने का प्रमाणभूत ग्रन्थ है।

धर्मपर्यायों को भाबरा शिलालेखों में उत्कीर्ण करवाये हैं। जैसे कि-मुनिगाथा, मोनेयसुत्ते एवं उपतिसपसि। ये तीनों ही धर्मपर्याय सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के महावग्गान्तर्गत सुत्तनिपात में आये 1. मुनिसुत्त, 2. नाळकसुत्त तथा 3. सारिपुत्तसुत्त ही है। वहाँ पर (शिलालेखों में) प्रथम धर्मपर्याय "विनयसमुक सेना" विषय में आचार्य श्री धर्मानन्द कोसम्बी जी की मान्यता है कि यहाँ पर "विनय" शब्द का अर्थ विनयपिटक के उपरान्त "उपदेश" भी होता है। अतः सम्भव है कि अशोक के धम्मचक्क-पव्वतनसुत्त ही हो सकता है। एक अन्य अभिप्राय के अनुसार विनयसमुक से वह सुत्तनिपात का तुवटकसुत्त ही है।। किन्तु इतना निश्चित है कि अशोक के द्वारा उत्कीर्ण करवाये सात सुत्तों में से चार सुत्त तो सुत्तनिपात के ही है।।

अशोक की छट्ठी पीढी में आये राजा बृहद्रथ (ई.पू. 187 से 184) का उसके ही सेनापति पुष्यमित्र ने वध किया और ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया। (पुष्यमित्र ने मौर्यवंशी बृहद्रथ का वध क्यों किया? यह विवादास्पद बिन्दु है। बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र ने बौद्ध-भिक्षुओं की हत्या की थी और बोधिवृक्ष भी जलाया था। जिन त्रिपिटकों का संस्कृतानुवाद सर्वास्तिवादी बौद्धों ने किये थे, वे भी पुष्यमित्र के शासन में नष्ट हो गये। जो चीनी भाषा में अनुदित हो कर चीन देश में पहुँचे थे, वे अद्यावधि हमारे लिए अगम्य ही हैं। "*पालि साहित्य का इतिहास*" लिखनेवाले भरतसिंह उपाध्याय ने बताया है कि चीनी परम्परा के बौद्ध ग्रन्थों में एक निन्दावाचक शब्द को आगे लगाये बिना पुष्यमित्र का नाम नहीं लिया जा सकता है। दूसरी ओर, कुछ इतिहासकार कहते हैं कि-मौर्य राजाओं ने पहले सेल्यूकस जैसे इन्डो-ग्रीकों के साथ सन्धि कर ली थी, उसके बाद सम्राट् अशोक ने बुद्धधर्म को स्वीकार कर, तलवार म्यान कर दी थी। यानी वह युद्ध से विमुख हो गया था। उसने केवल धर्मविजय को ही कामयाब माना। जिससे भारत-राष्ट्र की सुरक्षा, विशेष करके पश्चिमोत्तर भारत में, जहाँ इन्डो-ग्रीक प्रजा ने निवास किया था, वहाँ से खतरा पैदा हुआ था।) इस पुष्यमित्र ने (ङ)शुंगवंश (ई.पू. 185 से ई.पू. 73) की स्थापना की। उसी के वहाँ महाभाष्यकार पतंजलि ने जा कर वेदोक्त अश्वमेध याग करवाया था। (*पुष्यमित्रं याजयामहे।*-ऐसी पंक्ति महाभाष्य में मिलती है।) उसी का पुत्र अग्निमित्र था, जिनके जीवन की घटना को लेकर महाकवि कालिदास ने *मालविकाग्निमित्र* नाटक लिखा। कालिदास का समय भी इसी काल में, यानी ईसा पूर्व प्रथम शती के आसपास ही माना गया है॥

उसके बाद, ईसा पूर्व 73 में शुंगवंशीय राजा देवभूति को वासुदेव कण्व ने मार दिया, उसका **(च) कण्व वंश** (ई.पू. 73 से 28 ई.पू.) आता है। कण्व

वंश ने मगध पर 45 वर्षों तक राज्य किया। कण्व-वंश के राजा सुशर्मा की हत्या करके, सिमुक नामके राजा ने (छ) **सातवाहन वंश** की स्थापना की। (वायुपुराण में इस सिमुक को सिन्धुक के नाम से उल्लिखित किया है।) उसी के कुल में शातकर्णी-1, गौतमीपुत्र शातकर्णी (=शालिवाहन), वासिष्ठीपुत्र, पुलुमावी एवं यज्ञश्री शातकर्णी जैसे राजाओं ने करीब 450 वर्षों तक शासन किया। इस राजवंश का समय ईसा पूर्व प्रथम शती से लेकर ईसा की तीसरी शती तक चला था। उनका साम्राज्य महाराष्ट्र, कर्णाटक से आन्ध्रप्रदेश तक विस्तृत था। सातवाहन राजाओं ने ब्राह्मणों को और बौद्ध भिक्षुओं को भूमिदान करने की प्रथा का प्रारंभ किया था। इसी वंश में गाथासप्तशती के रचयिता हाल कवि भी हुआ था। तत्पश्चात् **(ज) गुप्तवंश** (ई.स. 319 से ई. स. 575) का आरम्भ होता है। जिसमें क्रमशः चन्द्रगुप्त-1,→ "पराक्रमांक" समुद्रगुप्त, → चन्द्रगुप्त-2 =विक्रमादित्य बिरुदधारी, "साहसांक" →स्कन्द गुप्त, →कुमार गुप्त आते हैं। समुद्रगुप्त ने ही संस्कृत भाषा को राजभाषा का दरजा दिया था। (संस्कृत भाषा-साहित्य का यही सुवर्णकाल माना गया है) समुद्रगुप्त को "पराक्रमांक" देव का बिरुद मिला था। इसी समय, चीन की ओर से आयी विचरण करने वाली शक, हूण, यूची जैसी विदेशी प्रजाओं के आक्रमण भी होते हैं, जो गुप्तवंश के परवर्ती राजाओं को हीला देते हैं। यद्यपि चन्द्रगुप्त-2 ने अनेक जगहों से (उज्जयिनी से) शकों को हटाये थे। अतः उसको "साहसांक" का बिरुद दिया गया था। उसने शकारि होने के नाते स्वयं "विक्रमादित्य" की उपाधि भी धारण की थी। इसी चन्द्रगुप्त-2 के समय में कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की मैथिली रंगावृत्ति बनाई गई, जिसका मंचन मगध की सभा में हुआ था। इसकी जानकारी अभिज्ञानशकुन्तलम् की मैथिली पाण्डुलिपिओं में संचरित रंगावृत्ति की प्रस्तावना से मिलती है। उन्नीसवीं-बिसवीं शताब्दी के कतिपय विद्वान् इस मैथिली मंचन के इतिहास से अनभिज्ञ थे, अतः वे कालिदास को गुप्तकाल (चौथा या पांचवीं शती) में जन्म लिया मानते थे। गुप्तवंशीय राजाओं ने ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म दोनों के प्रति समान भाव रखा था। गुप्तकाल में, बुद्धघोषाचार्य भारत से श्रीलंका में जाते हैं और वहाँ की सिंहली भाषा को सिख लेते हैं। फिर उन्होंने भारत से विलुप्त हुई और श्रीलंका में सुरक्षित रही जातक-कथाएं, जो वहाँ की सिंहली भाषा में थी, उनको पुनरपि एक बार पालि भाषा में रूपान्तरित की। उन कथाओं को जातकट्ठकथाओं के नाम से, वे भारत में वापस ले आते हैं। इसके अलावा, इसी गुप्तकाल में, कुमार गुप्त ने भी बौद्धों के लिए नालन्दा विश्वविद्यालय बनवाया। इसका ग्रन्थभण्डार तीन मंजिलों वाला था। जिसमें *रत्नरंजक, रत्नोदधि एवं रत्नसागर* नामक मंजिलों में अगणित हस्तलिखित ग्रन्थों को एकत्र किये गये थे। (दुर्भाग्यवशात्

ई.स. 1199 में बख्तियार खिलजी ने उसमें आग लगा दी। सारा ज्ञानराशि तीन महिनों तक जलता रहा।)।

हूणों के कारण गुप्तवंश अस्तंगतमहिमा होता चला था। विदेशी आक्रान्ताओं में कुषाण प्रजा भी थी, जो हूणों एवं शकों से पृथक् थी। कुषाण चीन की युची प्रजाति के लोग थे। उन्होंने यहाँ आ कर, **(झ) कुषाण वंश** की स्थापना की। किन्तु उन्होंने अपने मन में भारतीयता का रंग चढा लिया था। उसी वंश के राजा कनिष्क (ई.स. 127 से 150) ने बौद्धधर्म अपनाया तथा महासांघिक बौद्ध भिक्षुओं को मथुरा से लेकर काश्मीर, पुष्पपुर (आज का पेशावर) एवं गान्धार (अफघानी-स्तान) तक पश्चिमोत्तर प्रदेशों में बसाये। वहाँ त्रिपिटकों पर संस्कृत में "विभाषा"-टीका लिखी गई। एवं नागार्जुन यथा अश्वघोष की अध्यक्षता में बौद्ध भिक्षुओं की *चतुर्थ संगीति* भी उसने बुलाई। (कनिष्क के बाद, वशिष्क, हुविष्कादि आते हैं।) कनिष्क ने ही बौद्धधर्म को चीन में फैलाया था। इस कनिष्क के दरबार में पार्श्व, अश्वघोष, वसुमित्र, नागार्जुन, चरक जैसे कवि एवं विद्वानों को आश्रय मिला हुआ था। जैसे सम्राट् अशोक ने अपने लिए "देवानां प्रिय प्रियदर्शी" शब्दों का प्रयोग करवाया था उसी तरह, कनिष्क ने भी अपने शिलालेखों में स्वयं के लिए "राजातिराजा देवपुत्र कनिष्क" शब्दों का प्रयोग करवाया है। कनिष्क ने मगध जीत लिया और वहाँ के राजा से कवि अश्वघोष को अपने साथ गांधार ले आया। इसी अश्वघोषकवि ने भगवान् बुद्ध के धर्म एवं जीवन को लक्षित करते हुए अनेक कृतियाँ लिखी हैं। जैसे कि-1. सूत्रालंकार (तत्कालीन पालि जातक-कथाओं का संग्रह था)। कुमारजीव ने इसका ई.स. 405 में चीनी अनुवाद किया था।, 2. महायान-श्रद्धोत्पाद नाम का दार्शनिक ग्रन्थ, 3. वज्रसूची (जिसमें वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार किया गया है), 4. राष्ट्रपाल (डॉ. सिल्वाँ लेवी के मत से अश्वघोष की यह गेय नाट्यकृति है), 5. "बुद्धचरितम्" एवं 6. "सौंदरनन्द" जैसे महाकाव्य भी उन्होंने लिखे हैं। तथा 7. "शारिपुत्र-प्रकरणम्" जैसी नव अंकों की नाट्यकृति भी लिखी। शारिपुत्र-प्रकरणम् बहुत भारी खण्डित स्थिति में मिला है। तथा बुद्धचरित महाकाव्य के सर्ग 1 से 14 ही प्रकाशित हुए हैं। धर्मरक्ष, धर्मक्षेम या धर्माक्षर नामके भारतीय बौद्ध भिक्षु ने उसका ई.स. 414-421 में चीनी भाषान्तर कर दिया था। अतः भारत में तो बुद्धचरित के केवल 1 से 14 सर्ग ही प्रकाशित हुए हैं। किन्तु सर्ग 15 से 28 का उत्तरार्ध चीनी भाषा से अंग्रेजी, और उस अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी में हुआ अनुवाद आज मिलता है। इस बुद्धचरित का तिब्बती में हुआ पूरा अनुवाद अविकल रूप में उपलब्ध है, किन्तु उसका अभी तक संस्कृतानुवाद किसी विद्वान् ने नहीं किया है।। कनिष्क के निमित्त से चीन में फैले बौद्ध-धर्म से प्रभावित हो कर, (क) *फाहियान*

(चन्द्रगुप्त-2 के समय में आया था), (ख) *ह्यु-एन-त्संग*(सम्राट् हर्षवर्धन के समय में, ई.स. 650 में आया और 15 वर्ष यहाँ रहा।) और (ग) *इत्सिंग* (ई. स. 672-695 में नालन्दा में आया था।) जैसे तीन चीनी यात्री भारत में आये थे।।

[प्रॉफे. फर्ग्युसन, रायचौधरी, बेनर्जी जैसे विद्वानों का मानना है कि कनिष्क ने ही ई.स. 78 में "शक संवत्" को प्रवर्तित किया था अथवा उसको अपना लिया था। कुषाण साम्राज्य (ई.स. 109 में कनिष्क, ई.स. 102 से 106 तक वशिष्क, ई. स. 106 से 137 तक हुविष्क तथा ई.स. की दूसरी शती तक वासुदेव) के पश्चात् भी उत्तरी भारत में शक-संवत् प्रचलन में बना रहा था। क्योंकि कनिष्कादि ने अपने अधीनस्थ प्रदेशों में जिन क्षत्रपों, (=प्रांतपति), महाक्षत्रपों को नियुक्त किये थे उन्होंने उसी शक-संवत् को ही चालु रखा। (कालान्तर में भारत-सरकार ने भी स्वातन्त्र्य के बाद, इसी शक-संवत् को राष्ट्रिय संवत् के रूप में घोषित किया है।।)]

यद्यपि सम्राट् अशोक ने तो अपने साम्राज्य में नाटकादि खेलने के लिए "समाज" को एकत्रित नहीं करना ऐसी राजाज्ञा गिरनारादि के अभिलेखों में उत्कीर्ण करवाई थी। जिसके कारण उसके काल में बुद्ध-विषयक नाटकों की रचना होना सम्भवित नहीं था। तत्पश्चात् पुष्यमित्र ने बौद्ध-धर्म को भारी हानि पहुँचा कर, ब्राह्मण-धर्म का उत्थान किया, तो उसके प्रभाव में भी बुद्ध-विषयक नाटक लिखने की चेष्टा कोई कवि नहीं करेगा-यह तुरंत समझ में आता है। तथापि इतना स्पष्ट है कि कनिष्क के समय में महायान का उदय हुआ और बुद्ध की मूर्ति-पूजा शुरू हुई। इस तरह से, कुषाण काल के कनिष्क ने ही भारत के धर्म, संस्कृति और मूर्तिकला आदि पर अमिट प्रभाव डाला है। कनिष्क के प्रपौत्र ने शिवधर्म अपनाया और अपने सिक्कों पर शिव तथा नंदी के चिह्न अंकित करवाये।

बुद्ध की मूर्तियों में तीन शैलियाँः-

यद्यपि मौर्य वंशीय सम्राट् अशोक के समय में मूर्तिकला विकसित हो चुकी थी। लेकिन अशोक स्थविर-वादी (हीनयानी) भिक्षुओं को मानने वाले थे। थेरवादी बुद्ध की पार्थिवकाया ढल जाने के बाद, मुख्य रूप से बुद्ध के स्तूप, बोधिवृक्ष एवं धर्मचक्र के चिह्नों की मूर्तियाँ बनवाते थे तथा उन प्रतीकों की पूजा करते थे। किन्तु भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में, कनिष्क के प्रोत्साहन के कारण ही तक्षशिला की ओर शिल्प-कलाका विशिष्ट विकास हुआ। कुषाण काल में द्विविध मूर्ति-कलाएं विकसित हुईः-1. "गान्धार शैली" एवं 2. "मथुरा शैली"। **"गान्धार शैली"** का केन्द्र तक्षशिला के पास आया पुरुषपुर (पेशावर) था।

गान्धार शैली में ग्रीक (यूनानी) प्रभाव देखा जाता है और उसमें बुद्ध की जो मूर्तियाँ बनाई गई हैं उनमें विशेष करके, घुंघराले बाल वाला मस्तक, उसके पीछे तेजोमय मण्डल, बलिष्ठ शरीर, पद्मासनस्थ एवं खडे,सरवटें वाला उत्तरीय वस्त्र, बताया जाता है। ऐसी मूर्तियाँ पहले तो मिट्टी की, या चूना के प्लास्टर से बनवाई जाती थी। बाद में, नीले या काले पत्थर से निर्मित की गई हैं। गान्धार शैली में केवल बुद्ध धर्म से सम्बद्ध बोधिसत्त्व की ही मूर्तियाँ बनाई जाती थी। (अफघानिस्तान के कंधार प्रदेश में बामियान की खडे बुद्ध की विशाल मूर्ति को, 2001 में, तालिबानियों ने तोड कर, विश्व-धरोहर की अपूरणीय क्षति की है।)

दूसरी **मथुरा शैली** की मूर्तिकला में भारहूत एवं सांची की कला का मिश्रण है। यह पूर्ण रूप से भारतीय शैली मानी गई है। श्रीवासुदेव शरण अग्रवाल जी का मत है कि बुद्ध की पहली मूर्ति मथुरा शैली में ही बनी थी। इसमें तीनों धर्म (बौद्ध, जैन एवं हिन्दू) की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। बुद्ध की मूर्तियों में, मथुरा शैली का जो वैशिष्ट्य देखा जाता है वह बिना बाल वाले यानी मुण्डित मस्तक वाले बुद्ध है, केवल वाम स्कन्ध पर उत्तरीय वस्त्र है, कुछ नग्न मूर्तियाँ भी मिलती हैं, अभय मुद्रा वाला उपर उठाया हाथ हुआ है। चित्तिदार लाल पत्थर पर ये मूर्तियाँ बनाई गई हैं। जैन धर्म के महावीर स्वामी तथा हिन्दू धर्म की यक्ष-यक्षिणी बनाई जाती थी। साथ साथ में, सुडोल शरीरसौष्ठव वाली एवं अलंकारों से शृङ्गार की हुई स्त्रियाँ भी बनाई गई हैं। विद्वानों का कहना है कि कुषाण काल की मूर्तियों में पूतले बनाये गये थे, (जो भावहीन लगते हैं), किन्तु मथुरा शैली की मूर्तियों में ही भाववाहिता उभर कर सामने आती है।।

3. **"अमरावती शैली"** का उद्भव सातवाहन राजा के समय में आन्ध्र-प्रदेश के नागार्जुन कोण्डा, जग्गयपेठ तथा महाराष्ट्र में हुआ था। इस तीसरी शैली की मूर्तियों में एकल मूर्ति का अभाव है। क्योंकि इस में जातक-कथाओं का शिल्पांकन होने से एक साथ में अनेक मूर्तियाँ की पंक्ति (दृश्यावली) देखने को मिलती है। जिसमें संगेमरमर पत्थर का विनियोग हुआ है। यहाँ बुद्ध की मूर्तियों के साथ साथ अलंकृत स्तूप, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, बुद्ध का महापरिनिर्वाणादि भी शिल्पांकित किये गये हैं। इस शैली का प्रसार श्रीलंका से लेकर दक्षिण-एशिया के देशों में भी हुआ है। इति दिक्।।

बुद्ध से एवं उनके धर्मोपदेश से जुडे ऐतिहासिक स्थानः--

सुत्त-पिटक के दीग्घ-निकाय के महावग्ग में महापरिनिर्वाण सुत्त में स्वयं तथागत ने बौद्धानुयायिओं के लिए उनके जीवन से जुडे चार स्थान दर्शनीय (तीर्थयात्रा के) स्थान है-ऐसा कहा है। *"आनन्द, श्रद्धालु कुलपुत्रों के लिए यह*

चार स्थान दर्शनीय है, सवेजनीय (वैराग्यप्रद) है:-जहाँ तथागत उत्पन्न हुए (लुम्बिनी), जहाँ तथागत ने अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त किया (बोधगया), जहाँ तथागत ने अनुत्तर (=सर्वश्रेष्ठ) धर्मचक्र का प्रवर्तन किया (सारनाथ)। जहाँ तथागत अनुपादि-शेष निर्वाण धातु को प्राप्त हुए (कुशीनारा)"।

(क) लुम्बिनी- इस स्थान पर राजा शुद्धोदन के पुत्र के रूप में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। वर्तमान में नेपाल देश के रुम्मनदेई नाम के नगर को प्राचीन समय में "लुम्बिनी" कहा जाता है। यहाँ पर, सिद्धार्थ यानी बुद्ध के जन्म को प्रदर्शित करती हुई एक प्रतिमा रखी गई है। यहाँ पर, सम्राट् अशोक अपने राज्यारोहण के बीसवें वर्ष में आया था और वहाँ एक स्तम्भ खडा करके, उसको ब्राह्मीलिपि में उत्कीर्ण करवाया है। इस स्थान में चारों ओर अनेक विहारों के खण्डहर भी मौजुद है।

(ख) बोधगया- वर्तमान में बिहार राज्य के गया शहर से, दक्षिण में छः मील दूर यह बोधगया नामका स्थान है, जहाँ भगवान् बुद्ध को संबोधि की (बुद्धत्व की) प्राप्ति हुई थी। जिस अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे उनको संबोधि प्राप्त हुई थी, उस वृक्ष को "बोधिवृक्ष" कहते हैं। तथा वह पुण्यशाली वृक्ष आज भी जीवन्त है। यहाँ पर सम्राट् अशोक ने बनवाया हुआ 160 फुट ऊँचा महाबोधि मन्दिर भी है। वहाँ बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा भी स्थापित है और जिस शिला पर बैठ कर, उनको ज्ञान हुआ था वह शिला भी है। इसको वज्रासन कहते हैं। वहाँ एक स्मारक-संग्रहालय भी है। वहाँ के शिलालेख से मालूम होता है कि सम्राट् अशोक ने इस स्थान की भी यात्रा की थी।

(ग) ऋषिपत्तन में आया मृगदव यानी सारनाथ- भगवान् बुद्ध ने बोधगया में संबोधि प्राप्त करने के बाद, अपने पुराने पंच वर्गीय भिक्षुओं के पास जाकर, प्रथम बार "मृगदव ऋषिपत्तन" में धर्मोपदेश किया, जिसको "धर्मचक्र-प्रवर्तन" कहते हैं। वर्तमान में यह स्थान, वाराणसी से दश किलोमीटर दूर आया हुआ है, जो "सारनाथ" के नाम से जाना जाता है। तथा वहाँ पर धम्मेक नाम का विशाल परिधि वाला और 150 फुट ऊँचा प्राचीन स्तूप है, जिसमें भगवान् बुद्ध की अस्थियाँ गाडी गई है। उसी के परिसर में, ऊँचे स्तम्भ पर चौमुखी सिंहाकृति वाला अशोक-स्तम्भ खडा किया था। यद्यपि वह खण्डित है, लेकिन उस पर ब्राह्मीलिपि में उत्कीर्ण लेख सुवाच्य है। (जो हमारी राष्ट्रमुद्रा के रूप में स्वीकृत है। यह सिंहाकृति स्तूप के समीप में आये राष्ट्रिय संग्रहालय में सुरक्षित रखी गई है।)

(घ) कुशीनारा (कुशीनगर)- वर्तमान में उत्तरप्रदेश के गोरखपुर के

पास यह कुशीनगर आया हुआ है। यहाँ पर, भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था। बुद्ध को एक सामान्य व्यक्ति ने मांस का रस भिक्षान्न में दिया, जो वीतयाम था। इससे बुद्ध का स्वास्थ्य लडखडा गया। अब अपना अन्त काल नजदीक है ऐसा जान कर, वे दो शाल वृक्षों के बीच में जा कर लेट गये। उस समय आनन्द नाम का शिष्य बुद्ध के पास में था। गुप्तवंशीय राजाओं ने इस स्थान पर एक विशाल चैत्य बनवाया। कुशीनारा में इस चैत्य के आसपास अनेक विहारों के खण्डहर आज भी दिखाई रहे हैं। इसके समीप में रामभार नाम का टीला है, जिस पर बुद्ध के पार्थिव शरीर का दाहकर्म किया गया था। बुद्ध ने जिन जिन प्रदेशों में घूम कर,धर्मोपदेश किया था उन उन राज्यों के आठ राजाओं ने एकत्र हो कर, उन अस्थियों का आठ भाग में बटवारा किया और अपने अपने प्रदेश में ले जाकर उन पर बडे बडे स्तूप बनवाये थे। (कालान्तर में, सम्राट् अशोक ने इन आठ स्तूपों को खुलवाया और उन अस्थियों का हजार भाग में बटवारा किया, तथा अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न स्थानों पर उतने स्तूपों का निर्माण करवाया।)

(ङ) सावत्थी (श्रावस्ती नगरी):- बुद्ध के समकाल में भारत के समृद्ध नगरों में से एक श्रावस्ती था। आज उत्तरप्रदेश के कुशीनारा से उत्तर पश्चिम दिशा में 150 किलोमीटर दूर, सहेट-महेट नाम के ग्राम से जाना जाता है। इसी नगर के श्रेष्ठी अनाथपिण्डक ने जेत राजकुमार से एक उद्यान को सुवर्ण-मुद्राओं से आच्छादित करके खरीद लिया था। तथा वहाँ 10,000 बौद्ध भिक्खुओं के साथ भगवान् बुद्ध रह सके ऐसा अतिविशाल विहार बनावा कर, बुद्ध को भेंट किया था। यह जेतवन विहार नाम से पिटकों में अनेकत्र उल्लिखित है। इस विहार में लगभग 25 वर्षावास किया था। आज वहाँ उस विहार की नींव की इंटों के अवशेष उपलब्ध हो रहे हैं।

(च) राजगृह (राजगह):- बिहार राज्य में यह स्थान आया हुआ है। प्राचीन मगध राज्य की राजधानी राजगह के नाम से उल्लिखित है। शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु का त्याग करके, सब से पहले इसी राजगृह की पाण्डव-पहाडियों में निवास शुरू किया था। तथा वहाँ का राजा बिम्बिसार सिद्धार्थ को मिलने के लिए आया था। कालान्तर में, इसी बिम्बिसार ने वेणुवन नामका उद्यान भगवान् बुद्ध को भेट किया था। यह स्थान बुद्ध को एकान्तवास के लिए सविशेष प्रिय था। इस राजगृह के समीप ही गृध्रकूट पर्वत भी है, जहाँ पर देवदत्त ने भगवान् बुद्ध की हत्या करने के आशय से, पर्वत की एक चट्टान को नीचे चंक्रमण कर रहे बुद्ध पर गिराई थी। इस राजगृह के बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु था, जिसको बहेका कर, देवदत्त ने किसी हत्यारे को लालच दे कर, बुद्ध का वध करने के लिए भेजा था। किन्तु वही अजातशत्रु ने, बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद,

अपने राजगृह में, महाकाश्यप की अध्यक्षता में प्रथम संगीति का अनुमोदन किया था।

(छ) वैशाली:- वर्तमान बिहार राज्य के मुजफ्फुरपुर जिले में बसाढ के नाम से जाना जाता है। यह स्थान लिच्छवी राजाओं की राजधानी था और धर्म का प्रमुख केन्द्र था। यहीं पर खडे रह कर, बुद्ध ने अपना परिनिर्वाण नजदीक में है-ऐसी घोषणा की थी। बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् त्रिपिटकों की दूसरी संगीति इसी स्थान पर हुई थी। (यहीं पर, भिक्खु यश ने धनमुद्रा का दान लेने वाले अन्य भिक्खुओं का विरोध किया था, जिसके कारण ही महायान और हीनयान जैसे दो अलग मार्गों का बीज-निक्षेप हुआ।)

(ज) सांची:- सम्राट् अशोक के शासन काल में, मध्यप्रदेश के राईसन जिले में है, और भोपाल से उत्तर-पूर्व दिशा में 46 किलोमीटर दूर सांची का स्तूप आया हुआ है। जो अशोक ने ईसा पूर्व तीसरी शती में बनवाया था। उसके परिसर में ही अन्य छोटे छोटे स्तूप भी है, जिनमें बुद्ध के प्रधान शिष्य, शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन की अस्थियाँ स्थापित की गई है। प्रधान स्तूप के चारों दिशा में चार तोरण द्वार है, जिन पर बौद्ध जातक-कथाओं के आधार पर शिल्पांकन किया गया है। यह स्थान हीनयानीओं का होने से, बुद्ध की मूर्ति वहां पत्थर पर नहीं बनाई है। किन्तु हीनयानीओं को मान्य ऐसे बुद्ध-धर्म के तीन प्रतीकों का, जैसे कि-1. बोधिवृक्ष, 2. धर्मचक्र-प्रवर्तन एवं 3. चैत्य का अनेकत्र शिल्पांकन किया गया है। [यह सांची नगर, मध्यप्रदेश के सागर की ओर जाते हुए वैशाली शहर से भी पास में पडता है। इस वैशाली नगर का सम्बन्ध सम्राट् अशोक के साथ है। इस वैशालीनगर के किसी श्रेष्ठी की पुत्री के साथ अशोक का विवाह हुआ था और उनके पुत्र-पुत्री ही महेन्द्र एवं संघमित्रा थे।]

(झ) नालन्दा:- बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद, बिहार में आये नालन्दा शहर का विहार सुप्रसिद्ध है। भगवान् बुद्ध यहाँ पर अनेक बार आये थे। यहाँ के अनेक विहार सम्राट् अशोक ने बनवाये थे। यहाँ हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तीन मंझिल वाले ग्रन्थालय में रखी गई थी। जिसकी ख्याति को सुनकर अनेक चीनी यात्री यहाँ अध्ययन के लिए आये थे। दुर्भाग्यवशात् विधर्मी बक्खतियार खिलजी ने उसको ई.स. 1235 में जला दिया। यहाँ के संग्राहलय में अनेक बुद्ध-मूर्तियाँ आदि, जो खुदाई से प्राप्त है, उनको रखे गये हैं।।

--00--

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. **चरिया-पिटक**, अनु. भिक्षु धर्मरक्षित, प्रका. मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स, बनारस, 1954
2. **जातक कथा।**, (प्रथम खण्ड से षष्ठ खण्ड), सं. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1946, (चतुर्थ संस्करण)
3. **जातकट्ठकथा।** (बुद्धघोसाचरिय-विरचिता), सं. प्रॉ. लक्ष्मीनारायण तिवारी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, वाराणसी, 1992
4. **जातकमाला।** अनु. डॉ. सूर्य प्रकाशव्यास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1994.
5. **जातक-माला-एक अध्ययन।** डॉ. कमलाकान्त मिश्र, गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, प्रयाग, 1977
6. **तिपिटक में सम्यक् संबुद्ध।** (भाग 1 एवं 2) सं. सत्यनारायण गोयन्का, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, (नाशिक, महाराष्ट्र), 1995-2002.
7. **थेरीगाथा-अट्ठकथा।** (खुद्दकनिकाये परमत्थदीपनी टीका), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, महाराष्ट्र, 1998
8. **धम्मपद।** लेखक-भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1977
9. **ध्वन्यालोकः।**, सं. आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1985
10. **पारस्कर-गृह्यसूत्र।** सं. वेणी राम शर्मा गौड, चौखम्भा ओरिएन्टालिया, वाराणसी, 2001
11. **पालि साहित्य का इतिहास**, लेखक-भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1951
12. **बुद्धचरितम्।** (अश्वघोष-विरचितम्), सम्पादक एवं अनुवादक-सूर्यनारायण चौधरी, (तृतीय संस्करण), प्रकाशक-संस्कृत भवन, कठोतिया, जिला-पूर्णिया, (बिहार), 1955
13. **बुद्ध धर्मनी पायानी विभावना।** मूल लेखक-विधुशेखर भट्टाचार्य, अनु. नगीनदास जे. शाह, एल. डी. इन्डोलॉजी, अहमदावाद, 1977

14. **बोधिसत्त्वः।** (धम्मानन्दकोसम्बि-प्रणीतम्), मूल मराठी का संस्कृतानुवादः, अनु. प्रफुल गडपालः, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2014

15. **बोधिसत्त्व।** (धर्मानन्द कोसम्बी के मराठी का हिन्दी अनुवाद), अनु. कस्तूरमल बांठिया तथा जमनालाल जैन, केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, सारनाथ, 2001

16. **बौद्ध-संस्कृति।**, राहुल सांकृत्यायन, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता-7, 1952

17. **भगवान बुद्ध।**, आर. एस. रमन, निधि बुक सेन्टर, दिल्ही, 1912

18. **भारतीय नाट्य-सिद्धान्तः उद्भव और विकास**, रामजी पाण्डेय, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1982

19. **भारतीय नाट्य स्वरूप और परंपरा**, प्रॉफे. श्री राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर युनिवर्सिटी, सागर, 1988

20. **मज्झिम-निकाय**, अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1935

21. **मुंडकोपनिषत्।** (उपनिषद्-अङ्क), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2055, चतुर्थ संस्करण

22. **यूँ ही कोई बुद्ध नहीं बनता।** लेखक-डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, उज्जयिनी, 2020

23. **विनय पिटक (हिन्दी अनुवाद)**, श्रीराहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1935

24. **ललितविस्तर।** सं. शान्तिभिक्षु शास्त्री, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2 संस्करण, 1992

25. **सद्धर्मपुण्डरीक।** (मूल एवं अनुवाद सहित), सं. राममोहन दास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण-2001

26. **सुत्तनिपात-अट्ठकथा।** (खुद्दकनिकाये परमत्थजोतिका टीका), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, महाराष्ट्र, 1998

27. As'oka, (The Garmichael Lectures, 1928), by Prof. D. R. Bhanadarkar, fourth edition, University of Calcutta, 1969

28. As'vaghosha: A Critical Study, B. Bhattacharya, Vishva Bharati, Santiniketan, 1976

29. Candragomins Lokananda Nach den Tibetischen Tanjur herausgegeben and ubersetzt. Ein Beitrag zur klassischen indischen Schauspieldichtung, Von Michael Hahn, Weiesbaden, 1974.

30. Candragomin and the Bodhisattava Vow, by Mark Joseph Tatz, University of Washington, 1972.

31. Dharmanand Kosambi : The Essential Writtings, by Meera Kosambi, Pub. Permanent black, Ranikhet. (उत्तराखण्ड 263645), year-2017 (इसमें "बोधिसत्त्व" मराठी नाटक का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है।)

32. Historical and Literary Inscriptions, Ed. Raj Bali Pandeya, Chaukhambha Sanskrit Series Office, Varanasi, 1962

33. Manicudavadan-TheAnnotated Translation, by Yuan Ren, McMASTER Univ., Hamilton, Ontario, 1998

34. Pali _ English Dictionary, Ed. T.W. Rhys Devios & William Stede, Part-1, Pub. Pali Text Society, London, 1921, 1949, 1952.

35. Some Remarks Concerning an edition of the Tibetan translation of the drama : Lokananda by Candragomin, by Michael Hahn, Indo-Iranian Journal, on-line journal publication : 01-01-1971, pp. 104 to 112.

36. The Aadi-Buddha, Kanai Lal Hazra, Buddhist World Press, Delhi, 2018

37. The Majjhima Nikaya, (1, Mula Pannasakam), Ed. P. V. Bapat, General Ed. Bhikkhu J. Kashyap, Pali Publication Board, Bihar Govt. 1958

38. The Play Lokananda by Candragomin, by Prof. Michael Hahn, (Prajnaloka Version), Vol. 1, (no. 3-4), Pub. Nagarjuna Buddhist Foundation, Gorakhapur, 1979.

39. The Play Lokananda by Candragomin, by Prof. Michael Hahn, pub. Kailash, Kathamandu, pp. 51-67

40. Uttankita Sanskrit Vidya Aranya Epigraphs, Vol-2 (257 BC to 320AD), Ed. K. G. Krishnan, Uttankita Vidya Aranya Trust, Mysore, 1989

41. Vinaya-Pitake Pali, (in Roman script), Published by Vipassana Research Institute, www.tipitaka.org

42. **धम्मपद।** (गुजराती भाषा में), (मूल पालि पाठ, अनुवाद, टिप्पणी, प्रस्तावना वगेरे साथे), अनु. धर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, 1923, द्वितीय पुनर्मुद्रण-2014

43. **बुद्धचरित।** (गुजराती भाषा में), लेखक-धर्मानन्द कौसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, 1998

44. **बुद्धलीला।** (मूल मराठी में लिखे "बुद्धलीलासारसंग्रह" 1914 का गुजराती अनुवाद), अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, पंचम आवृत्ति, 2017

45. **बौद्धसंघनो परिचय** (अर्थात्-विनय पिटक), (गुजराती भाषा में), श्रीधर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, 1925, पुनर्मुद्रण-1988

46. **भगवान बुद्ध ना पचास धर्मसंवाद** (अर्थात्-मज्झिमनिकाय-मूलपण्णासकं), गुजराती भाषा में अनु. श्रीधर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, पुनर्मुद्रण-2010

47. **सुत्तनिपात** (मूलपालिपाठ, अने गुजराती अनुवाद), (गुजराती भाषा में), श्रीधर्मानन्द कोसम्बी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, 1995.

जिज्ञासुओं के लिए विशेष वाचन-सामग्रीः-

48. **बौद्ध-धर्मः एक बुद्धिवादी अध्ययन।** ले. भदन्त आनन्द कौशल्यायन, बुद्धभूमि प्रकाशन, नागपुर

49. **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास।** ले. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

50. **बौद्ध संस्कृति का इतिहास।** ले. डॉ. भागचन्द जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर

51. **भगवान् बुद्ध और उनका धम्म।** ले. बाबासाहेब भीमराव आम्बेडकर, (अनु.) भदन्त आनन्द कौशल्यायन, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली

52. **भगवान् बुद्धः जीवन और दर्शन।** लेखक-धर्मानन्द कोसम्बी, लोकभारती प्रकाशन, प्रयाग, 2005, (साहित्य अकादमी, दिल्ली के लिए)

53. **समग्र बौद्धपालिसाहित्यः**-www.tipitaka.org (ओन-लाईन तिपिटक एवं तत्सम्बद्ध सभी ग्रन्थ)

-- 00 --

लेखक परिचय

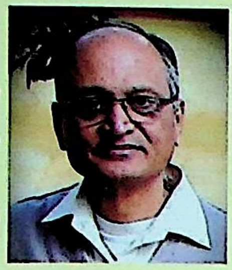

वसन्तकुमार म. भट्ट आचार्य एवं अध्यक्ष (सेवा-निवृत्त), स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, निदेशक, भाषा-साहित्य भवन, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदावाद। (जन्म 21 फरवरी, 1953) पाणिनीय व्याकरण, वेद-निरुक्त, पाण्डुलिपि-विज्ञान एवं नाट्य साहित्य में विशेष रुचि रखते हैं। 1. पाणिनीय व्याकरण विमर्श, 2. संस्कृत वाक्य संरचना, 3. लघुसिद्धान्त-कौमुदी, 4. ऋग्वेद के सप्तम एवं दशम मण्डल के सूक्तों का गुजराती अनुवाद, 5. कारक-प्रकरण, 6. कालिदास काव्यावलोकन (क्या मौलिक, क्या नवीन), 7. वेद-व्याकरण-पुराणेषु विशेषार्थावबोधः, 8. अभिज्ञान-शाकुन्तल का पाठ-परामर्श, 9. अभिज्ञानशकुन्तल (बंगाली पाठ) पर चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की सन्दर्भ-दीपिका टीका का समीक्षित पाठ-सम्पादन, 10. अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की काश्मीरी वाचना का (भूर्जपत्रोपरिलिखित शारदा पाण्डुलिपियों के आधार पर) समीक्षित पाठ- सम्पादन, 11. अभिज्ञानशकुन्तला नाटकस्य पञ्च रङ्गावृत्तयः। 12. पाण्डुलिपि एवं समीक्षित पाठ-सम्पादन (प्रकाशनाधीन)। जैसे 45 ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। तथा 150 से अधिक शोध-आलेखों का विभिन्न सामयिकों में प्रकाशन किया है। सम्मान एवं स्वर्णपदकादिः- (क) स्वामी भगवदाचार्य जन्मशताब्दी स्वर्ण-पदक, मोहनलाल शुक्ल व्याकरण स्वर्ण-पदक, प्रो. के.जी. नायक संशोधन स्वर्ण-पदक, भारत के महामहिम राष्ट्रपतिश्री द्वारा "सर्टिफिकेट ऑफ ऑनर" (2018), वेद-शास्त्र-पारंगत पण्डित (गुजरात संस्कृत साहित्य अकादमी, गांधीनगर), महाकवि कालिदास संस्कृत-व्रती राष्ट्रिय पुरस्कार से पुरस्कृत (महाकवि कालिदास संस्कृत युनिवर्सिटी, रामटेक इत्यादि। 35 वर्ष पर्यन्त स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन किया एवं 21 छात्रों को पी-एच. डी. के लिए मार्गदर्शन दिया। वर्तमान में, अभिज्ञाशाकुन्तल की देवनागरी वाचना के बृहत्पाठ का समीक्षित पाठ-सम्पादन (शताधिक पाण्डुलिपिओं से) कार्य प्रगति पर है।

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
संसदः अधिनियमेन स्थापितः
भारतसर्वकारस्य शिक्षामन्त्रालयाधीनः
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नवदेहली-110058
दूरभाष : 011-28524993, 28521994, 28520977
Email : res-pub@csu.co.in website : www.sanskrit.nic.in